ओंतत्सत् ।

श्रीधर्मकल्पद्रुम ।

सप्तम खण्ड ।



श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

भारतधर्ममहामण्डलके शास्त्रप्रकाशन-
विभागद्वारा प्रकाशित ।

काशी ।

द्वितीय संस्करण ।

मूल्य दस रुपया

ओंतत्सत् ।

श्रीधर्मकल्पद्रुम ।

सप्तम खण्ड ।



श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

भारतधर्ममहामण्डलके शास्त्रप्रकाशन-
विभागद्वारा प्रकाशित ।

काशी ।

द्वितीय संस्करण ।

मूल्य दस रुपया

सप्तम खण्डसम्बन्धीय विज्ञापन

श्रीश्रीविश्वनाथकी अपार कृपासे श्रीधर्मकल्पद्रुम सप्तम खण्डका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ।

इस खण्डमें पढ़नेयोग्य गम्भीर तथा आवश्यक विषय बहुत हैं। पश्चिम देशमें परलोकके तथा चतुर्दशलोकोंके विषयमें गवेषणापरायण विद्वानोंकी जिज्ञासा बलवती देखकर प्रथम दो अध्यायोंमें प्राच्य प्रतीच्य मत-विन्यासके साथ इन रहस्यपूर्ण विषयोंपर प्रचुर विचार किया गया है। तदनन्तर नित्य नैमित्तिक कर्म वर्णनप्रसङ्गमें दैनन्दिन आचार, भक्ष्याभक्ष्य, स्पृश्यास्पृश्यादि अनेक विषयोंपर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। श्राद्ध, तर्पण, पञ्च-महायज्ञ, सन्ध्या, गायत्री, प्रणव इन सभी विषयोंका गूढ़रहस्यपूर्ण गम्भीर तत्त्व सप्रमाण, सयौक्तिक बताकर इन सबकी पृथक् पृथक् क्रियाविधियोंकाभी निर्देश किया गया है और सोलह संस्कारोंमेंसे प्रत्येक संस्कारका विज्ञान तथा क्रिया-कलाप बताकर वैदिक संस्कारानुसार क्रियाके प्रचारकी सुविधाकर दी गयी है। इस प्रकारसे यह खण्ड अति आवश्यक, विशेषतः गृहस्थाश्रमके उपयोगी विषयोंसे पूर्ण कलेवर बन गया है।

इन सात खण्डोंमें तथा सप्तकाण्डोंमें 'कल्पद्रुम' नामकी कितनी सार्थकता हुई है, इसका विचार हम सहृदय पाठकवर्गपर ही छोड़ते हैं। अब इसके अष्टम खण्ड तथा अष्टमकाण्डमें केवल प्रकीर्ण अर्थात् इन खण्डोंमें छूटे हुए विषय हैं और यह खण्ड इसी कारण बृहदाकार नहीं हुआ है।

पत्रपुष्पफलपूर्ण शाखासमन्वित यह 'कल्पद्रुम' संसार-दुःखसे दुःखित जनोंके खेदापनोदनमें यदि किञ्चिन्मात्रभी सफल होगा तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा। इति शम्।

काशीधाम
अक्षय तृतीया
सम्वत् २०३२

प्रकाशक

सप्तम खण्डकी विषय-सूची।

षष्ठ काण्ड।

सप्तम काण्ड

ओ३म् तत्सत्

श्रीधर्म्मकल्पद्रुम

सप्तम खण्ड

षष्ठ काण्ड

चतुर्दशलोक समीक्षा

मनुष्यपश्वादि जीवजन्तुओंसे पूर्ण यह पृथिवी ग्रह तथा ज्योतिःकेन्द्र-स्वरूप सूर्यकेद्वारा प्रकाशमान्, नाना जीवोंसे सुशोभित मङ्गल, बुध, वृहस्पति, शुक्रादि ग्रह और चन्द्रादि उपग्रह समूहोंकी समष्टि ही चतुर्दशलोक नामसे आर्यशास्त्रमें विख्यात है, अथवा स्थूल जीवोंके अतिरिक्त देवशरीरधारी देवजीवोंसे व्याप्त, स्थूल ग्रहोंके अतिरिक्त अतीन्द्रिय सूक्ष्मोपादानसे निर्मित सूक्ष्म लोकोंको ही चतुर्दश लोक या चतुर्दश भुवन कहते हैं, अथवा स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकारके जीव तथा लोकोंकी ही चतुर्दश लोक संज्ञा की गयी है, इस विषयमें अनेक प्रकारके मतभेद तथा वादानुवाद देखनेमें आते हैं और श्रीमद्भागवत, देवीभागवत, मार्कण्डेयपुराण आदि पुराणग्रंथोंमें जम्बु प्लक्ष आदि द्वीप, भूर्भुवः स्वरादि उर्द्ध्व लोक तथा अतलवितलादि अधोलोकोंके ऐसे अनेक विचित्र वर्णन देखनेमें आते हैं, जिनका वर्त्तमान भौगोलिक वर्णनोंके साथ कुछ भी सामञ्जस्य नहीं पाया जाता। इस लिये प्रकृत प्रबन्धमें चतुर्दश लोकोंपर समीक्षा करते हुए ऊपर कथित परस्पर विरुद्ध-रूपसे प्रतीयमान नाना प्रकारके वर्णनवैचित्र्यका समाधान तथा सामञ्जस्य विधान किया जायगा।

आर्यशास्त्रका यह सिद्धान्त है कि, समस्त स्थूल पदार्थ उसके सूक्ष्म प्रतीकके ही परिणाम तथा विकाशमात्र हैं। अतिसूक्ष्म कारण शरीरसे ही

सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है और स्थूलशरीर भी सूक्ष्मशरीरका विकाशमात्र है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंके मूलमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवात्माकी सत्ता है। अतः स्थूलके मूलमें सूक्ष्मके होनेसे आर्यशास्त्रमें सृष्टितत्त्वका सभी वर्णन स्थूल-सूक्ष्ममय देखनेमें आता है। दवजगत् स्थूलजगत्की अपेक्षा सूक्ष्म है, स्थूल-जगत्की समस्त क्रिया देवाधीन है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियोंने स्थूल मृत्युलोकके वर्णनके साथ सूक्ष्म दैवलोकोंका भी वर्णन किया है। चतुर्दश लोक इन्हीं स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकारके भुवनोंकी समष्टिसे बना हुआ है। इस लिये केवल सूक्ष्म लोकोंको या केवल स्थूल ग्रहोपग्रहोंको चतुर्दशलोक न कह कर स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकारके लोकोंका उसमें समावेश करना आर्यशास्त्र-सम्मत होगा। एक दृष्टान्तके द्वारा इस वैज्ञानिक तथ्यको समझ सकते हैं। भारतवर्षकी उत्तर सीमामें हिमालय पर्वत है। हिमालय पर्वत एक स्थूल वस्तु है। तथापि देवीको हिमालयदुहिता और हिमालयान्तर्गत कैलाश-शिखरको शिवका स्थान करके क्यों आर्यशास्त्रमें वर्णन देखनेमें आता है? स्थूलदृष्टिके द्वारा अन्वेषण करनेसे हिमालयमें न देवी ही मिलती है और न शिवजी ही मिलते हैं। इस प्रकारका वर्णन स्थूलजगत् तथा सूक्ष्मजगत्के वर्णन-समन्वयके सिवाय और कुछ भी नहीं है। ब्रह्मके सत्, चित्, आनन्द-रूपी त्रिविध सत्ताओंमेंसे विष्णुमें चित्सत्ता, ब्रह्मामें आनन्दसत्ता और शिवमें सत् सत्ताका प्राधान्य है। सत् सत्ताके साथ स्थूलविश्वका सम्बन्ध होनेसे स्थूल पृथिवीमें सर्वोच्च तथा सर्वप्रधान, सर्वरत्नगर्भस्थान हिमालयको ही सत् सत्ताके अधिनायक शिवका स्थान कहा गया है और सत्की स्त्री सती देवीको शिवगेहिनी तथा हिमालयदुहिता कहा गया है। यही कारण है कि, भारतवर्षके स्थूल भौगोलिक वर्णनोंके साथ महर्षियोंने देवतात्मा हिमालय तथा पार्वती और देवादिदेव महादेवके भी अधिदैव सम्बन्धका वर्णन किया है। यही कारण है कि, महर्षियोंने स्थूल वसुन्धराका वर्णन करते हुए भी असुरभाराक्रान्ता वसुमती देवीका करुणक्रन्दन तथा ब्रह्मादिकी शरण लेनेका भी वृत्तान्त बताया है। यही कारण है कि, स्थूल चन्द्रग्रहके वर्णनके साथ साथ आर्यशास्त्रमें मनोऽधिष्ठात्री चन्द्रदेवता तथा स्थूल सूर्यग्रहके वर्णनके साथ साथ बुद्ध्याधिष्ठात्री सूर्यदेवताका भी वर्णन देखनेमें आता है। अतः चतुर्दश भुवनोंके विषयमें आर्यशास्त्रमें जो कुछ वर्णन देखनेमें आते हैं उनको केवल स्थूल भौगोलिक दृष्टिसे देखनेपर कदापि तथ्यनिर्णय नहीं हो

सकेगा। स्थूलदृष्टि तथा अतीन्द्रिय दैवी दृष्टि दोनोंकी सहायता लेनेपर तभी पुराणादि वर्णित चतुर्दश लोकोंका रहस्य पूर्णपरिज्ञात हो सकेगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अब नीचे पृथिवी आदिके विषयमें कुछ पुराणोक्त वर्णन देकर भौगोलिक वर्णनोंके साथ उनका सामञ्जस्य किया जाता है।

श्रीमद्भागवतका पञ्चम स्कन्ध, देवीभागवतका अष्टम स्कन्ध, मार्कण्डेय पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें सप्तद्वीप सप्तसमुद्रमय विचित्र भुवनकोशके भूरिभूरि वर्णन देखनेमें आते हैं, जिनमेंसे कुछ वर्णन स्थूल पृथिव्यादि लोक सम्बन्धीय हैं और कुछ वर्णन पृथिव्यादिसे सम्बन्धयुक्त दैवलोक सम्बन्धीय हैं। तथा देवीभागवतमें :—

रथनेमिसमुत्थास्ते परिखाः सप्तसिन्धवः।
यत आसंस्ततः सप्त भुवो द्वीपा हि ते स्मृताः॥
जम्बुद्वीपः प्लक्षद्वीपः साल्मलीद्वीपसंज्ञकः।
कुशद्वीपः क्रौञ्चद्वीपः शाकद्वीपश्च पुष्करः॥
तेषां च परिमाणं तु द्विगुणं चोत्तरोत्तरम्।
समन्ततश्चोपक्लृप्तं बहिर्भागक्रमेण च॥
क्षारोदेक्षुरसोदौ च सुरोदश्च घृतोदकः।
क्षीरोदो दधिमण्डोदः शुद्धोदश्चेति ते स्मृताः॥

प्रियव्रत राजाके रथचक्राघात द्वारा जो खाई सात उत्पन्न हुई थीं, वे ही सप्तसिंधु बन गई और उसी सप्त समुद्रवेष्टित सप्तद्वीप भुवनकोशमें विद्यमान हैं, जिनके नाम जम्बु, प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर हैं। वे सप्त—द्वीप उत्तरोत्तर द्विगुणित परिमाणके हैं और क्रमशः सात समुद्रके द्वारा वेष्टित हैं, जिनके नाम लवणसमुद्र, इक्षुरससमुद्र, सुरासमुद्र, घृतसमुद्र, क्षीर-समुद्र, दधिसमुद्र और शुद्धजलसमुद्र हैं। जम्बुद्वीप लवणसमुद्रके द्वारा वेष्टिक है, प्लक्षद्वीप इक्षुरससमुद्रके द्वारा, शाल्मलीद्वीप सुरासमुद्र द्वारा, कुश-द्वीप घृतसमुद्र द्वारा, क्रौञ्चद्वीप क्षीरसमुद्र द्वारा, शाकद्वीप दधिसमुद्र द्वारा और पुष्करद्वीप जलसमुद्र द्वारा वेष्टित है, ऐसा प्रमाण देवीभागवतके उसी स्कन्धमें मिलता है। लवणसमुद्रवेष्टित जम्बुद्वीपके विषयमें देवीभागवत तथा श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि जम्बुद्वीपमें इलावृत्तवर्ष, कुरुवर्ष, हरिवर्ष

आदि नौ प्रकारके वर्ष हैं, उनमेंसे भारतवर्ष भी एक प्रधान वर्ष है। इन सब वर्णनोंसे प्रतीत होता है कि, जम्बुद्वीप ही पृथिवीस्थानीय है, क्योंकि लवण-समुद्रके द्वारा पृथिवी ही वेष्टित है और भारतवर्ष भी पृथिवीमें ही है। प्लक्ष, कुश, शाल्मली आदि द्वीपोंके जिस प्रकार वर्णन देखनेमें आते हैं, उससे देव-लोकोंके साथ उनका सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि उनमें वर्णित समुद्र नदी, वृक्ष, पर्वत तथा जीवसमूहका कोई भी प्रमाण प्रत्यक्ष भूगोल विद्या द्वारा सिद्ध नहीं होता है। और श्रीभगवान् वेदव्यासने भी योगदर्शन ग्रन्थमें लिखा है कि "सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः प्रतिवसन्ति" अर्थात् सातों द्वीपोंमें पुण्यात्मा देवतागण तथा मनुष्यगण निवास कहते हैं। जम्बुद्वीपमें भी जो नौ प्रकारके वर्षोंका वर्णन देखनेमें आता है, उनमेंसे भी भारतवर्षको छोड़ और सभी वर्ष देवलोकसे सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि श्रीमद्भागवतके वर्णनोंके द्वारा ऐसा ही उसके विषयमें सिद्धान्त स्थित होता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है :—

"तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्टवर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमस्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति। भारतेप्यस्मिन् वर्षे सरिच्छैलाः सन्ति बहवः। मलयोमैनाकस्त्रिकुटः सह्यो विन्ध्यो गोवर्द्धनो रैवतको नील इति चान्ये शतसहस्रशः शैलास्तेषां नितम्बप्रभवा नदा नद्यश्च संन्त्यसंख्याताः। एतासामपो भारत्यः प्रजा नामभिरेव पुनन्ती नामात्मना चोपस्पृशन्ति ताम्रपर्णी कावेरी तुङ्गभद्रा गोदावरी तापी नर्मदा चर्मण्वती महानदी मन्दाकिनी यमुना सरस्वती दृषद्वती गोमती सरयू शतद्रुश्चन्द्रभागावितस्ता इति महानद्यः। अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्धजन्मभिः शुक्ललोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्यमानुषनारकगतयो बह्व्य आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधीयन्ते यथा वर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति।"

जम्बुद्वीपान्तर्गत नौ वर्षोंमेंसे भारतवर्ष ही कर्मक्षेत्र है, बाकी आठ वर्ष भौमस्वर्ग कहलाते हैं, जिनमें स्वर्गवासिगण पुण्यशेष भोगके लिये निवास करते हैं। भारतवर्षमें नदी, पर्वत अनेक हैं यथा—मलय, मैनाक, त्रिकूट, सह्य, विन्ध्य, गोवर्धन, रैवतक आदि शत शत पर्वत हैं और ताम्रपर्णी, कावेरी, तुङ्गभद्रा, गोदावरी, तापी, नर्मदा, चर्मण्वती, महानदी, गङ्गा, यमुना, सरस्वती

दृषद्वती, गोमती, सरयू, शतद्रु, चन्द्रभागा, वितस्ता आदि असंख्य नदियाँ हैं। इसी भारतवर्षमें जन्मलाभ करके सात्त्विक राजसिक तथा तामसिक कर्मानुसार मनुष्योंको यथाक्रम दिव्यगति, मानुषगति और निरयगति प्राप्त होती है और पुण्यविपाकसे ज्ञान द्वारा अपवर्ग भी प्राप्त होता है। इन सब वर्णनोंसे वर्तमान भारतके साथ पुराणवर्णित भारतवर्षकी सम्पूर्ण एकता सिद्ध होती है और इसी विचारसे जम्बुद्वीपके साथ पृथिवीका भी सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। जम्बुद्वीपके विषयमें श्रीमद्भागवतमें और भी लिखा है। यथाः—

'जम्बुद्वीपस्य च राजन्नुपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशन्ति"

"तद्यथा स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्त्तनो रमणको मन्दहरिणः पाञ्चजन्यः सिंहलो लङ्केति।"

जम्बुद्वीपके अन्तर्गत आठ उपद्वीप भी हैं, उनके नाम स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्त्तन, रमणक, मन्दहरिण, पाञ्चजन्य, सिंहल और लङ्का हैं। इनमेंसे सिंहल और लङ्काके नाम तो अबतक भी वही हैं, शेषोंके नाम कालानुसार बदल दिये गये होंगे। अतः यह भी वर्णन प्रत्यक्ष भौगोलिक वर्णनोंके साथ ठीक ठीक मिलता है।

इलावृतादि वर्षोंके विषयमें देवीभागवतमें लिखा है—

यदुपस्पर्शिनो देवा योगैश्वर्याणि विन्दते।
देवोद्यानानि चत्वारि भवन्ति ललनासुखाः॥
नन्दनं चैत्ररथकं वैभ्राजं सर्वभद्रकम्।
येषु स्थित्वाऽमरगणा ललनायूथसंयुताः॥
उपदेवगणैर्गीतमहिमानो महाशयाः।
विहरन्ति स्वतन्त्रास्ते यथाकामं यथासुखम्॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है—

देवोद्यानानि च भवन्ति चत्वारि नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजकं सर्वतोभद्रमिति। येष्वमरपरिवृताः सह सुरललनाललामयूथपतय उपदेवगणैरुपगीयमानमहिमानः किल विहरन्ति।

इलावृतादि वर्षोंमें नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वभद्रक नामक चार देवोद्यान हैं। इनमें ऊपर कथित भौमस्वर्गवासी पुण्यशेषभोक्ता देवतागण

देवललनाओंके साथ सच्छन्द विहार करते हैं। उपदेवगण इनकी महिमा गान करते रहते हैं। अतः भारतवर्षके सिवाय और आठ वर्ष देवलोकसे सम्बन्ध रखते हैं, यह सिद्धान्त प्रमाणित हुआ। जम्बुद्वीपके साथ पृथिवीका किस प्रकार सम्बन्ध है, सो पहले ही बताया गया है। यही भुवनकोशान्तर्गत उपद्वीप, द्वीप तथा वर्षोंके साथ सूक्ष्मलोक तथा प्रत्यक्ष भूगोलसिद्ध पृथिवीग्रहका वर्णन-सामञ्जस्य है। अतः पर स्थूलसूक्ष्मलोकसमन्वित चतुर्दश भुवनोंका वर्णन क्रमशः नीचे किया जाता है।

आर्यशास्त्रमें ब्रह्माण्डमय विराट पुरुषका वर्णन करते समय उनके नाभि-देशसे ऊपरके अंशमें सात ऊर्द्ध लोक तथा नाभिसे निम्नदेशोंमें सात अधोलोकोंका स्थान बताया गया है। यथा श्रीशम्भुगीतामें—

मम ब्रह्माण्डरूपस्य विराड्देहस्य कल्पदाः।
लोकाः सप्तोर्द्ध्वगा नाभिमुपर्य्युपरि सन्त्यहो॥
अधोऽधः सप्त वर्त्तन्ते ध्रुवं नाभिञ्च संस्थिताः॥
अतः समष्टिरूपेऽस्मिन् ब्रह्माण्डे वै चतुर्दश।
भुवनानि प्रधानानि विद्यन्ते नात्र संशयः॥

ब्रह्माण्डरूपी विराट् शरीरके नाभि या कटिदेशसे ऊपर सात लोक और नीचे सात लोक इस प्रकारसे चतुर्दश लोकोंकी कल्पना की गयी है। श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धके पञ्चमाध्यायमें वर्णन है—

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्व्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कटचादिभिरधः सप्त सप्तोर्द्ध्वं जघनादिभिः॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥
ग्रीवायां जनलोकोऽस्य तपोलोकः स्तनद्वयात्।
मूर्द्धभिः सत्यलोकश्च ब्रह्मलोकः सनातनः॥
तत्कटयाञ्चातलं क्लृप्तमुरुभ्यां वितलं विभोः।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्याञ्च तलातलम्॥

महातलन्तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम् ।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान् ।।

सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपाद, सहस्रबाहु विराट पुरुषने अण्ड अर्थात् ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति की। मनीषिगण उनके कटिदेशसे अधोभागमें सप्त अधोलोक और जंघाके ऊद्र्ध्वभागमें सप्त ऊद्र्ध्वलोककी कल्पना करते हैं। भुर्लोक नाभिके आस पास है, भुवर्लोक नाभिसे ऊपरकी ओर है, हृदयदेशमें स्वर्लोक है, वक्षस्थलमें महर्लोक, गलेमें जनलोक, स्तनोंके ऊपर तपोलोक और मस्तकमें सत्यलोककी कल्पना की जाती है। इसी प्रकारसे कटिदेशमें अतललोक, उरुदेशमें वितललोक, जानुदेशमें सुतललोक, जंघाओंमें तलातललोक, गुल्फोंमें महातललोक, पांवमें रसातललोक और चरणतलमें पाताललोककी कल्पना की जाती है। अतः भूः भुवः, स्व, महः, जन, तप। और सत्य ये सात ऊद्र्ध्व लोक तथा अतल, वितल, सुतल, तलातल महातल, रसातल और पाताल ये सात अधोलोक इस प्रकारसे चतुर्दश लोक हुए। इनमेंसे भूर्लोकके अन्तर्गत चार लोक हैं यथा—मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरकलोक, और पितृलोक। प्रेतलोक, नरकलोक तथा पितृलोकके विषयमें 'परलोक समीक्षा' नामक आगामी अध्यायमें कहा जायगा। मृत्युलोक भूर्लोकका चतुर्थांश है, और चतुर्दश भुवनके एक चतुर्दशांशका भी एक चतुर्थांश है। इसीमें मनुष्यादि पाञ्चभौतिक स्थूलशरीरविशिष्ट जीवगण उत्पन्न होकर नरक, स्वर्ग, प्रेत, पितृ, देवता, आसुरादि भिन्न भिन्न लोकोंमें कर्मयोगके लिये जाया आया करते हैं और इसी प्रकार जीवोंका आवागमनचक्र बना रहता है। अतः निश्चय हुआ कि, चतुर्दश लोकोंमेंसे यह मृत्युलोक ही स्थूल है, बाकी सभी ऊद्र्ध्व तथा अधोलोक सूक्ष्म हैं। अब नीचे इन सब सूक्ष्म लोकोंकी स्थितिके विषयमें क्रमशः वर्णन किया जाता है।

सूक्ष्म लोकोंकी स्थिति स्थूल लोकोंकी तरह देशपरिच्छिन्न नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार पृथिवी आदि स्थूल लोकान्तर्गत ग्रहोंको स्थूल सीमा है और एककी सीमाके भीतर दूसरा नहीं रह सकता है, अतल, वितलादि अधोलोक तथा भुवः स्वरादि ऊद्र्ध्वलोकोंकी इस प्रकार स्थूल सीमा नहीं है। इनकी स्थिति केवल सूक्ष्मताके तारतम्यानुसार ही है और इस कारण एक अति सूक्ष्मलोक उससे कम सूक्ष्म किसी दूसरे लोकके भीतर अनायास ही रह सकता है। जिस प्रकार जीवदेहमें

स्थूलशरीरके भीतर ही सूक्ष्मशरीर रहता है और सूक्ष्मशरीरके भीतर ही अति सूक्ष्म कारण शरीर रहता है तथा इसी प्रकारके पञ्चकोषमय जीवनदेहमें अन्नमय कोषके भीतर ही प्राणमय कोष रह सकता है और प्राणमय कोषके भीतर ही मनोमय, विज्ञानमय आदि कोषोंकी अनायास स्थिति हो सकती है, इनके लिये अलग अलग देशावच्छिन्न सीमाओंकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार एक सूक्ष्मलोकके साथ अन्य सूक्ष्म लोकका देशावच्छेदसे कोई भी सीमा निर्देश नहीं है और आवश्यकतानुसार एक दूसरेके भीतर रह भी सकते हैं। द्वितीयतः समष्टि और व्यष्टिरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डके एकत्व सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण जिस प्रकार चतुर्दशलोकोंकी स्थिति ब्रह्माण्डमें है, इसी प्रकार पिण्डदेहमें भी १४ लोकोंकी स्थिति है और जिस प्रकार पिण्ड देहमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन पांच कोषोंकी स्थिति है, उसीप्रकार ब्रह्माण्डमें भी पञ्चकोषोंकी स्थिति है। इसलिये सूक्ष्मलोकमें रहनेवाले दैवजगत्के जीव तथा देवता असुरादिका सम्बन्ध और प्रभाव प्रत्येक पिण्डशरीरपर भी है और पिण्डदेहान्तर्गत प्राणमय, मनोमयादि कोषोंकी सहायतासे तत्तत् कोषोंसे सम्बन्ध रखनेवाले दैवजगत्के जीव तथा देवासुरादियोंके साथ भी स्थूल लोकके जीव नाना प्रकारका सम्बन्ध स्थापन कर सकते हैं। पुराणादि शास्त्रोंमें जो मृत्युलोकके जीवोंके साथ इन्द्रलोक, वरुणलोक आदि लोकोंका तथा तत्तत् लोकवासी इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि देवताओंके साथ नानाप्रकारके आदान प्रदानका वृत्तान्त देखनेमें आता है, ऊपर कथित ब्रह्माण्ड पिण्डकी एकता तथा पञ्चकोषका विस्तार ही इसमें कारणस्वरूप है। यही पिण्डशरीरमें प्राणमयादि सूक्ष्म कोषोंकी स्थितिके सदृश ब्रह्माण्डशरीरमें उन्नतावनत चतुर्दश लोकोंकी स्थिति है। अतः पर इनके पृथक पृथक अधिवासियोंके विषयमें कहा जाता है।

संघर्षके बिना क्रिया नहीं होती, परस्पर विरोधी शक्तियोंके घात प्रतिघातसे ही संघर्षकी उत्पत्ति हुआ करती है, इसलिये चतुर्दशलोकव्यापिनी क्रियाके भीतर भी परस्पर विरोधिनी शक्तिद्वयका संघर्ष अवश्य विद्यमान है। इन दोनों शक्तियोंको आर्यशास्त्रमें दैवी शक्ति तथा आसुरी शक्ति कहा गया है। यथा वृहदारण्यकोपनिषद्में :—

"द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त"।

प्रजापतिकी सृष्टिमें देवता और असुर दोनोंका नित्य संग्राम है। वे

चतुर्दशलोकमय ब्रह्माण्डशरीर तथा पिण्डशरीर दोनों ही में व्याप्त रहते हैं। यथा श्रीशम्भुगीतामें :—

संस्थापयितुमर्हन्ति स्वाधिपत्यं स्वधाभुजः ।
देवासुरगणाः सर्वे जीवपिण्डेष्वनुक्षणम् ॥

चतुर्दशलोकव्यापी देवता तथा असुरगण सदा ही जीवशरीरमें अपने प्रभावको जमा सकते हैं । देवता और असुर नाना श्रेणीके होते हैं । उनके निवासस्थानके विषयमें शम्भुगीतामें लिखा है :—

वसन्ति देवाः पितरः ! उर्द्ध्वलोकेषु सप्तसु ।
सन्तिष्ठन्तेऽसुराः सर्वे ह्यधोलोकेषु सप्तसु ॥
तमोमुख्यतया सृष्टेरसुराणां हि सप्तमे ।
लोकेऽस्त्यसुरराज्यस्य राजधानीत्वधस्तने ॥
दैव्याः सत्त्वप्रधानत्वात् सृष्टे राजानुशासनम् ।
उच्चैर्देवेषु लोकेषु नैवावश्यकमस्त्यहो ॥
अस्त्यतो देवराजस्य राजधानी तृतीयके ।
ऊर्द्ध्वलोके स्थिता नित्यं नात्र कार्या विचारणा ॥
विशेषतोऽसुराः सर्वे सदा प्राबल्यसञ्जुषः ।
कुर्वाणा विप्लवं दैवे राज्ये सृष्टेः प्रबाधितुम् ॥
सामञ्जस्यं विचेष्टन्ते नितान्तं सन्ततं बहु ।
अतोऽपि देवराजस्य राजधानी तृतीयके ॥

ऊर्द्ध्व सप्त लोकोंमें देवताओंका निवास है और अधः सप्त लोकोंमें असुरोंका निवास है । असुरगणकी सृष्टि तमःप्रधान होनेसे असुरराजकी राजधानी सप्तम अधोलोक अर्थात् पातालमें स्थित है । परन्तु दैवी सृष्टि सत्त्वप्रधान होनेके कारण और उन्नत दैवलोकोंमें राजानुशासनकी आवश्यकता न रहनेसे देवराजकी राजधानी तृतीय ऊर्द्ध्वलोक अर्थात् स्वर्गलोकमें स्थित है । विशेषतः असुरगण सदा प्रबलता लाभ करके दैवराज्यमें विप्लव करते हुए सृष्टिसामञ्जस्यमें बाधा डालनेमें सचेष्ट रहते हैं, इस कारणसे भी देवराजकी राजधानी सदा तृतीय ऊर्द्ध्वलोकमें स्थित रहती है । देवता और असुरोंकी प्रकृतिमें यह भी एक विशेष अन्तर है कि देवतागण अपनी राज्यसीमाका अतिक्रम करके असुरोंके राज्यपर कभी आक्रमण नहीं करते हैं, क्योंकि न्याय-

२

पथावलम्बी, धर्मपरायण देवतागण यह भलीभाँति जानते हैं, कि देवराज्य तथा असुरराज्यके अधिकारिगण जब तक नियमपूर्वक अपने-अपने राज्यका सुशासन तथा परिचालन करेंगे और निरर्थक अनधिकार प्रवेशसे निवृत्त रहेंगे तभी तक ब्रह्माण्डभाण्डमें शान्तिसुधा सुशोभित रहेगी। इसी कारण देवतागण कभी असुरलोकोंपर आक्रमण नहीं करते हैं। किन्तु असुरोंकी बुद्धि दम्भ दर्प अभिमान अहंकार अज्ञानमयी होनेके कारण वे सदा ही देव-राज्यपर अधिकार जमाकर देवताओंको कष्ट देने तथा विश्वप्रकृतिकी शासन-शृंखलाके बिगाड़नेमें कटिबद्ध रहते हैं। किन्तु इस प्रकारके अत्याचारमें वे तभी सफल हो सकते हैं जब भोगादि द्वारा देवताओंकी बुद्धि पर तमोगुणका आवेश हो जाय और तपःक्षयके द्वारा उनका बलक्षय तथा सत्त्वगुणका अपलाप होने लग जाय। श्रीमद्भागवतमें लिखा है :—

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते।
असुराणाञ्च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम्॥

सत्त्वगुणकी वृद्धिमें देवताओंका बल बढ़ता है, रजोगुणकी वृद्धिमें असुरोंका बल बढ़ता है और तमोगुणकी वृद्धिमें राक्षसोंका बल बढ़ता है। इस प्रकार गुणवैचित्र्यानुसार देवासुरोंकी बलवृद्धि तथा सूक्ष्मजगत्‌में कोलाहल और संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। परन्तु इन सब कोलाहलोंकी भूमि ऊर्द्ध्व तृतीय लोक तक ही है, इससे परे विशेष सत्त्वगुणप्रधान महर्लोक जन-लोकादिमें अन्य गुणोंकी विकाशसम्भावना न रहनेसे उन लोकोंमें न तो असुरोंका ही प्रवेश हो सकता है और न प्रथम तीन उन्नत लोकोंकी तरह वहाँ पर राजानुशासन, शब्दानुशासनकी शृंखला बाँधनेका प्रयोजन रहता है। यथा श्रीशम्भुगीतामें :—

उन्नतेषूर्द्ध्वलोकेषु प्रवेशोऽप्यस्त्यसम्भवः।
असुराणामतोऽप्येषु देवराजानुशासनम्॥
नावश्यकत्वमाप्नोति विशेषेण कदाचन।
विभिन्नोपासकेभ्यो हि स्वरूपं सगुणं धरन्॥
सालोक्यञ्चैव सामीप्यं सारूप्यं पितरस्तथा।
दातुं मोक्षं च सायुज्यं नानारूपैर्हि सप्तमे॥
ऊर्द्ध्वलोके तथा षष्ठे विराजेऽहमनुक्षणम्।

उन्नतेषूर्द्ध्वलोकेषु सात्त्विकेषु स्वधाभुजः ॥
राजानुशासनस्यातः का वार्ता वर्त्तते खलु ।
शब्दानुशासनस्यापि नास्ति तेषु प्रयोजनम् ॥

उन्नत ऊर्द्ध्वलोकोंमें असुरोंका भी प्रवेश संभव नहीं है, इस कारण वहाँ देवराजके राजानुशासनकी विशेष आवश्यकता नहीं रहती। अन्तिम दो लोक अर्थात् षष्ठ और सप्तम ऊर्द्ध्व लोकोंमें परमात्माके उपासकोंको सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। इस कारण उनमें राजानुशासनकी बात ही क्या है, शब्दानुशासनको भी वहाँपर आवश्यकता नहीं होती। इन दोनों प्रकारकी देवयोनियोंके अतिरिक्त और भी बहुत प्रकारकी देवयोनियाँ हैं, जो इन लोकोंमें बसती हैं। उनमेंसे ऋषि और पितृगण प्रधान हैं। कर्मराज्यके चलानेवाले देवता कहाते हैं, ज्ञानराज्यके चलानेवाले ऋषि कहाते हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डके स्थूलराज्यके चलानेवाले पितृ कहाते हैं। देवता लोग ऊर्द्ध्व सप्तलोकोंमें वसते हैं। ऋषि लोग चौदह लोकोंमें वसते हैं, क्योंकि असुरोंमें भी अपने अधिकारानुसार ज्ञान होता है, जिसके चलानेवाले शुक्राचार्य आदि असुरगुरु ऋषिलोग हैं। पितृगण केवल पितृलोकमें वसते हैं, जिसके विषयमें आगेके अध्यायमें कहा जायगा। ऋषि, देवता, पितरोंका निवासस्थान तथा उनकी श्रेणि और कार्य्यकलापके विषयमें ऋषि देवपितृतत्त्व नामक अध्यायमें पहले ही बहुत कुछ कहा जाचुका है। अतः इस विषयमें पुनरुक्ति न करके नीचे सप्त अधोलोक तथा सप्त ऊर्द्ध्व लोकोंमेंसे किस-किसमें कैसे-कैसे जीव और देवासुर वसते हैं, सो ही क्रमशः बताया जाता है। देवीभागवतके अष्टम स्कन्धमें लिखा है :—

अधस्तादवनेः सप्त देवर्षे विवराः स्मृताः ।
एकैकशो योजनानामायामोच्छ्रायतः पुनः ॥
अयुतान्तरविख्याताः सर्वर्तुसुखदायकाः ।
अतलं प्रथमं प्रोक्तं द्वितीयं वितलं तथा ॥
तृतीयं सुतलं प्रोक्तं चतुर्थं वै तलातलम् ।
महातलं पञ्चमञ्च षष्ठं प्रोक्तं रसातलम् ॥
सप्तमं विप्र पातालं सप्तैते विवराः स्मृताः ।
एतेषु बिलस्वर्गेषु दिवोऽप्यधिकमेव च ॥

कामभोगैश्वर्यसुखसमृद्धभुवनेषु च ।
नित्योद्यानविहारेषु सुखास्वादः प्रवर्त्तते ॥
दैत्याश्च काद्रवेयाश्च दानवा बलशालिनः ।
नित्यं प्रमुदिता रक्ताः कलत्रापत्यबन्धुभिः ॥
निवसन्ति सदा दृष्टाः सर्वर्त्तुसुखसंयुताः ॥

भूर्लोकके अधोभागमें सप्त विवर हैं, जिनको सात अधोलोक कहते हैं। इनमेंसे प्रथम लोकका नाम अतल, द्वितीयका नाम वितल, तृतीयका नाम सुतल, चतुर्थका नाम तलातल, पञ्चमका नाम महातल, षष्ठका नाम रसातल और सप्तमका नाम पाताल है। इन लोकोंमें कामादि विषयभोग स्वर्गसे भी अधिक है। बलवान् दैत्य दानवगण पुत्रकलत्रादिके साथ इनमें सदा विहार करते हैं। यही सप्त अधोलोकका साधारण स्वरूप है। अब इनमेंसे एक एकका वर्णन किया जाता है। प्रथम अधोलोकके विषयमें देवीभागवतमें लिखा है :—

प्रथमे विवरे विप्र अतलाख्ये मनोरमे ।
मयपुत्रो बलो नाम वर्त्ततेऽखर्वगर्वकृत् ॥
षण्णवत्यो येन सृष्टा मायाः सर्वार्थसाधिकाः ।
जृम्भमाणस्य यस्यैव बलस्य बलशालिनः ॥
स्त्रीगणा उपपद्यन्ते त्रयोलोकविमोहनाः ।
पुंश्चल्यश्चैव स्वैरिण्यः कामिन्यश्चेति विश्रुताः ॥
या वै विलायनं प्रेष्ठं प्रविष्टं पुरुषं रहः ।
संलापविभ्रमाद्यैश्च रमयन्त्यपि ताः स्त्रियः ॥
यस्मिन्युपयुक्ते जनो मनुते बहुधा स्वयम् ।
ईश्वरोऽहमहं सिद्धो नागायुतबलो महान् ॥
आत्मानं मन्यमानःसन्मदान्ध इव कथ्यते ।
एवं प्रोक्ता स्थितिश्चात्र अतलस्य च नारद ॥

प्रथम अधोलोकका नाम अतल है। उसमें मयदानवके पुत्र बलदानव वसते हैं। उन्होंने ९६ प्रकारकी मायाकी सृष्टि की है। उनकी जिम्हाईसे पुंश्चली, स्वैरिणी, कामुकी स्त्रियाँ उत्पन्न होती हैं, जो उनके पास आये हुए पुरुषोंको नाना विलासकला द्वारा मुग्ध करती रहती हैं। अतललोकवासि-

गण बड़े मदान्ध होते हैं और अपनेको सिद्ध, बलवान्, ईश्वर समझते हैं। यही अतललोककी स्थिति है। द्वितीय लोकके विषयमें देवीभागवतमें लिखा है :—

भूतलाधस्तले चैव वितले भगवान् भवः।
हाटकेश्वरनामाऽयं स्वपार्श्वदगणैर्वृतः॥
प्रजापतिकृतस्यापि स्वर्गस्य बृंहणाय च।
भवान्या मिथुनं भूय आस्ते देवाधिपूजितः॥
भवतो वीर्यसम्भूता हाटकी सरिदुत्तमा।
समिद्धो मरुता वह्निरोजसा पिबतीव हि॥
तन्निष्ठ्युतं हाटकाख्यं सुवर्णं दैत्यवल्लभम्।
दैत्याङ्गना भूषणार्हं सदा संधारयन्ति हि॥

अतललोकके नीचे वितललोक है। इसमें दैत्यगण, उनकी स्त्रियाँ तो रहती ही हैं, अधिकन्तु हाटकेश्वर महोदय अपने पार्श्वचरोंके साथ वहाँपर निवास करते हैं और भवानीके संसर्गसे प्रजापतिकी सृष्टिकी वृद्धि करते हैं। उनके वीर्यसे वहाँपर हाटकी नामक नदी निकली है, उनके निष्ठीवनसे सुवर्ण उत्पन्न होता है, जिससे भूषण बनाकर असुरकामिनीगण धारण करती हैं। इसके नीचे सुतललोक है। यथा देवीभागवतमें :—

तद्विलाधस्तलात् प्रोक्तं सुतलाख्यं विलेश्वरम्।
पुण्यश्लोको बलिर्नामा आस्ते वैरोचनिर्मुने॥
महेन्द्रस्य च देवस्य चिकीर्षुः प्रियमुत्तमम्।
त्रिविक्रमोऽपि भगवान् सुतले बलिमानयत्॥
एवं दैत्यपतिः सोऽयं बलिः परमपूजितः।
सुतले वर्त्तते यस्य द्वारपालो हरिः स्वयम्॥

वितलके नीचे सुतललोक है। इसमें पुण्यश्लोक बलिराज वसते हैं। श्रीभगवान्ने देवराज इन्द्रकी हितकामनासे वामनावतार धारण करके बलिको सुतललोकमें भेज दिया था। तबसे दैत्यगण सहित बलिराज इस लोकमें निवास करते हैं और स्वयं हरि निज प्रतिज्ञानुसार इनके द्वारपालका कार्य करते हैं। सुतललोकके नीचे तलातललोक है। यथा देवीभागवतमें—

ततोऽधस्तात् विवरकं तलातलमुदीरितम्।
दानवेन्द्रो मयोनाम त्रिपुराधिपतिर्महान्॥

त्रिलोक्याः शंकरेणायं पालितो दग्धपूस्त्रयः ।
देवदेवप्रसादात्तु लब्धराज्यसुखास्पदः ॥
आचार्यो मायिनां सोऽयं नानामायाविशारदः ।
पूज्यते राक्षसैर्घोरैः सर्वकार्यसमृद्धये ॥

सुतलके अधः स्थित तलातल लोकमें त्रिपुराधिपति दानवेन्द्र मय निवास करते हैं। भगवान् शंकरने उनकी तीन पुरियोंको दग्ध कर दिया था। उसके बादसे मयदानव देवदेव महादेवके प्रसादसे तलातललोकके अधिपति होकर वहीं निवास करते हैं। मयदानव मायावियोंके आचार्य तथा नाना मायामें निपुण हैं। भीषण राक्षसगण सकल कार्योंकी सिद्धिके लिये मय दानवकी पूजा करते हैं। इसके बाद कौन लोक है, इस विषयमें देवीभागवतमें लिखा है:—

ततोऽधस्तात् सुविख्यातं महातलमिति स्फुटम् ।
सर्पाणां काद्रवेयाणां गणः क्रोधवशो महान् ॥

तलातललोकके नीचे सुप्रसिद्ध महातललोक है। दैत्योंकें निवासस्थान इस लोकमें कद्रुकी सन्तान बड़े-बड़े भीषण क्रोधी सर्प रहते हैं। महातलके नीचे रसातल है। यथादेवीभागवतमें:—

ततोऽधस्ताच्च विवरे रसातलसमाह्वये ।
दैतेया निवसन्त्येव पणयो दानवाश्च ये ॥
निवातकवचा नाम हिरण्यपुरवासिनः ।
कालेया इति च प्रोक्ताः प्रत्यनीका हविर्भुजाम् ॥

महातलके नीचे रसातललोक है। इसमें पणि नामक दानवगण निवास करते हैं, ये निवातकवच तथा हिरण्यपुरवासी हैं। इनको कालेय भी कहते हैं। वे सब देवताओंके घोर शत्रु हैं। रसातलके नीचे अन्तिम अधोलोक पाताल है। यथा देवी-भागवतमें:—

ततोऽप्यधस्तात् पाताले नागलोकाधिपालकाः ।
वासुकिप्रमुखाः शंखः कुलिकः श्वेत एव च ॥
धनञ्जयो महाशंखो धृतराष्ट्रस्तथैव च ।
महामर्षा महाभोगा निवसंति बिषोल्बणाः ॥

सबसे अधःस्थित लोक पातालमें नागलोकाधिपति वासुकिप्रमुख, शंख, कुलिक, धनञ्जय, महाशंख आदि महाक्रोधी विषधर सर्पगण निवास करते हैं।

पाताल लोक ही असुरोंकी राजधानी है। आसुरी शक्तिका सर्वप्रधान केन्द्रस्थान वही लोक है। इस प्रकारसे आर्य्यशास्त्रमें सप्त अधोलोकोंका वर्णन किया गया है। इन सूक्ष्म लोकोंका वर्णन जो पुराणोंमें आता है उनके विचित्र, अलौकिक और आश्चर्यजनक स्वरूप पढ़ कर अवश्य कई प्रकारकी शंकाएं हो सकती हैं। उन शंकाओंके समाधानार्थ कहा जाता है कि, पूज्यपाद महर्षिगण अपनी समाधिलभ्य योगदृष्टिके द्वारा इसी मृत्युलोकमें बैठ कर ही वहांकी आवश्यकताको देख सकते थे। और इन लोकोंकी अलौकिक आश्चर्यजनक अवस्थाएँ जो वर्णित की गई हैं, वे सब भी समाधिभाषा द्वारा नहीं कही गई हैं, किन्तु लौकिक भाषा द्वारा कही गई हैं, जैसा कि पहले ही कहा गया है। सुतरां इस प्रकारकी शंकाओंका अवसर विज्ञ तथा विचारक शास्त्ररहस्य समझनेवालोंके पास रही नहीं सकता है। अब नीचे सप्त उर्द्ध्व लोकोंका वर्णन किया जाता है।

श्रीभगवान् वेदव्यासने 'भूवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' इस योगसूत्रके भाष्यमें सप्त ऊर्द्ध्व लोकोंका उत्तम वर्णन किया है, जिसमेंसे कुछ अंश निम्न लिखितरूप हैं यथा—

"अवीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येष भूर्लोकः, मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः, तत्परः स्वर्लोकः पञ्चविधः, माहेन्द्रः तृतीयो लोकः, चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः, त्रिविधो ब्राह्मः तद् यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति। ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा इति संग्रहश्लोकः।"

अवोचि नामक नरकस्थानसे मेरुपृष्ठपर्यन्त समस्त देश भूर्लोकके अन्तर्गत हैं। मेरुपृष्ठसे लेकर ध्रुव नक्षत्र पर्यन्त ग्रहनक्षत्रतारामय विचित्र लोकको भुवर्लोक या अन्तरिक्ष लोक कहते हैं। इसके अनन्तर स्वर्गलोक पाँच प्रकारके होते हैं। उनमेंसे माहेन्द्रलोक तृतीय लोक है जिसको स्वर्लोक या इन्द्रलोक भी कहते हैं। इसके ऊपर महर्लोक है, जिसको प्राजापत्यलोक कहते हैं। इसके ऊपर तीन प्रकारके ब्राह्मलोक हैं। यथा जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक। संग्रहश्लोकमें इसका प्रमाण भी मिलता है यथा-ब्राह्मलोक त्रिविध है, प्राजापत्यलोक महर्लोक है, माहेन्द्रलोक स्वर्लोक है, तारागणयुक्त भुवर्लोक है और मनुष्यादि जीवयुक्त भूर्लोक है। भूर्लोकके विषयमें पहले ही वर्णन किया गया है और उसमें स्थूल मृत्युलोकके अतिरिक्त नरक,

प्रेतादि सूक्ष्मलोक भी होते हैं, ऐसा भी कहा गया है। इसी प्रकार भुवर्लोकमें भी स्थूल नक्षत्र लोक तथा सूक्ष्म देवलोक हैं। स्थूललोकके विषयमें योगभाष्यमें लिखा है यथा—

"ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपादिनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्य्युपरि सन्निविष्टा विपरिवर्तन्ते ॥"

भुवर्लोकमें सूर्यादि ग्रहगण, अश्विनी भरणी आदि नक्षत्रगण तथा अन्यान्य तारागण ध्रुवताराके साथ सम्बन्ध-निबद्ध होकर मेरुपर्वतके ऊपर-ऊपर वायुसञ्चार द्वारा नियमित-गतिसे सदा घूमते रहते हैं। इन स्थूल नक्षत्रलोकोंके सिवाय भूवर्लोकमें जो सूक्ष्मलोक समूह हैं उनमें देवयोनिके जीव निवास करते हैं। किन्नर-लोक, विद्याधरलोक आदि इनके अन्तर्गत हैं। भुवर्लोकके ऊपर स्वर्लोक है। इसको माहेन्द्रलोक कहते हैं। यह देवराजकी राजधानी है। इसमें कितने प्रकारके देवता रहते हैं, इसके विषयमें योगभाष्यमें लिखा है:—

"माहेन्द्रनिवासिनः षड्देवनिकायाः, त्रिदशा अग्निष्वाता याम्याः तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्त्तिनः परिनिर्मितवशवर्त्तिनश्चेति, सर्वे संकल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारका कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः ॥"

माहेन्द्रलोकमें छः प्रकारके देवता रहते हैं, यथा त्रिदश, अग्निष्वात, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मितवशवर्त्ती और परिनिर्मितवशवर्त्ती। वे सभी सङ्कल्पसिद्ध हैं अर्थात् इच्छानुसार भोगसमर्थ हैं, अणिमादि ऐश्वर्योंसे युक्त हैं, कल्पान्त आयुर्युक्त हैं, पूज्य, कामभोगी और पितृमातृसम्बन्ध विना ही उत्पन्न दिव्य शरीरसे युक्त हैं। वे सुन्दरी अनुकूला अप्सराओंके साथ सदा विहार करते रहते हैं। महाभारतके वनपर्वमें स्वर्लोकके विषयमें वर्णन है। यथा—

उपरिष्टाच्च स्वर्लोके योऽयं स्वरिति संज्ञितः।
ऊर्द्ध्वगः सत्पथः शश्वद्देवयानचरो मुने ॥
नातप्ततपसः पुंसो नामहायज्ञभाजिनः।
नानृता नास्तिकाश्चैव तत्र गच्छन्ति मुद्गल ॥
धर्मात्मानो जितात्मानः शान्ता दान्ता विमत्सराः।
दानधर्मरता मर्त्याः शूराश्चाहवलक्षणाः ॥

तत्र गच्छन्ति धर्माग्र्यं कृत्वा शमदमात्मकम् ।
लोकान् पुण्यकृतान् ब्रह्मन् सद्भिराचरितान् नृभिः ॥
देवाः साध्यास्तथा विश्वे तथैव च महर्षयः ।
यामा धामाश्च मौद्गल्य गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥
एषां देवनिकायानां पृथक् पृथगनेकशः ।
भास्वन्तः कामसम्पन्ना लोकास्तेजोमयाः शुभाः ॥
त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि योजनानि हिरण्मयः ।
मेरुः पर्वतराडत्र देवोद्यानानि मुद्गल ॥
नन्दनादीनि पुण्यानि विहाराः पुण्यकर्मणाम् ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न शीतोष्णे भयं तथा ॥
बीभत्समशुभं वापि तत्र किञ्चिन्न विद्यते ।
मनोज्ञाः सर्वतोगन्धाः सुखस्पर्शाश्च सर्वशः ॥
शब्दाः श्रुतिमनोग्राह्याः सर्वतस्तत्र वै मुने ।
न शोको न जरा तत्र नायासपरिदेवने ॥
ईदृशः स मुने लोकः स्वकर्मफलहेतुकः ।
सुकृतैस्तत्र पुरुषाः सम्भवन्त्यात्मकर्मभिः ॥
तैजसानि शरीराणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम् ।
कर्मजान्येव मौद्गल्य न मातृपितृजान्युत ॥
न संस्वेदो न दौर्गन्ध्यं पुरीषं मूत्रमेव वा ।
तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ॥
न म्लायन्ति स्रजस्तेषां दिव्यगन्धा मनोरमाः ।
संयुज्यन्ते विमानैश्च ब्रह्मन्नेवंविधैश्च ते ॥
ईर्ष्याशोकक्लमापेता मोहमात्सर्यवर्जिताः ।
सुखस्वर्गजितस्तत्र वर्त्तयन्ते महामुने ॥

ऊर्द्ध्व तृतीय लोकको स्वर्लोक कहते हैं। उसमें तपोहीन, यज्ञहीन, असत्यपरायण नास्तिकलोग नहीं जा सकते हैं। शान्त, दान्त, दानधर्मशील, जितात्मा, समरवीर पुरुष ही वहां जाते हैं। देवता, साध्य, विश्व, महर्षि, याम, धाम, गन्धर्व, अप्सरा आदिके तेजोमय लोकसमूह स्वर्लोकके अन्तर्गत हैं।

वहाँपर तीस हजार योजन व्याप्त पर्वतराज मेरुपर नन्दन आदि देवोद्यान समूह स्थित हैं, जिनमें देवतागण विहार करते हैं। क्षुधा, पिपासा, ग्लानि, भय, किसी प्रकार बीभत्स या अशुभ वहाँ नहीं है। शीतल मन्द सुगन्ध पवन तथा श्रुतिप्राण-मोहन संगीतका आनन्द वहाँ मिलता रहता है। वहाँपर शोक दुःख जरा या आयासका लेशमात्र भी नहीं है। पुण्यबलसे वहाँ जानेवाले जीवको कर्मज तैजस शरीर प्राप्त होती है। पितामातासे वहाँ शरीर नहीं मिलता है। स्वेद, मल, मूत्र, दुर्गन्ध आदिसे वहाँपर वस्त्र अपवित्र नहीं होता है। स्वर्गवासियोंके गलेमें जो दिव्यगन्धयुक्त माल्य रहता है वह कभी मलिन नहीं होता है। वे दिव्य विमानपर चढ़कर घूमा करते हैं। ईर्ष्या, शोक श्रमादि वर्जित तथा मोहमात्सर्यशून्य होकर आनन्दके साथ लोग इस लोकमें निवास करते हैं। स्वर्लोकके विषयमें कठोपनिषद्में लिखा है :—

स्वर्गे लोके न भयं किञ्च नास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

स्वर्गलोकमें किसी प्रकारका भय नहीं है, वहाँ किसीको जराका भी भय नहीं है। वुभुक्षा, पिपासा तथा शोकसे रहित होकर स्वर्गवासिगण सदा आनन्द करते हैं। और भी स्मृतिमें—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत् सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

जहाँपर सुख दुःखसे युक्त नहीं है, जहां सुखके अनन्तर भी दुःख नहीं होता है, और जहां इच्छा करते ही भोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं, वही स्वर्ग तथा वही स्वर्गसुख है। यही सब स्वर्गलोकके शास्त्रकथित वृत्तान्त हैं। उसके ऊपर महर्लोक है, जिसके विषयमें योगभाष्यमें लिखा है—

महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः कुमुदाः ऋभवः प्रतर्दना अञ्जनाभा प्रचिताभा इति, एते महाभूतवशिनो ध्यानाहारा कल्पसहस्रायुषः।

प्राजापत्य महर्लोकमें कुमुद, ऋभव, प्रतर्दन, अञ्जनाभ और प्रचिताभ ये पांच प्रकारके देवता निवास करते हैं। पञ्चमहाभूत इनके वशवर्त्ती हैं। वे ध्यानाहार अर्थात् ध्यानमात्रसे ही तृप्त होते हैं, इनकी आयु कल्प सहस्र वर्ष है। इसके ऊपर तीन ब्रह्मलोक हैं, जिनमेंसे प्रथम ब्रह्मलोक अर्थात् जनलोकके विषयमें योगभाष्यमें लिखा है—

प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति, एते भूतेन्द्रियवशिनः।

प्रथम ब्रह्मलोक अर्थात् जनलोकमें चार प्रकारकी देवजातियां बसती हैं, यथा ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर। पञ्चभूत तथा इन्द्रिय दोनों ही इनके वशीभूत हैं। स्मृतिशास्त्रमें लिखा है कि, सतीलोक भी इसी पञ्चमलोकके अन्तर्गत है, जहांपर सती स्त्रियां अपने पातिव्रत्यके बलसे पतित पतिका भी उद्धार करके इस लोकमें उनके साथ निवास करती हैं। यथा पराशर स्मृतिमें—

व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्।
एवमुद्धृत्य भर्त्तारं तेनैव सह मोदते॥

जिस प्रकार मदारी सांपको बिलसे खींचकर ऊपर उठाता है, उसी प्रकारसे सती स्त्री अपने तपोबलसे निजपतिको अधोगतिसे खींचकर पञ्चमलोकमें लेजाकर उसके साथ विहार करती है। जनलोकके ऊपर तपोलोक है, जिसके भी विषयमें योगभाष्यमें लिखा है यथा—

द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः अभास्वरा महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा इति। एते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः, सर्वे ध्यानाहारा ऊर्द्ध्वरेतसः उर्द्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः।

द्वितीय ब्रह्मलोक अर्थात् तपोलोकमें अभास्वर, महाभास्वर, सत्यमहाभास्वर नामक त्रिविध देवजातिका निवास है। पञ्चभूत, इन्द्रिय, प्रकृति इन तीनोंपर इनका अधिकार है। अभास्वरसे महाभास्वरकी आयु द्विगुण और महाभास्वरसे सत्यमहाभास्वरकी आयु द्विगुण परिमित है। वे सब ध्यानाहार तथा उर्द्ध्वरेता हैं, सत्यलोकमें भी इनके ज्ञान अप्रतिहत हैं, अधोलोकोंके ज्ञान तो इनके करतलगत हैं ही। शिवलोक, विष्णुलोक, मणिद्वीप अर्थात् देवीलोक आदि समस्त सगुणब्रह्मोपासना सम्बन्धीय लोक इसी तपोलोकके अन्तर्गत है, जहाँपर सगुणब्रह्मोपासनाके फलसे उपासनासिद्ध पुरुषगण सालोक्यादि मुक्तिलाभ करते हैं। विष्णुलोकके विषयमें श्रीमद्भागवतके ३ यस्कन्धमें लिखा है—

त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः।
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम्॥

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम् ॥
यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवाञ्छब्दगोचरः।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृड़यन् वृषः ॥
यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः।
सर्वर्त्तुश्रीभिर्विभ्राजत् कैवल्यमिव मूर्तिमत् ॥

वैकुण्ठलोकके विनासी वैकुण्ठपति विष्णुभगवान्‌की तरह चतुर्भुजशरीरधारी होते है, वे सब निष्काम भावसे श्रीभगवान् हरिकी आराधना करते हैं। वहांपर वेदान्तवेद्य धर्ममूर्त्ति विष्णुभगवान् शुद्ध सत्त्वगुणका अवलम्बन करके अपने भक्तोंकी रक्षा करते हैं। वहांका उद्यान ही निःश्रेयस है, जो सकल ऋतुओंमें शोभामय तथा यथाकाम फलप्रसु होता है। इसी प्रकार मणिद्वीप आदिके विषयमें भी आर्यशास्त्रमें प्रमाण मिलता है। यथा देवीभागवतमें—

भक्तौ कृतायां यस्यापि प्रारब्धवशतो नग।
न जायते मम ज्ञानं मणिद्वीपं स गच्छति ॥
तत्र गत्वाऽखिलान् भोगाननिच्छन्नपि चार्च्छति।
तदन्ते मम चिद्रूपज्ञानं सम्यग् भवेन्नग ॥

इष्टोपासनामें पूर्ण होनेपर भी प्रारब्धवश जिस भक्तको स्वरूपज्ञान नहीं प्राप्त होता हैं वह मणिद्वीपमें जाता है। वहां इच्छा न रहनेपर भी अनेक प्रकारके भोग उनको प्राप्त होते हैं और अन्तमें स्वरूपज्ञान प्राप्तिके बाद मुक्ति होती है। यही सब षष्ठ लोकके वृत्तान्त हैं अन्तिम लोकको सत्यलोक या ब्रह्मलोक कहते हैं, जिसके विषयमें योगभाष्यमें लिखा है यथा—

तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकायाः अच्युताः शुद्धनिवासाः सत्याभाः संज्ञासंज्ञिनश्चेति। अकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठाः उपर्य्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत्सर्गायुषः। तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः, शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः, सत्यभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः संज्ञासंज्ञिनश्चास्मिता-मात्रध्यानसुखाः, तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्ति। त एते सप्त लोकाः।

तृतीय ब्रह्मलोक अर्थात् सत्यलोकमें चार प्रकारके देवतागण निवास करते हैं। यथा—अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ और संज्ञासंज्ञी। इनका

गृहविन्यास नहीं है, वे सब स्वप्रतिष्ठ हैं। अच्युत देवताओंके ऊपर शुद्ध-निवास देवतागण रहते हैं, इस प्रकारसे ऊपर ऊपर इनके निवासस्थान हैं। प्रधान अर्थात् प्रकृति इनके वशीभूत है और यावत् सृष्टि इनकी आयु होती है। अच्युतगण सवितर्क ध्यानमें तृप्त रहते हैं, शुद्धनिवासगण सविचार ध्यानमें, सत्याभगण आनन्दमात्र ध्यानमें और संज्ञासंज्ञिगण अस्मितामात्र ध्यानमें निमग्न रहते हैं। ये ही सत्यलोकके ब्रह्मलोकमें ऊपर कथित देवताओंके सिवाय और भी अनेक देवता तथा महर्षिगण निवास करते हैं। यथा महाभारतके वन पर्वमें :—

पुरस्ताद् ब्राह्मणास्तत्र लोकास्तेजोमयाः शुभाः।
यत्र यान्त्यृषयो ब्रह्मन् पूताः स्वैः कर्मभिः शुभैः॥
ऋभवो नाम तत्रान्ये देवानामपि देवताः।
तेषां लोकात् परतो यान् यजन्तीह देवताः॥
स्वयंप्रभास्ते भास्वन्तो लोकाः कामदुघाः परे।
न तेषां स्त्रीकृतस्तापो न लोकैश्वर्यमत्सरः॥
न वर्त्तयन्त्याहुतिभिस्ते नाप्यमृतभोजनाः।
तथा दिव्यशरीरास्ते न च विग्रहमूर्त्तयः॥
न सुखे सुखकामास्ते देवदेवाः सनातनाः।
न कल्पपरिवर्त्तेषु परिवर्त्तन्ति ते तथा॥
जरा मृत्युः कुतस्तेषां हर्षः प्रीतिः सुखं न च।
न दुःखं न सुखं चापि रागद्वेषौ कुतो मुने॥
देवतानाञ्च मौद्गल्य वाञ्छिता सा गतिः परा।
दुष्प्राप्या परमा सिद्धिरगम्या कामगोचरैः॥

पूर्वदिशामे तेजोमय शुभ ब्रह्मलोक स्थित है। वहाँ पर पवित्र ऋषिगण अपने शुभ कर्मोंके फलसे जाते हैं। इस लोकमें ऋभु नामक एक प्रकारके अति उत्तम कोटिके देवता रहते हैं, उनका लोक सर्वोत्कृष्ट है। देवतागण भी उनके निमित्त यज्ञ करते हैं। वे स्वयंप्रभ, भगवान्, इष्ट फल-प्रदाता हैं। उनको स्त्रीजन्य सन्ताप या ऐश्वर्यजन्य मात्सर्य स्पर्श नहीं कर सकता है। आहुति या अमृत किसीसे वे जीवन धारण नहीं करते हैं, दिव्य शरीरधारी

स्थूलविग्रहशून्य होते हैं। इनमें किसी प्रकारकी सुखेच्छा नहीं होती है, वे देव देव, सनातन हैं, कालमें भी इनका कोई परिवर्त्तन नहीं होता है। जरा, मृत्यु, हर्ष, शोक, दुःख, सुख, राग, द्वेष इनको कुछ भी स्पर्श नहीं करता है। यह दुर्लभ गति देवताओं-को भी काङ्क्षणीय तथा विषयी जीवोंकी सम्पूर्ण अगम्य है। वेदमें जो देवयान गतिका वर्णन है उसी गतिके द्वारा ज्ञानप्रधान संस्कारके फलसे ब्रह्मलोकप्राप्ति होती है, अथवा उपासना द्वारा षष्ठलोक प्राप्तिके बाद षष्ठलोकमें उत्तम संस्कार अर्जन करके भी सप्तम लोकमें साधक आ सकते हैं। इसके विषयमें छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है :—

ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भव-न्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडु-दङ्डेति मासांस्तान्। मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्य-मादित्याच्चन्द्रमसं चंद्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनां ब्रह्म गमयत्येव देवयानः पन्था इति।

निवृत्तिसेवी जो मुनिगण अरण्यमें निवास करके श्रद्धाके साथ तपस्या, उपा-सना आदिका आचरण करते हैं, शरीरत्यागानन्तर उनको उत्तरायण गति मिलती है। वे प्रथमतः अर्चिरभिमानिनी देवताके लोक, तदनन्दर क्रमशः दिवसाभिमानिनी देवताओंके लोक, आपूर्यमाणपक्ष देवलोक, षण्मास देवलोक संवत्सर देवलोक, आदि-त्यदेवलोक और चन्द्रदेवलोकको अतिक्रम करके विद्युद् देवलोकको प्राप्त होते हैं। वहाँसे एक अमानव पुरुष आकर उन्हें ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं। इसीको देवयान पन्था कहते हैं। इस प्रकारसे ब्रह्मलोकमें पहुँच कर वे सब ब्रह्मलोकमें वर्षोंतक निवास करते हैं। पश्चात् ब्रह्माके लयके साथ ही साथ परब्रह्ममें विलीन हो जोते हैं। यथा स्मृतिमें :—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

वे ब्रह्मलोकमें परमात्माका साक्षात्कार लाभ करके ब्रह्माके लयके साथ परब्रह्ममें विलीन होकर निर्वाणमुक्तिपद लाभ कर लेते हैं। इस विषयमें मुण्डकोप-निषद्में लिखा है, यथा :—

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

भिक्षान्नग्रहण करते हुए जो शान्त विद्वान् पुरुषगण अरण्यमें निवास करते हैं और श्रद्धासहित तपस्यादि करते हैं वे सूर्यद्वारपथ अर्थात् देवयान-पथ द्वारा अव्यय अमृत पुरुषके लोक ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं ! वेदान्तज्ञानसे लब्धतत्त्व, संन्यासयोगके द्वारा शुद्धसत्त्व यतिगण ब्रह्मलोकमें ब्रह्माकी आयुः-काल तक निवास करके उन्हींके साथ परब्रह्ममें विलीन हो मुक्त हो जाते हैं । यही सब ब्रह्मलोकके अधिवासी तथा वहाँसे मुक्ति लाभका वृत्तान्त है । ब्रह्मलोकमें कैसे कैसे पदार्थ ब्रह्मलोकवासियोंको प्राप्त होते हैं इसके कौषितकी तथा छान्दोग्योपनिषत् कथित प्रचुर वर्णन 'मुक्तितत्त्व' नामक अध्यायमें पहले ही बताये गये हैं, अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोंजन है ।

चतुर्दशलोक समीक्षा प्रसंगमें चतुर्दश लोकोंका वर्णन करके अब उनके उत्पत्ति तथा विनाशकालपर विचार किया जाता है । लोकोंकी उत्पत्तिके विषयमें श्रीभगवान् मनुने कहा है :—

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥

श्रीभगवान्के अतःकरणमें प्रजासृष्टिकी इच्छा होनेपर प्रथमतः एक स्वर्ण वर्ण अण्ड और उसमें प्रजापति ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है । ब्रह्मा उत्पन्न होकर उस अण्डपर अपने मानके एक वर्ष तक निवास करते हुए अपने ही ध्यानसे उस अण्डको द्विधा विभक्त कर देते हैं । उसके एक भागसे ऊपरके सातलोक और दूसरे भागसे सप्त अधोलोककी उत्पत्ति होती है । इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि महाप्रलयानन्तर सृष्टिके प्रक्कालमें चतुर्दश लोकोंकी उत्पत्ति होती है । तदनन्तर सृष्टिनियमानुसार इन सब लोकोंमें पूर्व वर्णित नाना श्रेणिके जीव, ऋषि, देवता, पितृ आदि उत्पन्न हो जाते हैं । और श्रीभगवान्के स्थिति नियमानुसार ब्रह्माण्डकी स्थितिदशामें इन सब लोक तथा लोकवासियोंकी स्थिति रहती है । तदनन्तर प्रलयदशामें प्रलयनिमानुसार इन लोकोंका नाश भी हो जाता है । वह नियम क्या है, इसके विषयमें शास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है । यथा विष्णुपुराणमें :—

ब्राह्मो नैमित्तिको नाम तस्यान्ते प्रतिसञ्चरः ।
तदा हि दह्यते सर्वं त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम् ॥
जनं प्रयान्ति तापार्ता महर्लोकनिवासिनः ॥

चार युग सहस्रवार बीत जानेपर ब्रह्माका एक दिन होता है। दिनके बाद जब रात्रि आती है तब ब्रह्मा निद्रित हो जाते हैं, उस समय नैमित्तिक प्रलयका उदय होता है, जिसमें नीचेके सात लोक और ऊपरके तीन लोक अर्थात् भूः, भुवः, स्वः लोक दग्ध हो जाते हैं। और महर्लोकवासी सिद्धगण दह्यमान नीचेके लोकोंके उत्तापसे दुःखित होकर जनलोकको चले जाते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि नैमित्तिक प्रयलके समय नीचेके सात लोक और ऊपरके तीन लोक इस प्रकारसे दस लोक नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर विष्णुके निद्रावस्थामें नीचेके सातलोक और ऊपरके चारलोक अर्थात् महर्लोक तक नष्ट हो जाते हैं। यही सब नैमित्तिक प्रलयमें लोकनाशकी व्यवस्था है। इस प्रकारसे नैमित्तिक प्रलय और आंशिक लोकनाश कई बार होते होते जब अन्तमें महाप्रलय या प्राकृतिक प्रलयका उदय होता है, तब चौदह लोकोंका एक बार ही नाश हो जाता है। यथा श्रीमद्भागवतके १२ स्कन्दमें:—

एष प्राकृतिको राजन् ! प्रलयो यत्र लीयते ।
अण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसादिते ॥

अर्थात् प्राकृतिक प्रलयके समय ब्रह्माण्डशरीरका समस्त उपादान अलग अलग होकर महाप्रकृतिमें समस्त ब्रह्माण्डप्रकृतिका विलय हो जाता है। इसीको सांख्यदर्शनमें "नाशः कारणलयः" निज कारणमें लय होना ही सृष्टिका नाश है, इस प्रकारसे वर्णित किया गया है। अतः शास्त्रप्रमाणसे निश्च हुआ कि, महाप्रलयानन्तर ब्रह्माण्डसृष्टिके समय सप्त अधोलोक तथा ऊर्द्ध्वलोकोंकी उत्पत्ति होती है, नैमित्तिक प्रलयमें पितामह ब्रह्माकी निद्राके समय दस लोकोंका नाश तथा भगवान् विष्णुकी निद्राके समय ग्यारह लोकोंका नाश होता है। और महाप्रलयकालमें जब ब्रह्मा विष्णु रुद्र सभी ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं, तब चौदह लोक एक बार ही नष्ट होकर स्वकारणमें विलीन हो जाते हैं। यही श्रुति स्मृति पुराणादि प्रतिपादित चतुर्दश लोकोंकी समीक्षा है।

सारांश यह है कि, अनादिअनन्तरूपधारी सर्वव्यापक विराट्पुरुष श्रीभगवान्के विराट् देहमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं और रहते हैं। इनमेंसे हमारे ब्रह्माण्डकी अवस्था, स्वरूप और स्थितिका जो कुछ वर्णन हमारे

वेदादि शास्त्रोंमें पाया जाता है उसका संक्षेप वर्णन यह है कि, हमारे ब्रह्माण्डके सृष्टि स्थिति लय करनेवाले त्रिदेव ही सगुण ब्रह्मरूपमें ब्रह्माण्डमें अधिष्ठान कर अपना अपना कार्य करते हैं। हमारा यह मृत्युलोक हमारे इस ब्रह्माण्डके चौदहवें अंशका एक चौथा अंश है। हमारे चारों ओर प्रेतलोक है। वह भी सूक्ष्मलोक है। उसके अतिरिक्त हमारे इस भूलोकसे सम्बन्धयुक्त और दो सूक्ष्म लोक हैं, जिनमेंसे दुःखभोग लोक नरक और सुखभोगलोक पितृलोक कहाता है। इस प्रकारसे भूलोकके चार अंग हुए यथा—मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक। इसके अतिरिक्त छः और ऊपरके लोक और सात नीचेके अधोलोक ये सभी सूक्ष्मलोक हैं। हमारा यह मृत्युलोक सबका केन्द्र है। क्योंकि यहीं मातृगर्भमें जन्म लेना पड़ता है, अन्य लोकोंमें मातृगर्भमें जन्म लेना नहीं पड़ता है। आवागमनचक्रमें घूमते हुए सभी लोकोंके जीवोंको इसी लोकमें आना पड़ता है। क्योंकि पृथ्वी कर्मभूमि है, यहां अच्छे बुरे कर्मोंके संग्रह करनेका मौका अधिक मिलता है, अन्य सब लोक भोगभूमि होनेके कारण उनमें ऐसा मौका अधिक नहीं मिलता है। शास्त्रमें जो सात समुद्रोंका वर्णन है, उनमेंसे केवल लवणसमुद्र मृत्युलोकका समुद्र है। बाकी छः समुद्र सूक्ष्मलोक सम्बन्धीय तथा अन्य प्रकारके हैं। शास्त्रोंमें जो सप्तद्वीपका वर्णन है, उनमेंसे केवल जम्बुद्वीपका एक विभाग हमारा मृत्युलोक है; बाकी सब सूक्ष्मलोक हैं। इस कारण यदि लौकिक भूगोलशास्त्रके साथ पुराणोक्त ब्रह्माण्डके सब वर्णनोंकी एकता न मिले तो पाठकोंको भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये। दूसरी ओर वेद पुराणादि शास्त्रोंमें जो नाना विभिन्न लोकोंकी वर्णनशैली पाई जाती है, उन वर्णनशैलियोंको स्थानान्तरमें कहे हुए समाधिभाषा परकीयभाषा तथा लौकिकभाषात्रयमेंसे लौकिकभाषाके लक्षणसे मिलाकर समझना चाहिये। इस प्रकारसे विचार करनेपर किसीके भी चित्तमें कोई शङ्का नहीं रह सकेगी तथा पूज्यपाद महर्षियोंके त्रिकालदर्शी होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण अनुसन्धित्सु जनोंको भली भाँति विदित हो सकेगा।

षष्ठ काण्डकी षष्ठशाखा समाप्त हुई।

—:o:—

परलोक समीक्षा

मृत्युके अनन्तर जीवकी गति और कहीं होती है, अथवा स्थूलशरीर-नाशके साथ ही साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है, इस विषयमें ज्ञानी, अज्ञानी, मूर्ख, पण्डित, सुखी, दुःखी सभीके हृदयमें कभी कभी प्रश्न उठा करता है। उद्दाम अनर्गल इन्द्रियवृत्तिके वशीभूत होकर जो लोग इहलोकके विषयभोगको ही सब कुछ समझते हैं, उनके भी हृदयमें विषयभोगकी दुःखमय प्रतिक्रियाके समय अवश्य ही यह प्रश्न उठता है कि,—"क्या इसी प्रकारसे हमारा चिरकाल कटेगा या इन सब सुखके सामानोंको छोड़ हमें किसी अदृश्य लोकमें अपने कुकर्मोंके फलभोगके लिये जाना पड़ेगा?" धर्मपरायण दुःखी जनोंके जीवनमें तो परलोक-चिन्ता तथा विश्वास परम अवलम्बनरूप ही है। क्योंकि धर्माचरण करनेपर भी जब वे देखते हैं कि, दुःखसे ही दिन कटता है तथा यह भी देखते हैं कि, प्रतिवेशी अधार्मिक दुराचारी पुरुष आनन्दसे आयु बिताते हैं, तो उनके दुःखदग्ध हृदयमें परलोकपर विश्वास ही शान्तिसुधाका सिञ्चन कर सकता है और उनको यह समझा सकता है कि, धर्मपरायण होनेपर भी उनके इस जन्मका दुःख पूर्व जन्मके किसी दुष्कृतिका ही फल है और इहलोकमें अनुष्ठित पुण्यकर्म्मोंका सुखमय सुफल उन्हें परलोकमें तथा परजन्ममें अवश्य ही प्राप्त होगा। इस प्रकारसे सुखी दुःखी, धार्मिक अधार्मिक सभीके हृदयमें परलोक-चिन्ता तथा परलोक-पर विश्वास होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त जिस भाग्यवान् ज्ञानी पुरुषके हृदयाकाशमें ज्ञानसूर्यका उदय हुआ है, जिसने ऋतम्भरा प्रज्ञाकी सहायतासे समस्त संशयजालको निवृत्त करके इहलोक परलोक तथा जन्म-जन्मान्तरके रहस्योंको करतलामलकवत् आयत्त कर लिया है, जिस आत्मदर्शी श्रेष्ठ पुरुषके विचार तथा अनुभवमें आत्मा जननमरणहीन नित्य वस्तु तथा मृत्यु केवल स्थूलशरीरका परिवर्तन और निद्राका रूपान्तर मात्र है, वह भी परलोकतत्त्वको एक रहस्यपूर्ण तथा अवश्य मीमांसायोग्य विषय समझकर, इस गम्भीर तत्त्वके समस्त सिद्धान्तोंको लोककल्याणके लिये प्रकट किया करता है। ऐसे ज्ञानी पुरुषोंको जीवका परलोकगमन या जन्मान्तरग्रहण कैसे

अनुभवमें आता है, इस विषयमें श्रीभगवान् वेदव्यासने महाभारतके अश्वमेध पर्वके १७ अध्यायमें लिखा है :—

यथान्धकारे खद्योतं लीयमानं ततस्ततः ।
चक्षुष्मन्तः प्रपश्यन्ति तथा च ज्ञानचक्षुषः ॥
पश्यन्त्येवंविधं सिद्धा जीवं दिव्येन चक्षुषा ।
च्यवन्तं जायमानञ्च योनिं चानुप्रवेशितम् ॥

जिस प्रकार नेत्रसे युक्त मनुष्य अँधेरेमें जुगुनुओंको इधर-उधर घूमते देख सकते हैं, उसी प्रकार ज्ञानचक्षुसम्पन्न सिद्ध महात्मागण जीवात्मा तथा सूक्ष्मशरीरको भी दिव्यदृष्टिके द्वारा एक स्थूलदेह छोड़कर देहान्तरमें प्रवेश करते हुए देखते हैं। गीतामें भी श्रीभगवान्ने कहा है :—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

जीवात्मा किस प्रकारसे शरीरमें ठहरता है, शरीरमेंसे निकलता है या त्रिगुणके आश्रयसे विषयोंका उपभोग करता है, इसको ज्ञानदृष्टिसम्पन्न महात्मा देख सकते हैं, मूढ़ मनुष्य नहीं देख सकते हैं।

ऊपर लिखित विचारोंसे सिद्ध हुआ कि परलोकके अस्तित्वके विषयमें चिन्ता तथा विश्वास करना जीवकी नैसर्गिक प्रवृत्ति है। वास्तवमें विवेकका गला घोंटे बिना यह विश्वास हृदयमें नहीं जमने पाता है कि, अनन्त संसारका यह अनन्त असीम उद्यम सभी क्षणविध्वंसी होगा, इसका कुछ भी अवशेष या संस्कार आगे नहीं चलेगा, समुद्रतरङ्गमें बुलबुलेकी तरह प्रकट होकर पुनः समुद्रजलमें ही वे सब विलीन हो जायँगे ; इतना जीवनसंग्राम, पुण्यसञ्चय, सत्पुरुषार्थ, तपस्या, साधना, इन्द्रियसंयमकी प्रबल चेष्टा, प्रियके प्रति हृदय-भरा प्रेम, स्नेहपात्रके प्रति हार्दिक स्नेह, श्रद्धा भक्ति सभी पाँच भूतोंके अलग अलग होते ही हवामें ही मिल जायँगे, अनन्तशून्यमें अनन्तकालके लिये लयप्राप्त हो जायँगे। इस प्रकारकी कठोर कल्पनाओंको हृदयवान् तथा बुद्धिमान् मनुष्य कभी हृदयमें स्थान नहीं दे सकते हैं। इसी कारण परलोक तथा जन्मजन्मान्तरकी नियमबद्ध शृंखलाके स्वीकार करनेमें अपनी अपनी आध्यात्मिक स्थितिके अनुसार असमर्थ होनेपर भी मुसलमान, इसाई आदि अनेक उपधर्मियोंने मरणानन्तर चिरसुखमय या चिरदुःखमय किसी प्रकारकी

जीवदशाको अवश्य ही स्वीकार किया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक पण्डित वैल्फोर्ड, स्टुआर्ट तथा पी० जी० टेट साहबने अपने प्रणीत 'अनसीन यूनिवर्स' नामक* पुस्तकमें लिखा है—"संसारके अधिकांश मनुष्य ही मृत्युके अनन्तर किसी न किसी प्रकारकी जीवित अवस्थाके विषयमें विश्वास रखते हैं तथा बहुत मनुष्य आत्माको चिर अमर कहते हैं। और यह निश्चय है कि, इस सिद्धान्तपर अविश्वास रखनेवाला भी अनेक मनुष्य, मनुष्यत्वके उच्च गुणोंसे युक्त होनेका दावा रखते हैं। परन्तु यह एक गहरा प्रश्न है कि, परलोक तथा जन्मान्तरपर विश्वास न रखनेपर भी हमारी जातिके अधिकांश लोग सुसभ्य तथा सुव्यवस्थित जातिके सद्गुणोंको कैसे सुरक्षित रख सकते हैं।" प्राचीन ग्रीक तथा इजिप्सियन जातिके धर्मग्रंथोंकी आलोचना करनेपर भी परलोक तथा पुनर्जन्मसम्बन्धीय सिद्धान्तकी बहुत कुछ पुष्टि होती है। दि डे आफ्टर डेथ्+नामक उनके एक ग्रंथमें लिखा है—"जीवका पुनर्जन्म नवीन सिद्धान्त नहीं है, यह सिद्धान्त जबसे जीव उत्पन्न हुआ है तभीसे है। इसका पता भारतवासी आर्यजातिसे ही इजिप्सियन जातिको लगा था, तदनन्तर ग्रीकजातिने इजिप्सियन जातिसे इसको पाया था और पीछेसे द्रुईदोंने इस सिद्धान्तको स्वीकार किया था।" इस प्रकारसे गवेषणापरायण अनेक उपधर्मियोंके प्राचीन ग्रन्थोंमें परलोकवाद तथा जन्मान्तरवादकी स्वीकृतिके विषयमें यथेष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। केवल अति स्थूलदृष्टिपरायण नित्यप्रत्यक्षवादी अविवेकी जन ही परलोक तथा

* The great majority of mankind have always believed in some fashion in a life after death; many in the essential immortality of the soul. But it is certain that we find many disbelievers in such doctrines, who yet retain the nobler attributes of humanity. It may, however, be questioned whether it be possible even to imagine the great bulk of our race to have lost their belief in a future state of existence and yet to have retained the virtues of civilized and well-ordered communities.—The Unseen Universe.

+ The re-incarnation of souls is not a new idea; it is on the contrary, an idea as old as humanity itself. It is the metampsychosis, which from the Indians passed to the Egyptians, from the Egyptians to the Greeks and which was afterwards professed by the Druids.—The Day after Death.

पुनर्जन्मपर विश्वास करनेमें कुण्ठित होते हैं और इसी लिये आर्यशास्त्रमें नास्तिकों-की कोटिमें इनकी गणना की गई है, यथा—शिवपुराणमें—

यथेहास्ति सुखं दुःखं सुकृतैर्दुष्कृतैरपि।
तथा परत्र चास्तीति मतिरास्तिक्यमुच्यते॥

जैसा कि पुण्य-पापकर्मानुसार इस लोकमें जीवोंको सुख-दुःख मिलते हैं, वैसा परलोकमें भी मिलते हैं, इस प्रकार जिसका विश्वास है, वही आस्तिक है। कैयटने भी लिखा है—

'परलोकोऽस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकस्तद्विपरीतो नास्तिकः'

परलोकपर जिसका विश्वास है वह आस्तिक है, औरउससे विपरीत विश्वास रखने वाला नास्तिक है। इस नास्तिक्यमेघको विदूरित करके श्रीभगवान् पतञ्जलिदेवने अलौकिक योगकी सूक्ष्म संयमक्रिया द्वारा परलोक तथा जन्मान्तर विज्ञानको योगीके नेत्रके सामने पूर्णरूपसे प्रकट कर दिया है और अपने योगदर्शनके तृतीय तथा द्वितीय पादमें स्पष्टाक्षरसे कह दिया है कि—

"संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्"
"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः"

संस्कारपर संमय करनेसे पूर्व जन्मका ज्ञान होता है। मनुष्य इहलोकमें जो कुछ कर्म करता है उसीके तीव्र संस्कारसे उसको आगामी जन्ममें भिन्न-भिन्न प्रकारकी जाति, आयु तथा सुख-दुःखादि भोग प्राप्त होते हैं।

इहलोक अर्थात् इस मृत्युलोकसे भिन्न सभी लोकोंको परलोक कहते हैं। इस कारण पूर्व अध्यायमें वर्णित भुवः स्वारादि कर्मानुसार प्राप्तव्य सभी ऊर्द्ध्वलोक तथा अतल वितलादि आसुरकर्मानुसार प्राप्तव्य सभी अधोलोक और असत्कर्मोंके द्वारा प्राप्तव्यदुःखमय नरकादि लोक सभी परलोक शब्द वाच्य हो सकते हैं। किन्तु इन सबोंका वर्णन जब पहले ही किया गया है, तो पुनरुक्ति न करके भूर्लोकके अन्तर्गत प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक नामक जो तीन सूक्ष्मलोक विद्यमान हैं और जिनमें जीव निज कर्मानुसार सुख-दुःख भोगनेके लिये जाते हैं, उन्हींकी समीक्षा 'परलोक समीक्षा' नामसे इस अध्यायमें की जाती है। क्योंकि उनके साथ ही जीवनका निकट सम्बन्ध है। तात्पर्य यह है कि, एक ब्रह्माण्डमें मृत्युलोकसे अतिरिक्त सभी सूक्ष्मलोक यद्यपि परलोक कहलाते हैं, परन्तु साधारण तौरपर परलोक शब्दवाच्य केवल

पितृलोक, नरकलोक और प्रेतलोक ही कहाते हैं, क्योंकि असत्कर्मके लिये दुःख-भोगके लोक केवल प्रेतलोक और नरकलोक हैं और साधारण सत्कार्यके फल-भोगके लिये पितृलोक ही यथेष्ट समझा जाता है। और बिना असाधारण बड़े-बड़े कर्म किये जीव अन्य लोकोंमें नहीं जा सकता है।

परलोकके विषयमें अनेक अनुसन्धान आजकल पाश्चात्य जगत्में हो रहे हैं। जैसा कि आर्थर कोनन डायल साहबने अपने 'दि न्यू रेभेलेशन' नामक ग्रन्थकी * प्रस्तावनामें लिखा है कि, मिस पाइपार नामिका मेमने परलोक विषयिणी दृष्टिके आश्रयसे कहा था कि, यूरोपमें पहले एक बड़ा भारी युद्ध होगा और उसके बाद परलोकके आत्माओंके साथ सम्बन्ध स्थापन तथा बात चीत करनेके अनेक उपाय मनुष्योंको विदित हो जायंगे; ठीक ऐसी ही घटना आजकल यूरोप तथा अमेरिकामें देखनेमें आ रही है। कोनन डायल साहबने तो अपने ग्रंथकी प्रारम्भिक ❀ सूचना ही इस बातपर की है कि, हम अपने परलोकगत इष्ट मित्रोंके आत्माओंके साथ निश्चय ही बात चीत कर सकते हैं। इसके सिवाय उन्होंने यह भी कहा है * कि, परलोकके तथा परलोकगत

* In the next century this will be astonishingly perceptible to the minds of men. I will also make a statement which you will surely see verified. Before the clear revelation of spirit communication there will be a terrible war in different parts of the world.– The New Revelation. P. 12.

❀ Can we or can we not speak with our beloved dead? Sir Arthur Conan Doyle answers, yes.—The New Revelation.

* Apart from personal experiences, this movement must gain great additional solidity from the wonderful literature which has sprung up around it during the last few years. If no other spiritual books were in existence than five which have appeared in the last year or so—I allude to Professor Lodge's 'Raymond', Arthur Hill's 'Psychical Investigations', Professor Crawford's 'Reality of Psychical Phenomena,' Professor Barret's 'Threshold of the Unseen' and Girald Balfour's 'Ear of Dionysius'—these five alone would, in my opinion, be sufficient to establish the facts for any reasonable enquirer.—The New Revelation Page 54.

आत्माओंके विषयमें सत्य घटनाएँ जाननी हों और इस विषयमें समस्त शङ्काओंका निराकरण करना हो, तो अलिभर लजका 'रेमण्ड' नामक ग्रन्थ, अर्थर हिल साहबका 'परलोक अनुसन्धान' नामक ग्रन्थ, प्रोफेसर क्रफोर्डका 'परलोकसम्बन्धीय घटनाओंकी सत्यता' नामक ग्रन्थ, प्रोफेसर वैरेटका 'अज्ञातराज्यके समीप' नामक ग्रंथ तथा गेरल्ड वैलफोरका 'इयन आफ् डायनिसीयस' नामक ग्रन्थ, इन पाँच ग्रन्थोंका अध्ययन करना हो यथेष्ट होगा। इस प्रकारसे परलोकसम्बन्धीय चर्चाकी अवतारणा करके कोनन डायल साहबने अपने ग्रन्थमें परलोकगत आत्माओंके साथ बात चीत करनेके बहुतसे उपाय भी बताये हैं। उन्होंने * लिखा है कि, प्रधानतः परलोकगत आत्मा किसी व्यक्तिके हाथको वशीभूत करके उसके द्वारा अपने वक्तव्य विषयोंको लिखाते हैं। और अनेक समय मुग्धवाणी, वशीभूत व्यक्ति द्वारा उच्चारित वाणी और कहीं कहीं प्रत्यक्ष वाणी द्वारा भी परलोकके संवाद जाने जाते हैं। पीठासन, दो चार व्यक्तियोंके सर्कल, बालकोंके हाथ आदिके द्वारा भी यह कार्य कभी कभी हो सकता है। इन बातोंपर यदि कोई अविश्वास करें और यह शंका करें कि, ऐसी बातें या तो जाग्रत अवस्थामें या किसी प्रकारकी मुग्ध अवस्थामें उक्त पात्र (medium) के द्वारा या उसके उन्नत आत्माके द्वारा लिखी जाती हैं, तो इसके उत्तरमें डायल साहब लिखते हैं कि, जब मिस जुलिया एमेस ग्रेड साहबको ऐसी बातें कहता हैं, जिनका पता तक उनको नहीं था और

* It comes in the main through automatic writing where the hand of the human medium is controlled, either by an alleged dead human being, as in the case of Miss Julia Ames or by an alleged higher teacher, as in that of Mr. Stainton Moses. These written communications are supplemented by a vast number of trance utterances and by the verbal messages of spirits, given through the lips of mediums. Sometimes it has even come by direct voices, as in the numerous cases detailed by Admiral Usborne Moore in his book "The Voices." Occasionally it has come through the family circle and tabletilting as for example in the two cases I have previously detailed within my own experience. Sometimes as in a case recorded by Mrs. De Morgan, it has come through the hand of a child.—The New Revelation, Pages. 61-62.

पीछेसे अनुसन्धान करनेपर वे सब सत्य निकली या जब रेमण्डका आत्मा ऐसी फोटो-की बात कहता है जिसकी कोई भी कापी इङ्गलेण्डमें नहीं थी और पीछेसे वह सब सत्य प्रमाणित हुआ या जब उसने किसी अनजान व्यक्तिके द्वारा अपने घरकी सब बात कही जो परीक्षा करनेपर सत्य प्रमाणित हुई, या जब अर्थर हिल साहब ऐसे व्यक्तिके द्वारा परलोकका संवाद पाते हैं, जिसके विषयमें उनको कुछ भी ज्ञात न था, किन्तु पश्चात् ये सब विषय ठीक प्रमाणित होते हैं, तो इस प्रकार परलोक सम्बन्धीय बातोंपर कोई भी शंका नहीं रह सकती है और पूर्ण विश्वास किया जा सकता है*

ऊपर कथित विषयोंकी सत्यताके प्रमाणरूपसे पाश्चात्य जगत्में अनेक घटनाओंका संग्रह हो रहा है, जिनके द्वारा स्पष्ट सिद्ध हो रहा है कि, पर-लोकगण आत्मा इहलोकके जीवोंके साथ नाना प्रकारसे बात चीत करते हैं तथा आत्मीय जनोंके साथ मृत्युके बाद मिलने भी आते हैं। सर अलिभर लाजके पुत्र रेमण्ड गत यूरोपीयन युद्धमें मृत्युके बाद उनके माता-पिता तथा कुटुम्बियोंके साथ किस प्रकारसे बात चीत करते थे, इसका पूरा वृत्तान्त अलिभर लजकृत 'रेमण्ड' नामक ग्रन्थमें दिया गया है, जिससे परलोकके

* Again, if Miss Julia Ames can tell Mr. Stead things in her own earth life of which he could not have cognisance and if those things are shown, when tested, to be true, then one is more inclined to think that those things which cannot be tested are true also. Or once again, if Raymond can tell us of a photograph no copy of which had reached England and which proved to be exactly as he descaibed it and if he can give us, through the lips of strangeis all sorts of details of his home life, which his own relatives had to verify before they found them to be true, is it unreasonable to suppose that he is fairly accurate in his description of his own experiedces and state of life at the very moment at which he is communicating? Or when Mr. Arthur Hill receives messages from folk of whom he never heard and afterwards verifies that they are true in every detail is it not a fair inference that they are speaking truths also when they give any light upon their present condition?—The New Revelation, page-64-65.

विषयमें पूर्ण विश्वासके साथ सर अलिभर लज साहबने अपने ग्रंथमें* लिखा है—"मैंने तथा कुछ और लोगोंने क्रमशः यह यथार्थ ज्ञान पाया है कि, मृत तथा जीवित जीवोंके बीचमें वास्तविक कोई पार्थक्यजनक अन्तर नहीं है। मेरे पुत्रके द्वारा मुझे इस विषयमें विश्वासयोग्य प्रमाण प्राप्त हुए हैं और उसकी इच्छा है कि, मैं इस विषयका ज्ञान संसारमें भी प्रकट करूँ और इसलिये मैं अपना अनुभव जगत्के सम्मुख अवश्य रक्खूंगा। मैं मरणानन्तर जीवनके विषयमें उतना ही विश्वास रखता हूँ, जितना मरणसे पूर्व जीवनके विषयमें मेरा विश्वास है। केवल इतना ही नहीं अधिकन्तु मुझे यह पूर्ण विश्वास है कि, मनुष्यलोकके नीचे तथा मनुष्यलोकके ऊपर ऐसे अनेक लोक हैं, जिनमें अनेक प्रकारके उच्च तथा नीच कोटिके जीव निवास करते हैं।" परलोकगत आत्मा किस प्रकारसे बात चीत करते हैं, इस विषयमें अथंर हिलके "मैन ईज ए स्पिरिट" नामक पुस्तकमें एक घटना बताई गई है। उसमें कैप्टेन जेम्स वर्टननेॐ लिखा है—"मेरे पिताकी मृत्युके एक सप्ताह बाद मैं एक पत्र लिख रहा था, इतनेमें मुझे जान पड़ा कि, मेरे हाथ और मस्तिष्कके बीचमें कोई तीसरी चीज

* There is no real breach of continuity between the dead and the living······I and some others have been gradually convinced. My son has given me convincing evidence, moreover he wants me to speak out and I shall. I am as convinced of continued existence on the other side of death, as I am of existence here·······I shall go farther and say I am reasonably convinced of the existence of granes of being not only lower in the scale than man but higher also, grades of every order of magnitude from zero to infinity.—Raymond or Life and Death by Sir Oliver Lodge.

* A week after my father's funeral I was writing a business letter, when something seemed to intervene between my hand and the motor centres of my brain and the hand wrote at an amazing rate a letter, signed with my father's signature and purporting to come from him. For a year after this letters came frequently and always at unexpected times. I never knew what they contained until I examined them with a magnifying glass. They were microscopic. And they

आ रही है और उसी समय मेरे हाथके द्वारा बड़ी शीघ्रताके साथ एक पत्र लिखा गया जिसमें मेरे मृत-पिताका हस्ताक्षर था। एक वर्षके बाद ऐसे अनेक पत्र मेरे पिताने मेरे हाथके द्वारा प्रकट किये, जिनके अक्षर बहुत छोटे-छोटे थे और विषय भी मुझसे ठीक-ठीक समझे नहीं गये। मैं जहाँ रहता था, उससे ६० मील दूरपर मेरी माता रहती थीं। उनके पास मेरे पिताका दिया हुआ जो एक कुत्ता था, वह अचानक मर गया। उसी रातको मेरे पिताने मुझे लिख दिया कि, मेरी माता दुःख न करें क्योंकि वह कुत्ता अब पिताके पास है। जिन वस्तुओंसे उनको आनन्द मिलते हैं, वे उनके पास रहा करते हैं। एक अति गुप्त विषय जो मुझे मालुम नहीं था, केवल मेरे पिता और माताको ही मालुम था, वह भी एक दिन पिताने मेरे हाथसे लिखवाया और यह भी लिखा कि "तुम अपनी मातासे यह गुप्त विषय कह दो जिससे उसे मालूम पड़े कि, मैं ही लिख रहा हूँ," इस प्रकारसे परलोकगत आत्माके दर्शनके विषयमें भी कई एक प्रमाण पश्चिमदेशीय लोगोंको प्राप्त हुए हैं। सर अलिभर लज साहबने स्वप्रणीत "सरह्वैमल आफ् मैन" नामक ग्रंथमें ऐसी ही एक घटनाका वर्णन किया है। यह घटना मिस पैकेट साहेबाके विषयमें डाक्टर हड्सन् साहबने बताई है। उसमें यह* लिखा है कि, मिस पैकेट १८८९ सालके २४ अक्टूबरको प्रातःकाल चा बना रही थी, इतनेमें

---

contained a vast amount of matter with which is was impossible for me to be acquainted.

Unknown to me, my mother, who was staying some sixty miles away, lost her pet dog which my father had given her. The same night I had a letter from him condoling with her and stating that the dog was now with him. 'All things which love us and are necessary to our happiness in the world are with us here. A most sacred secret known to no one but my father and mother, concerning a matter which occurred years before I was born, was afterwards told me in the script with the comment :—'Tell your mother this and she will know that it is I, your father, who am writing.'—The New Revelation, Page 156-157.

*** Mrs. Paquet on the morning of October 24 th, 1889, after her husband had gone to work, was making some tea for**

उन्होंने उनके भ्राता एड्मण्ड उनकी मूर्तिको देखा। वह समुद्रमें डूब रहा था। थोड़ी देर बाद उनके पतिको तार मिला कि, एड्मण्ड डूब कर मर गया है और ठीक उसी समय मरा है, जिस समय उसकी भगिनी पैकेट साहेबाको उसकी मूर्त्ति देख पड़ी थी। इस घटनासे मृत पुरुषकी आत्मा दिखाई दे सकती है, यह बात सिद्ध होती है।

परलोकगत आत्माके साथ नाना प्रकारसे बातचीत करके पश्चिम देशीय लोग आजकल पितृलोक, प्रेतलोक आदिके विषयमें बहुत कुछ अपूर्व संवाद प्राप्त कर रहे हैं। रेमण्डके आत्माके साथ बात करके जो कुछ संवाद विदित हुए थे, उसका पूरा वृत्तान्त सर अलिभर लज़ने * रेमण्ड नामक ग्रन्थमें उद्धृत कर दिया है। नीचे उसमेंसे कुछ विषय दिये जाते हैं।

---

herself when she saw a vision of her brother, Edmund Dunn. standing only a few feet away and her report continues :-

The apparition stood with back toward me or rather partially so and was in the act of falling forward-away from me. The vision lasted but a moment disappearing over a low railing, but was very distinct. I dropped the tea, clasped my hands to my face and exclaimed, 'My God! Edmund is drowned.'

At about half-past ten A. M. my husband received a telegram, from Chicago announcing the drowning of my brother. When he arrived home; he said to me 'Edmund is sick in hospital at Chicago' to which I replied 'Edmund is drowned, I saw him go overboard.'-Statement of accident.

On October 24th, 1889, Edmund Dunn, brother of Mrs. Agnes Paquel, was serving as fireman on the tug Wolf, a small steamer engaged in towing vessels in Chicago harbour. At about 3 o'clock A. M. the tug fastened to a vessel, inside the piers to tow her up the river. While abjusting the tow-line Mr. Dunn fell or was thrown overboard by the tow-line and drowned.—The Survival of Man Pages 81-82

* "He lives in a house, built of bricks—there are trees and flowers, night does not follow the day here. There is something rising from earth-planes through various changes and solidifies on our plane. My boby is very similar to the one

"रेमण्ड एक मकानमें रहता है जो ईंटका सा बना हुआ प्रतीत होता है, वहांपर वृक्ष तथा पुष्प भी है। वहाँ दिनके बाद रात नहीं होती है। पृथिवीसे कुछ सूक्ष्म वस्तू ऊपरको जाती है, जो वहाँ पहुँच कर गाढ़ी हो जाती है और उससे मकानात बनते हैं। उनका शरीर जीवितावस्थाके जैसे है। किन्तु स्थूलशरीर जैसे चोट इसमें मालूम नहीं पड़ती है। शरीरके भीतरके यन्त्रसमूह पहलेकी तरह बने हुए नही हैं। पहलेकी अपेक्षा स्वतन्त्रता तथा शीघ्रताके साथ वे घूम सकते हैं, यहाँके शरीरसे रक्त कभी नहीं निकलता है। उसको आँख आदि मिली है, युद्धमें एक मनुष्यका हाथ कट गया था, उसको एक नया हाथ मिला है। वहांपर डाक्टर लोग भी रहते हैं। उन्होंने ऐसा एक आत्मा देखा है जिसका स्थूल शरीर अलग नहीं हो रहा था, किन्तु यहांके डाक्टरोंने उसे अलग कर दिया। यहां उनको खानेकी इच्छा

I had before. I pinch myself sometimes to see if it is real, it is, but it does not seem to hurt as much as when I pierced the fleshy body. The internal organs do not seem constituted on the same lines as before. I can move somewhat more freely. Oh ! there is one thing, I have never seen anybody bleed. I have got eyes etc. I saw a man who had lost his arm in war but he has got another one. There are spirit doctors on our side.

"They saw the spirit had not got out of the bodp. They magnetised it and helped it out. I do not want to eat now. I see some who do; they have to be given something which has all the appearance of earth food. There are men here and there are women here. I don't think they stand to each other quite the same as they did on the earth plane but they seem to have the same feeling to each other, with a different expression of it. There don't seem to be any children born here. But there is a feeling of love between men and women here which is of a different quality. I see stars, the sun ; he does not feel heat or cold where he is, the reason is not the sun has lost its heat, but he has not the same body that sensed it, when he comes in to contact with the earth plane he feels heat or cold." Raymond pages 184.200.

नहीं होती है। कोई कोई लोग खाते भी हैं। उनका खाना मर्त्यलोकके खानेकी तरह ही है। वहांपर स्त्री-पुरुष दोनों ही रहते हैं। किन्तु मर्त्यलोककी तरह वहांपर दोनोंका सम्बन्ध नहीं है। वहांपर किसीको सन्तान उत्पन्न नहीं होती है। उनके प्रेम भी और तरहके मालूम होते हैं। वे सूर्य, नक्षत्र आदिको देखते हैं। किन्तु उत्ताप या शीत कुछ भी वहांपर प्रतीत नहीं होता है। इसका यह कारण नहीं है कि, सूर्यमें उत्ताप नहीं रहा, किन्तु उनका ही वह शरीर बदल गया है, जिसमें शीत ग्रीष्म प्रतीत होता था।" इत्यादि। इस प्रकारसे सर आर्थर कोनन डांयलको भी परलोकगत आत्माके द्वारा बहुतसी अपूर्व बातें अनुभवमें आ गई हैं, जिनको उन्होंने 'दी न्यू रेभेलेशन' नामक ग्रन्थमें प्रकाशित किया है। यहां उनमेंसे कुछ बातें दी जाती हैं। "परलोकगत आत्माओं-का निवासस्थान इस मृत्युलोककी चारों ओर ही सूक्ष्मरूपसे है। उनको ग्रह-नक्षत्रोंके विषयमें ज्ञान रहता है। वे जानते हैं कि, मङ्गल ग्रहमें पृथिवी लोकसे उत्तमकोटिके जीव वसते हैं। परलोकमें शारीरिक कष्ट नहीं है, मानसिक क्लेश या उद्वेग वहांपर हो सकते हैं, वहांके आत्माओंपर शासक भी रहते है। वहां आनन्द तथा सङ्गीतकी चर्चा अधिक होती रहती है। वह प्रकाश तथा हास्यविलासमय स्थान है। वहांपर धनीं या निर्धन कोई नहीं है, किन्तु साधारणरूपसे सभी मृत्युलोकसे अधिक सुखी रहते हैं। जो लोग मृत्युलोकमें उपासनादि करते हैं, उनको वहांपर अच्छी स्थिति मिलती है। मृत्युलोककी अपेक्षा अनेक सूक्ष्मतर बातें वहांपर अनुभवमें आने लगती हैं। स्थूलशरीर त्याग होते ही जीव देखता है कि, ठीक उसीके अनुरूप उससे सूक्ष्म एक शरीर उसे मिल गया है, किन्तु उसमें रोग, शोक, अङ्गवैकल्य आदि नहीं है। यह नूतन देह पूर्वदेहके पास ही है और अपनेको तथा पूर्वदेह और कुटुम्बियोंको भी वह देख रहा है। इस समय मृत आत्मा पूर्व-शरीरके बहुत ही पास रहता है और इसी कारण चिन्ताके अनुसार अन्यान्य कुटुम्बियोंको दिखाई भी दे सकता है। इस समय प्रयत्न करनेपर उसकी बात या स्पर्श स्थूलशरीरधारी कुटुम्बियोंको जान नहीं पड़ता है। क्योंकि स्थूलशरीरके यन्त्र आदि उस आत्माके सूक्ष्म विषयोंके ग्रहणमें असमर्थ होते हैं। वह यह भी देखता है कि, उस घरमें और भी अनेक आत्मा हैं, जो पहले इह-लोकको छोड़ चुके हैं, अब वे उसको प्रेमसे बुला रहे हैं, आलिंगन कर रहे हैं और अब वह उनके तथा और कुछ उज्ज्वलशरीर आत्माओंके द्वारा चालित

होकर स्थूल वस्तुओंको भेद करके शून्यमें जा रहा है। उसके लिये स्थूल वस्तु स्थानावरोध नहीं कर सकती हैं। स्थूलशरीर छोड़कर नवीन जीवन प्राप्त करनेसे पहले कुछ देर तक आत्माको मूर्च्छा, निद्रा तथा दुर्बलता रहती है। पीछेसे धीरे-धीरे बल आ जाता है। इस लोकके सभी जीव परलोकमें एक साथ नहीं रह सकते हैं। किन्तु जिनके परस्परमें प्रेम सम्बन्ध रहता है वे प्रायः एक साथ रहते हैं*।" इत्यादि-इत्यादि अनेक विषय डायल साहबने लिखे हैं। आलेन करडेक साहबकी "स्वर्ग और नरक" नामक पुस्तकमें एक अपूर्व घटना मिलती है। उसमें लिखा है कि, फ्राँस देशकी राज धानी पेरी नगरमें एक स्पीरीच्युअलीज्म विद्याकी सभा थी; उसमें उस नगरके बहुत बड़े-बड़े मनुष्य सभ्य थे। जिनमेंसे माँसन साहबके नामसे इस सभामें एक प्रतिष्ठित सभ्य समझे जाते थे। उनकी मृत्यु होनेके एक वर्ष पूर्व वे पीड़ित हुए, और उस पीड़ामें उन्होंने नाना क्लेश पाया। शरीर त्याग करते समय उन्होंने इस सभाके सभापतिको एक पत्र लिखा कि,—"मेरे देहान्तर-प्राप्तिके अनन्तर ही मेरी आत्माको आप लोग अवश्य बुलाइयेगा, और किस-किस रूपसे आत्मा शरीरको त्याग करता है और उस समय जो-जो अनुभव होता है उस विषयमें आप लोग मेरी आत्मासे विशेष प्रश्न करियेगा, तो मैं अवश्य ही उस सूक्ष्म शरीरमें आप लोगोंको इस आध्यात्मिक ज्ञानका विस्तारित विवरण ज्ञात करूँगा"। सन् १८६२ ईस्वीकी तारीख २१ अप्रेलको इस साहबके परलोकगमन-के थोड़ी देरके अनन्तर ही उस स्थानमें जा कर मृतशरीरके पास ही सभा अर्थात् चक्र करके सभ्यगण बैठ और नियमित ईश्वर उपासनाके पश्चात् उनकी आत्माका आवाह्न किया गया। इस चक्रमें बहुत शीघ्र ही मृतपुरुषकी आत्मा आ गई; तब प्रश्न और उत्तर होने लगे।

प्रश्न—प्यारे भाई! तुम्हारी इच्छाके अनुसार इस समय हम लोगोंने तुमको बुलाया है।

उत्तर—भगवान्‌की स्तुति करो, उन्हींकी कृपासे मैं तुम्हारे समीप इस समय आ सका हूँ। किन्तु मैं बड़ा ही दुर्बल हूँ, थर-थर कांप रहा हूँ।

* The NeW Revelation Pages 31—97.

प्रश्न—परलोकगमन करनेके पूर्व तुमको यहाँ बड़ा ही कष्ट हुआ था, इस समय भी क्या तुमको वे सब कष्ट अनुभव होते हैं? दो दिन पहिलेकी अवस्थासे आजकी अवस्था मिलाकर कहो तो कि, तुमको कैसा अनुभव होता है?

उत्तर—पहिले जितने कष्ट थे वे सब इस समय कुछ नहीं है। इस समय बड़ा सुख अनुभव होता है। मेरा शरीर नूतन बन गया है। जन्म ही नूतन अनुभव होता है। मृत्तिकाके शरीरसे आत्मा किस प्रकारसे निकली सो मैं पहिले कुछ नहीं समझ सका। उस समय बहुतसी आत्मायें अज्ञान अवस्थामें रहती हैं, किन्तु मरनेके पूर्व मैंने और मेरे प्रिय लोगोंने भगवान्‌की प्रार्थना की थी कि, मरनेके पश्चात् मुझको बातचीत करनेकी शक्ति बनी रहे और श्रीभगवान् ही की कृपासे मुझमें वह शक्ति इस समय है।

प्रश्न—मरनेसे कितने समय पश्चात् आपको ज्ञान प्राप्त हुआ था?

उत्तर—प्रायः आधा घण्टा। इस लिये भी मैं भगवान्‌का गुणानुवाद करता हूँ।

प्रश्न—आप किस प्रकारसे जानते हैं कि, आप इस पृथिवीसे वहाँ गये हैं?

उत्तर—इस विषयमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है। जब मैं पृथिवीमें रहता था, तब अपनी आयु सदा परोपकारमें व्यतीत करता था। इस समय आत्मभूमिमें रहकर सत्यानुसन्धानका प्रचार करनेके लिये आध्यात्मिक विज्ञानशास्त्र मनुष्योंमें प्रचारित करूँगा। मैं अच्छा था, इस कारण अब इस समय सबल हुआ हूँ-मानों नूतन कलेवर मिल गया है। यदिच मुझे इस समय आप देखेंगे, तो पुनः उस गाल वैठे, दाँत गिरे बूढ़ेका मनन भूल जायँगे; क्योंकि अब मैं पूर्ण नवयुवक बन गया हूँ। इस आत्मभूमिमें पूर्व माँसका लोथड़ा बन देहधारण किये हुए बिचरना नहीं पड़ता; यहाँका शरीर अति सूक्ष्म है। यह असीम विश्वजगत् मेरा गृह है; और उसी विश्व-पिताके समान सम्पूर्ण होकर मेरा भविष्यत् भाग्य है। मुझको अपनी सन्तानोंसे वार्तालाप करनेकी इच्छा होती है, कदाचित् वे मेरी यह अवस्था देखकर अपना विश्वास परिवर्तन कर सकें।

प्रश्न—तुमको अपनी यह मृत देह देखकर मनमें कैसा भाव होता है?

उत्तर—अहा! शरीर तो मृत्तिका ही हो जायगा, किन्तु इसके द्वारा मैं आप लोगोंसे परिचित था। मेरी आत्माका वासस्थान, इस शरीरने मेरी

आत्माको पवित्र करनेके लिये कितने दिनों पर्यन्त कैसा-कैसा कष्ट सहा है ! देह ! तुम्हारी ही कृपासे मुझे आज यह सुख मिल रहा है।

प्रश्न—आपको क्या मरनेके समय तक ज्ञान था ? तब आपके मनका भाव कैसा था ?

उत्तर—हाँ था—उस समयमें चर्म चक्षुके द्वारा नहीं देख सकता था, परन्तु ज्ञान चक्षुके द्वारा सब कुछ देखता था। पृथिवीके सब काम मनमें उदय होने लगे। ठीक शरीरसे पृथक् होते समय आत्मा दृष्टिहीन हो गया; पुनः अनुभव होने लगा कि किसी अनजान शून्याकार आकारको धारण करके मैं चल रहा हूँ। पुनः थोड़ी देरमें एक अद्भुत आनन्दमय स्थानमें पहुँच गया ; वहाँ सब दुःख भूल गया और तब मैं एक अपार आनन्दसागरमें मग्न होने लगा।

प्रश्न—आप क्या जानते हैं–(सम्पूर्ण बात मुखसे बाहर भी नहीं हुई थी कि, उत्तर लिखा जाना आरम्भ हो गया)

उत्तर—जो लिखते हो सो अवश्य अवश्य होगा। श्मशान भूमि और मृतक-शरीर देखकर लोगोंको परकालकी स्मृति और नास्तिकोंके मनमें भय उत्पन्न हुआ करता है, इस लिये धर्मसम्बन्धमें मेरी जो कुछ सम्मति है, उसे सब लोगोंपर विदित कर दो, क्योंकि इससे बहुतसा उपकार मनुष्यसमाजको पहुँचेगा।

पुनः जब मृतकशरीर पृथिवीके नीचे रक्खा जाने लगा तब चक्रमें लिखा कि–"हे भाइयो ! मृत्युसे भय कदापि मत करो। पृथिवीके सब दुःखोंमें धैर्य्य अवलम्बन-पूर्वक सत्यपथमें सब समय विचरण करनेका यत्न करो, तब असीम सुखको अपने सामने देखोगे। हे बन्धुगण ! सदा सत्यके प्रचारमें प्रवृत्त रहो; इस विषयको सदा मनमें रखना उचित है कि, पृथिवीमें वे ही लोग सुखसे चारों ओर वेष्टित हो सकते हैं कि, जो और लोगोंको सुखसे वञ्चित न करते हों; सो इस कारण यदि सच्चे सुख और पूर्ण सुखके पानेकी इच्छा हो तो दूसरोंको सुखी करो"। तत्पश्चात् उस दिन पैरी नगरकी उस सभाने अपना कार्य बन्द किया ; और पुनः उसी सन्के और उसी महीनेके पच्चीसवीं तारीखको पुनः अपनी सभाका अधिवेशन किया, और तब चक्रमें उन्हीं साहबकी आत्मा पुनः आनेपर प्रश्न और उत्तर होने लगा।

प्रश्न—मरनेके समय क्या बड़ा कष्ट होता है ?

उत्तर—जरूर कष्ट होता है। पृथिवीमें रहनेका समय केवल दुःखका समय है, और मृत्यु उसी दुःखकी पूर्णाहुति है। आत्मा शरीरसे अलग होनेके पहिले, सम्पूर्ण देहसे तेज खीच लेता है। इसीको सब लोग मरनेका कष्ट कहते हैं, इस खिचावमें आत्मा अचेत हो जाता है।

प्रश्न—अच्छा, शरीरसे अलग होनेके कुछ पहिले आपकी आत्मा आत्मभूमिको देख सकी थी ?

उत्तर—इस प्रश्नका उत्तर पहिले ही दे चुका हूँ। मैंने वहाँ पहुँचकर अपने आत्मीय सम्बन्धियोंको देखा। उन लोगोंने बड़े आनन्दके साथ मेरा स्वागत किया। शरीरके नीरोग और बलवान् हो जानेमें आनन्दके साथ शून्य स्थानमें मैं चलने लगा। पथमें मैंने जिन जिन पदार्थोंको देखा उनकी आश्चर्य-सुन्दरता वर्णन करनेके योग्य शब्द ही संसारमें नहीं है; केवल यह ही समझ लेना उचित है कि, तुम लोग पृथिवीमें जिन पदार्थोंको सुख कहा करते हो वह केवल उपन्यास मात्र हैं। तुम लोगोंके बड़े कवियोंकी कल्पना भी वहाँके सुखकी एक छोटेसे छोटे अंश वर्णन करनेको समर्थ नहीं हो सकती।

प्रश्न—परलोकगामी आत्मा सब देखनेमें कैसे होते हैं ? उन लोगोंके भी क्या मनुष्यके नाईं हाथ पाँव आँख मुँह आदि हुआ करते हैं ?

उत्तर—हाँ वैसे ही होते हैं, वेभी ठीक मनुष्यके नाईं आकारविशिष्ट हुआ करते हैं। केवल भेद इतना ही है कि, मनुष्योंका शरीर बहुत मोटा और भद्दा हुआ करता है तथा बुढ़ापेसे अथवा शोकके दुःखसे जीर्ण हो जाता है; परन्तु परलोकगामी आत्माओंका शरीर बहुत सूक्ष्म और अति सुन्दर होता है। वे अति अल्पचेष्टासे ही चल फिर सकते हैं और जरा आदिसे उनके शरीरमें कोई भी विघ्न नहीं पड़ता। हम लोग अपनी इच्छाके अनुसार जहाँ चाहें वहीं रह सकते हैं; यह देखो इस समय मैं तुम्हारे पास ही हूँ, और तुम्हारे हाथ पर हाथ रक्खे हूँ, परन्तु तो भी तुम कुछ भी अनुभव करनेको समर्थ नहीं हो। हम लोगोंकी आँखें सब द्रव्योंके भीतर और बाहरके सब पदार्थोंको देख सक्ती हैं।

प्रश्न—आप लोग किसीके मनकी बात कैसे जान सकते हैं ?

उत्तर—यह कारण तुम लोग शीघ्र नहीं समझ सकोगे। धीरज धारण करके संसारमें धर्म करो तब सब कुछ आपही आप समझ जाओगे। तुम लोगोंके

मनकी चिन्ता चारों ओरके आकाशमें अङ्कित हो जाता है, और उन्हीं चिन्ताओंको परलोकगामी आत्मागण पढ़ सकते हैं।

इस प्रकारसे स्पीरीच्युअलीज्म सभामें वैज्ञानिक चक्र द्वारा परलोकगामी आत्माओंसे कथोपकथन करके यूरोप और अमेरिकाके अनेक विद्वान्‌गण आध्यात्मिकजगत्‌के अनेक सम्वाद विदित कर पुस्तकाकार प्रकाशित कर चुके हैं। ऐसे लोगोंमेंसे अमेरिकादेशवासी जौन डब्लू एडमएड्स (John W. Edmonds.) साहबके नामसे एक प्रतिष्ठित पुरुष थे; वे वहांके अदालतके एक बड़े और मानी जज थे, और जिनके वाक्यपर समस्त अमेरिकावासियों-का विश्वास है। यह साहब प्रथम पाश्चात्य ज्ञान-शैलीके अनुसार इन विषयोंको कुछ भी नहीं मानते थे, परन्तु सत्य अनुसंधान करनेमें दृढ़व्रत थे, इस कारण न माननेपर भी क्रमशः सत्य घटनाओंको देखते देखते उनका विश्वास परलोक विषयक स्पीरीच्युअलीज्म शास्त्रपर जम गया, और शेषमें वे एक इस शास्त्रके प्रधान आचार्य्य वन गये। उन्होंने अपना पूर्व अन्ध विश्वास और पश्चात्‌के ज्ञान पूर्ण अनुसन्धान समूहोंको विस्तारसे सन् १८५३ ईस्वीमें छपी हुई "स्पीरीच्युअलीज्म" नामक पुस्तकमें लिखा है। साहबने अपनी पुस्तकमें लिखा है कि, "जब मेरा विश्वास इस विद्यापर हो गया और मैं अपने ही ज्ञान द्वारा अनुसन्धान करने लगा तो मुझे इन निम्नलिखित सात विषयोंपर विश्वास दृढ़ करना पड़ा।

(१) इस पृथिवीपर आयु समाप्त करनेके अनन्तर मनुष्यके आत्माकी स्थिति रहती है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। बहुतसे सच्चे धार्मिक मनुष्योंको इस पार-लौकिक विषयमें खोज करते देखा, परन्तु अवशेषमें उनको अपने इसी सिद्धान्तपर स्थिर होते देखा गया है।

(२) जिन लोगोंको हम पृथिवीपर प्यार करते हैं उन लोगोंसे हम लोगोंकी स्वतन्त्रता मृत्युके द्वारा नहीं हो सकती। हमारे प्रियजन परलोक गमनके अनन्तर हम लोगोंके साथ सूक्ष्म शरीरमें रह कर हमारी रक्षा कर सकते हैं। तत्पश्चात् यदि हम लोग धर्म पथ पर चलें तो हमारे परलोकगमन होनेपर उनसे मेल हो सकता है, अथवा कदाचित् यहीं मेल हो सकता है। यदि केवल मैं ही मेरे प्रियजनोंसे मिलता तो ऐसी बात नहीं लिख सकता किन्तु जितने लोग हमारे साथ चक्रमें बैठा करते थे प्रायः वे सब ही अपने प्रियजनोंसे मिले हैं, इस कारण हमारा विश्वास अकाट्य है।

(३) यह भी सिद्ध हो चुका है कि, हम लोगोंके मनके बहुत गुप्त सम्वाद परलोकगामी आत्माओंको विदित हो सकते हैं और उनको वे प्रकाशित भी कर सकते हैं। इसका प्रमाण इस शास्त्रके अभ्यासकर्त्तामात्रको अवश्य ही मिला करता है।

(४) परलोकगामी आत्माओंमें अवस्थाभेद है, और परलोकमें भी निकृष्टता और उत्कृष्टता है। अपने कर्मोंके अनुसार परलोकगामी जीवगण उत्कृष्ट और निकृष्ट दशाको प्राप्त हुआ करते हैं।

(५) यह बात सिद्ध ही है कि, हम जैसा कर्म करेंगे ठीक वैसा ही फल हम लोगोंको परलोकमें मिलेगा। हमारे परजन्ममें सुख और दुःखकी प्राप्ति हमारे हाथ ही है। इस कारण हमलोगोंको सदा सत्कर्म अनुष्ठान करना उचित है और भविष्यत्के लिये ईश्वरकृपा और अपने कर्मोंपर निर्भर करना उचित है।

(६) मुझको यह भी इस शास्त्रकी चर्चासे प्रमाण मिला है कि, मनुष्यकी क्रमोन्नतिका पथ इस एक जन्मके साथ नष्ट नहीं हो जाता और जन्मान्तरमें जीव क्रमशः अपनी आत्मोन्नति कर सकता है। और शेषमें यदि ठीक पथ पर चला हो वह जहाँसे निकला है वहीं पहुंचकर आनन्दकी पराकाष्ठाको प्राप्त हो जायगा।

(७) और अन्तिम बात मैंने यह सीखी है कि, मृत्युके अनन्तर मनुष्य किसी न किसी योनिको अवश्य प्राप्त हो जाता है और तब उसको अपने पूर्व साथियोंसे संस्कारके अनुसार मनका कुछ सम्बन्ध भी रहा करता है।

इन सातो बातोंपर मेरा दृढ़ और अभ्रान्त विश्वास हो गया हैं; और विश्वास है कि, सच्चे उद्योगसे जो मनुष्य इस शास्त्रको अध्ययन करेंगे वे भी इसका भली भाँति प्रमाण पावेंगे।

साहबके उस पुस्तकमें लिखा है कि, तारीख ८ अप्रैल सन् १८५३ ईस्वीमें एक चक्र बैठाया गया जिसमें वहाँके बड़े-बड़े प्रतिष्ठित लोग उपस्थित थे। चक्र बैठनेके थोड़ी देर पीछे अनुभव हुआ कि चक्रमें कोई आत्मा आया हैं; जिज्ञासा करनेके अनन्तर लेख द्वारा उत्तर दिया जाने लगा कि मेरा नाम "बेकन" है। (यह बेकन साहब विलायतके एक बड़े भारी राजनैतिक और दार्शनिक विद्वान् थे।) पुनः लिखा गया कि "परलोकके विषयमें पूर्ण ज्ञान बहुत कम लोगोंको विदित है, और उस विषयमें जितनी बातें प्रकट हुई हैं वे सब पूर्ण रूपेण सच्ची

नहीं है; क्योंकि परलोकगामी आत्मागण जिस लोकमें स्वयं रहते हैं उसके बाहरकी बात कुछ नहीं जान सकती हैं। मनुष्यका देहपात होनेके अनन्तर वह उसी लोकमें जा सकता है जिस लोकके आनेका वह अधिकारी हुआ करता है, मनुष्यको इस लोकमें जितनी ज्ञानकी उन्नति हुई है, उसमें जैसे अभ्यासोंकी दृढ़ता हुई है, उसी प्रकारकी शक्ति उसमें रहनेके कारण उसको देहपातके अनन्तर तदनुरूप लोककी प्राप्ति हुआ करती है। यदिच ईश्वर सर्वव्यापक है तथापि उनकी महिमा क्रमशः उत्कृष्ट लोकोंमें अधिक प्रकाशको प्राप्त हुई है; इस कारण जीव जितना अधिक धार्म्मिक होता है उतना ही वह उच्चतर लोकमें पहुचकर ईश्वरके निकटवर्त्ती हो सकता है। अच्छा और पवित्र आत्मा पृथिवीसे बहुत ही दूरवर्ती लोकोंमें रहा करता है। परन्तु जो आत्मा जिस लोकमें जाता है वह उसी लोकका उपयोगी हो जाता है; उन्नत लोककी आत्मा अधोलोकका सम्वाद कदाचित जान सकें, परन्तु अधोलोककी आत्मायें उन्नत लोकका सम्वाद नहीं जान सकतीं।

प्रश्न—परलोकगामी आत्माका स्थान निश्चय होते समय उनके स्वभावके साथ स्थानके स्वभावका कुछ विचार रक्खा जाता है। या नहीं ?

उत्तर—अवश्य विचार रक्खा जाता है। जैसे आत्माओंका जन्म इस पृथिवीपर हुआ करता है वैसे ही अन्य ग्रह और उपग्रहोंमें भी हुआ करता है; और जहांके उपयोगी जो आत्मा होते हैं केवल उसी लोकमें ही वे जन्म ले सक्ते हैं।

प्रश्न—जो मनुष्य इस प्रकारसे हमारे पृथिवीसे मर कर अन्य ग्रहोंमें चले जाते हैं वे क्या वहाँ जाकर वहाँके जीवधारियोंके समान जन्म लिया करते हैं; यहाँकी सो शैली क्या वहाँ भी है ?

उत्तर—जब कोई उन्नत आत्मा यहाँ मृत्युको प्राप्त हो जाता है, तो वह अपनी उन्नतिके अनुसार क्रमशः फिरता हुआ अपने ही उपयोगी लोकको पहुंच जाता है; सूक्ष्म शरीरको एक लोकसे दूसरे लोकमें पहुंचते हुए कुछ विलम्ब नहीं लगता। जब वह आत्मा अपने निवास उपयोगी स्थानमें पहुँच जाता है, तब वह वहाँके निवासियोंके से देहको प्राप्त कर लेता है; नाना लोकोंके नाना अवस्थाके अनुसार नाना प्रकारके देह हुआ करते हैं। बहुतसे लोकोंके जीवोंके देह मनुष्यके शरीरसे भी बुरे हुआ करते हैं; किन्तु उन्नत ग्रहके जीवोंके देह क्रमश उन्नत ही होते हैं। मुझे अब लिखनेका समय नहीं है इन्हीं सब

बातोंका ध्यान करके समझनेसे क्रमशः आप लोग परलोकको अच्छी तरह समझने लगोगे। दस्तखत—बेकन"।

तदनन्तर तारीख चौबीस मईको सभाका पुनः अधिवेशन हुआ, उस दिन आत्माओंकी आवाहनक्रिया करनेके अनन्तर पुनः लार्ड बेकन साहबका आत्मा आया पुनः प्रश्नोत्तर द्वारा आध्यात्मिक अनुसंधानकार्य चलने लगा।

प्रश्न—आपने कहा था कि, आत्मगण जिस लोकमें रहते हैं उस लोकके बाहरका हाल नहीं जान सकते। इस अवस्थाको और भी जरा प्रकाशित करके वर्णन करिये।

उत्तर—पृथिवीसे जो उच्चलोक हैं उनमें यह शैली है कि, वहाँ उन्नत लोकोंके जीव निम्नलोकका सम्वाद जान सकते हैं। परन्तु उन उन्नत लोकोंमें ऐसे भी धार्मिक परलोकगामी आत्मा हुआ करते हैं कि, जो क्रमशः उन्नत होकर ईश्वरके निकटवर्ती अर्थात् बहुत ही उन्नत लोकको चले जानेके योग्य हो जाते हैं; परन्तु ऐसा प्रारब्ध बहुत कम हुआ करता है। पृथिवीके निम्न ग्रहोंकी अवस्था इससे विपरीत है क्योंकि वे सब लोक निकृष्ट हैं।

प्रश्न—ऐसे मूर्ख जीव भी क्या स्वर्गमें हैं कि, जो अपने ऊपरके लोकोंको न जानने कारण और कोई उन्नत लोक हो सकते हैं ऐसा नहीं मानते; अर्थात् अपनेको ही क्या वे सबसे उन्नत समझते हैं ?

उत्तर—हाँ स्वर्गमें ऐसे भी जीव हैं जो अपनेको सबसे बढ़कर मानते हैं; और अपने लोकसे कोई उन्नत लोक है ऐसा स्वीकार नहीं करते। वे सब बुरी आत्मा नहीं हैं, परन्तु उनके अहंकारसे ही उनमें यह अज्ञान रह गया है; यह पूर्व संस्कारका ही कार्य है, क्योंकि पृथिवीपर भी भले बुरे लोग हैं।

प्रश्न—क्या ऊँचे लोकोंकी आत्मा भी यहाँ लौट कर आ सकती हैं एव नीचे लोकोंकी आत्माएँ यहाँ आती हैं ?

उत्तर—हाँ ऊपरकी आत्मा अवनतिके कारण और नीचेकी आत्मा उन्नतिके कारण कदापि पृथिवीमें आ सकें।

प्रश्न—इस संसारमें देखते हैं कि, अच्छे जीवोंका सङ्ग बुरे जीवोंसे होता है, इस कारण अच्छे जीवोंको उन्नतिका अवसर नहीं मिलता, इस प्रकार क्या परलोकमें भी हुआ करता है ?

उत्तर—नहीं यह बात कदापि नहीं हो सकती; यह ईश्वर नियमके विरुद्ध है, ऐसा अविचार न पृथिवी पर है और न अन्य ग्रहोंमें हो सकता है। क्योंकि आत्माएँ

कभी ऐसे स्थानोंमें नहीं रक्खी जा सकती; जहाँ उनके उन्नति करनेका अवसर उनको न मिलता हो। ईश्वरकी दया सब जीवोंपर समान है, इस कारण सब लोकोंमें जीवगणको उन्नति करनेका अवसर समान मिलता है। भेद इतना ही है कि, कर्म-साधनमें पृथिवीकी कुछ विलक्षणता है।

प्रश्न—परलोकगामी आत्मा क्या अपने पूर्व सम्बन्धको भूल जाते हैं अथवा पूर्व सम्बन्धियोंसे मनमें सम्बन्ध रखते हैं?

उत्तर—यह जीवके आध्यात्मिक ज्ञानके अनुसार उसमें इस प्रकारका सम्बन्ध कम अथवा अधिक रह जाता है। परलोकगामी आत्मागण मनमें पूर्वस्मृति रखते हुए देख पड़ते हैं और अपने पुत्र कलत्र मित्रके सत् अथवा असत् कर्मसे सुख अथवा दुःख अनुभव किया करते हैं। परन्तु यह अवस्था सबमें एक सी नहीं होती"।

ऊपर वर्णित घटनाओंसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि, परलोकके विषयमें अनुसन्धान करना आज कल पाश्चात्य जगत्का एक अत्यावश्यकीय व्यापार हो चला है और अध्यवसायी पश्चिम देशियोंने इस कार्यमें बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त कर ली है। और यूरोपीय महा युद्धके बाद तो बहुत लोगोंकी दृष्टि इस अलौकिक सत्यपर पड़ी है। यहाँ तक कि, इसाई धर्मावलम्बी बड़े बड़े विद्वान् जो इसाईमतके सिद्धान्तानुसार इन बातोंको एक बार ही नहीं मानते थे, अब वे भी इस मतके समर्थनमें बड़े बड़े ग्रन्थ लिखते जाते हैं। अब नीचे इस अत्यावश्यकीय तथा रहस्यपूर्ण विषयमें आर्यशास्त्रमें कैसे कैसे प्रमाण तथा सिद्धान्त मिलते हैं, सो ही बताया जायगा। पहले ही कहा गया है कि, इस मृत्युलोकके सिवाय और सभी लोकोंकी परलोकसंज्ञा होनेपर भी प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोकको ही साधारणतः परलोक कहते हैं। इसोलिये इन तीनों लोकोंके विषयमें ही आर्यशास्त्रके सिद्धान्त कहे जायँगे। कठश्रुतिमें :—

'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'

अर्थात् परलोक है या नहीं इस विषयमें मनुष्योंको शङ्का होती है, इस प्रकार प्रश्न नचिकेताके मुखसे उठा कर, पश्चात् यह सिद्धान्त किया गया है कि :—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

अर्थात् अज्ञानी प्रमादग्रस्त धनादि विषयोंमें आसक्त मूढ़ जनोंको परलोकके विषयमें ज्ञान नहीं हो सकता है। वे इह लोकको ही सब कुछ समझकर परलोकपर अविश्वासी हो, पुनः पुनः जन्ममरण-चक्रमें परिभ्रमण करते रहते हैं। भगवती श्रुतिके इस सिद्धान्तके अनुसार स्मृति पुरणादि शास्त्रोंमें प्रेतलोक, नरकलोक तथा पितृलोकके विषयमें बहुत कुछ बातें कहीं गई हैं, जो नीचे क्रमशः बतायी जाती हैं।

यह बात पहले ही कही गई है कि, आर्यशास्त्रमें भूर्लोकके अन्तर्गत चार लोक माने गये हैं। यथा—मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक। उनमेंसे मृत्युलोक स्थूल है, और तीनों लोक सूक्ष्म हैं। इनके स्थानोंके विषयमें श्रीमद्भागवतके ५म स्कन्धमें लिखा गया है यथा :—

'नरकं नाम भगवन् किं देशविशेषा अथवा बहिस्त्रिलोक्या आहोस्विदन्तराल इति।'

'अन्तराल एव त्रिजगत्यास्तु दिशि दक्षिणस्यामधस्ताद्भूमेरुपरिष्टाच्च जलाद् यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा निवसन्ति।'

'यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषु परेतेषु यथा कर्मावद्यं दोषमेवानुल्लङ्घितभगवच्छासनः सगणो दमं धारयति।'

'तत्र हैके नरकानेकविंशति गणयन्ति'

भूर्लोकके भीतर ही दक्षिण-दिशामें पृथिवीके नीचे तथा जलके ऊपर अग्निष्वात्तादि पितृगण निवास करते हैं। यही पितृलोकका स्थान है। वहीं पर पितृलोकके राजा वैवस्वत यमका भी राज्य है। इसी यमलोकमें यमदूतगण मृत्युके बाद जीवगणको लाते हैं ओर वहींसे विचार होकर पाप-पुण्यानुसार जीवोंको सुख या सजा मिलता है। वहीं पर २१ नरक भी हैं। इससे सिद्ध हुआ कि, नरकलोक तथा पितृलोक पृथिवीकी दक्षिण-दिशामें हैं और दोनों ही भूर्लोकके भीतर हैं। श्रीभगवान् वेदव्यासने योगदर्शनभाष्यमें भी लिखा है :—

"अवीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावत् इत्येष भूर्लोकः। तत्रावीचेरुपर्युपरिनिविष्टाः षण्महानरकभूमयो महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः, यत्र स्वकर्मोपार्जितदुःख-

वेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते, ततः सप्त पातालानि।"

ऊपरके सप्त लोकोके नीचे अवीचि नामक नरक स्थान है। उस अवीचिसे सुमेरुपृष्ठपर्यन्त स्थानको भूर्लोक कहते हैं। अवीचिसे ऊपर तथा पृथिवीसे नीचे छः नरकके स्थान हैं, जिनके नाम महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र हैं। इनमें जीव निजकृत पापकर्मजन्य तीव्र दुःख भोगते हुए दीर्घजीवन व्यतीत करते हैं। अवीचिके नीचे अतल वितलादि सप्त अधोलोक हैं। देवीभागवतमें प्रेतलोक तथा नरकलोक और पितृलोकके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं यथा—

पिशाचप्रेतभूतानां विहाराजिरमुत्तमम्।
अन्तरिक्षं च तत्प्रोक्तं यावद् वायुः प्रवाति हि॥

भूत प्रेतगण भूर्लोकके अन्तर्गत शून्यस्थानोंमें रहते हैं। इनका शरीर वायवीय होनेके कारण जहाँ तक वायु है, वहाँ तक वे रह सकते हैं। पितृलोकके विषयमें उसी पुराणमें वर्णन है—

त्रिजगत्या अन्तराले दक्षिणस्यां दिशीह वै।
भूमेरधस्तादुपरि त्वतलस्य च नारद॥
अग्निष्वात्ताः पितृगणा वर्त्तन्ते पितरश्च ह।
पितृराजोऽपि भगवान् संपरेतेषु जन्तुषु॥
विषयं प्रापितेष्वेषु स्वकीयैः पुरुषैरिह।
सगणो भगवत्प्रोक्ताज्ञापरो दमधारकः॥
नरकानेकविंशत्या संख्यया वर्णयन्ति हि।
अष्टाविंशमितान् केचित्ताननुक्रमतो ब्रुवे॥

भूर्लोकके भीतर ही दक्षिण दिशामें पृथिवीके नीचे तथा अतल लोकके ऊपर अग्निष्वात्तादि नित्य पितृगण और नैमित्तिक पितृगण रहते हैं। पितृलोकके राजा यम भी वहीं पर रहते हैं और भगवान्के आज्ञानुसार पापियोंका दण्डविधान करते हैं। उनके दण्डविधानस्थान इक्कीस या अन्य मतानुसार अट्ठाइस नरक भी उसी भूर्लोकके अन्तर्गत हैं। इन सब प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्ध हुआ कि, भूर्लोकके भीतर प्रेतलोक, नरकलोक तथा पितृलोक हैं, केवल मृत्युलोक स्थूल है तथा बाकी तीन लोक सूक्ष्म हैं। यमलोक, पितृलोक आदिके

विषयमें वेदमें भी प्रमाण मिलते हैं। यथा अथर्ववेद ६-१२-११९ में यमलोकके विषयमें लिखा है—

ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्।

हम लोगोंको ऐसा ऋण न हो जिससे ऋण देनेवाला उत्तमर्ण हाथमें रज्जु लेकर यमलोकमें हमें बाँधने आवे। इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद्में पितृलोकके विषयमें लिखा है—

ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दः।

अर्थात् मर्त्यलोकके आनन्दका शत गुण आनन्द पितृलोकमें मिलता है। प्रेतलोकके विषयमें श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।

प्रेतके उपासक प्रेतलोकको जाते हैं और भगवान्‌के उपासक भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार नरकलोकके विषयमें भी श्रीभगवान्‌ने 'पतन्ति नरकेऽशुचौ' इस वचनके द्वारा अशुचि आदि नरकलोकके स्थानोंका वर्णन किया है। अब नीचे इन सब लोकोंके अधिवासियोंके विषयमें क्रमशः वर्णन किया जाता है।

प्रथमतः प्रेतलोकके निवासियोंके विषयमें कहा जाएगा। मृत्युके समय किन-किन घटनाओंसे सूक्ष्म शरीरपर मूर्च्छा आकर मनुष्यको प्रेतयोनि प्राप्त होती है, इसका विस्तारित वर्णन 'वैराग्य और साधन' नामक अध्यायमें पहले ही दिया गया है, अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। श्रीभगवान् मनुने अपनी संहिताके १२ वें अध्यायमें कर्म्मभ्रष्ट चार वर्णके मनुष्योंकी चार प्रकारकी प्रेतत्व-प्राप्तिका वर्णन किया है, यथा—

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात् स्वकात् च्युतः।
अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः॥
मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात् स्वकाच्च्युतः॥

स्वधर्मभ्रष्ट ब्राह्मण वमन भक्षक उल्कामुख प्रेत होता है, कर्मभ्रष्ट क्षत्रिय शव तथा विष्ठाभक्षक कटपूतन नामक प्रेत होता है, कर्मभ्रष्ट वैश्य पूयभक्षक मैत्राक्षज्योतिक नामक प्रेत होता है और कर्मभ्रष्ट शूद्र कीटभक्षक चैलाशक नामक प्रेत होता है। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें भी—

प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।

अर्थात् तामसिक लोग भूत प्रेतोंकी उपासना करते हैं, ऐसा कहकर प्रेत-योनिका अस्तित्व बताया है। अथर्ववेदमें भूतप्रेतोंके विषयमें प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। यथा अथर्ववेद ८-३-६ में—

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।
अरायान् वस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मककान् नाशयामसि ॥

जो प्रेतगण सूर्यतेज सहन करनेमें असमर्थ होकर दिनमें छिपे रहते हैं, जो देखनेमें श्रीहीन, मेषचर्मपरिधानकारी, रक्तमुख तथा दुर्गन्धशरीर हैं, उनको मन्त्र-शक्ति तथा द्रव्यशक्ति द्वारा नाश करेंगे। और भी २-२-९ में—

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुत्तम ॥

हे पलाशउदुम्बरादिदशवृक्षशकलनिर्मितमणे ! तुम उस मनुष्यको जो कि, अमावास्यामें ब्रह्मराक्षस (एक प्रकारकी प्रेतयोनि) द्वारा आक्रान्त हुआ है, ब्रह्मराक्षसके आक्रमणसे मुक्त करो और उस मुमुर्षुको पुनर्जीवन दान करो। इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाण वेदमें भी प्रेतयोनिके विषयमें प्राप्त होते हैं। और वर्त्तमान पाश्चात्य जगत्में इस विषयमें कैसे कैसे अनुसन्धान तथा आविष्कार हो रहे हैं, इसका प्रचुर वर्णन पहले ही किया गया है। अतः इस विषयके प्रति उपेक्षा न बताकर विश्वासके साथ अनुसन्धान तथा तत्त्व-निर्णय करना ही युक्तियुक्त होगा।

प्रेतलोक तथा उसके अधिवासियोंके विषयमें अभी कुछ ही दिनोंसे पश्चिम देशमें अनुसन्धान प्रारम्भ हुआ है। किन्तु आर्यजातिके भीतर अति प्राचीन कालसे ही इस विषयमें अनेक गवेषणाएँ हो चुकी हैं और हो रही हैं। शव-साधनाकी विधि जो तन्त्रशास्त्रमें जहाँ तहाँ मिलती है, उसके द्वारा मृत शरीरमें प्रेतात्माको बुलाकर सिद्धि आदि लाभ, भविष्यत् कथन आदि रूप प्रक्रियाका कथञ्चित् आभास 'प्राण और पीठतत्त्व' नामक अध्यायमें पहले ही दिया गया है। और उसी अध्यायमें पीठासन, प्राणविनिमय आदि प्रेत बुलानेकी और भी अनेक प्रक्रियाएँ बताई गई हैं। इन सब प्रक्रियाओंके द्वारा वर्षोंतक गवेषणा करके प्रेतलोक सम्बन्धीय जो कुछ बातें जानी गई हैं, उनका कुछ अंश उद्धृत किया जाता है।

"प्रेतका शरीर वायवीय होता है। इस लिये घरके द्वार बन्द रहनेपर भी किसी प्रकार छिद्र या वायुप्रवेशपथद्वारा प्रेत घरके भीतर प्रवेश कर सकता है। प्रेतका पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर न रहनेपर भी वासनाके वेगके अनुसार प्रेत स्थूलशरीर धारण कर सकता है और दर्शनपथमें भी आ सकता है। जिसके साथ प्रेतके वासनाका सम्बन्ध हो उसको दिखाई दे सकता है। यथा पतिरूपधारण करके स्त्रीके पास आकर स्त्रीपुरुष जैसा बर्ताव भी कर सकता है, सन्तानादिके पास या प्रेमीके पास भी आ सकता है। वासनाके अनुसार प्रेत तरह तरहका रूप भी धारण कर सकता है। यथा—वायुतत्त्वको आकर्षण करके आंधीके रूपमें मनुष्योंको डराना या अग्नितत्त्वको आकर्षण करके अग्निमय रूपसे श्मशानादिमें लोगोंको डराना आदि प्रेत कर सकता है। किन्तु सब प्रेतोंमें ऐसी शक्ति नहीं हो सकती है। जो जिस भावसे आवेशमें प्रेत होता है, उसका आचरण प्रेतयोनिमें भी ऐसा ही होता है। प्रेत अनेक भावसे होते हैं। काम, मोह, धन-लोभ आदिके आवेशमें, मरते समय उसीमें मूर्छा पाकर सब प्रकारके प्रेत होते हैं। आत्महत्या करके एक प्रकारके प्रेत होते हैं। अकस्मात् वज्रपात या मकान आदि द्वारा दबकर मरनेसे एक प्रकारके प्रेत होते हैं। युद्धमें भीरुकी तरह मर कर एक प्रकारके प्रेत होते हैं। जिघांसा-वृत्तिके वशीभूत होकर आत्महत्या करनेसे एक प्रकारके प्रेत होते हैं। इन सबके अलग अलग आचरण होते हैं। कामुम प्रेत उस योनिमें भी कामचेष्टा ही करता है और ऐसे पुरुष प्रेत, स्त्रियोंपर या स्त्री प्रेत, पुरुषोंपर आविष्ट होनेकी चेष्टा करते हैं। मोहान्ध स्त्री पुरुष प्रेत मोहकी वस्तु पुत्रादिके पास आनेकी चेष्टा करते हैं, कभी कभी उनको मारकर अपनी योनिमें लानेका उद्योग करते हैं। धनलोभी प्रेत अपने जीवितावस्थामें उपार्जित धनकी ओर टक-टकी लगाये रहते हैं, उसके खर्च हो जानेसे उन्हें बड़ा दुःख होता है। आत्म-घात द्वारा प्रेतयोनि प्राप्त प्रेत अंधेरेमें रहना पसन्द करते हैं और आत्म-हननेच्छु स्त्री पुरुषोंको आत्मघातके लिये उत्तेजित करते रहते हैं। वज्राघात आदिसे जो प्रेत होते हैं, वे निस्तब्ध होकर बैठे रहना और अफिमचीकी तरह झूमते रहना पसन्द करते हैं। युद्धमें भीरुतासे मृत प्रेत कबन्ध होते हैं। उनके हाथमें अस्त्र रहता है। वे बड़े दुष्ट होते हैं, लोगोंको सताना, डराना आदि इनका काम होता है। इस श्रेणिके मुसलमान प्रेत जिन्द कहलाते हैं। लोगोंको भय, प्रलोभन आदि दिखाकर मारना, नाना भयानक दृश्य दिखाना आदि इनका

काम होता है। जिघांसावृत्तिसे जो प्रेत बनता है, वह बड़ा ही भयानक अत्याचारी होता है। जिसपर जीवितावस्थामें उसका क्रोध या द्वेष रहता है, उसको मार ही डालता है।" इत्यादि इत्यादि नाना श्रेणिके प्रेत देखे गये हैं।

"सबको प्रेत नहीं दीखता है और सबको प्रेतकी बात भी नहीं सुनाई देती है। साधारणतः जिन जन्तुओंमें रातको देखनेकी शक्ति है, वे सब प्रेत देख सकते हैं, यथा कुत्ते, बिल्ली, घोड़े, शेर इत्यादि। रातको कुत्ते जो प्रायः बोलते रहते हैं, वे केवल मनुष्य देखकर ही नहीं बोलते, परन्तु प्रेतकी मूर्त्ति देखकर भी उसे मनुष्य समझ कुत्ते बोलते रहते हैं। इसी प्रकार अनेक स्त्री-पुरुषोंमें प्रेत देखनेकी खास दृष्टि (Psychic sight) होती है। वे सब प्रेत देख सकते हैं। इनमेंसे किसी किसीको प्रेतकी बातें भी सुननेमें आती हैं। प्रेतकी बातें मनुष्यकी बातोंकी तरह वायुस्पन्दन द्वारा कानतक नहीं पहुँचती हैं। प्रेतको जब कुछ कहना होता है, तो वह तदनुरूप श्रोताके मनमें प्रेरणा करता है। और उसी प्रेरणा द्वारा भीतरसे श्रोता-के कानोंमें टेलीफोनके शब्दकी तरह प्रेतकी बातें सुननेमें आजाती है। सब प्रेतोंकी प्रकृति एकसी नहीं होती है। बल्कि उनकी प्रकृति जीविता-वस्थाकी प्रकृति जैसी ही प्रायः हुआ करती है। दुष्ट मनुष्य मर कर दुष्ट प्रेत ही होता है, अच्छा मनुष्य किसी कारणसे प्रेतयोनि प्राप्त होनेपर भी अच्छा ही रहता है, अत्याचार नहीं करता है। 'इस रीतिके अनुसार कई एक साधु प्रेतोंको भजन गाते हुए सुना गया है और भङ्गी प्रेतोंको विष्ठा फेकते, पाखानेमें रहते और विष्टाकी टोकरी सिरपर लेचलते देखा गया है। सूर्यके प्रकाशमें प्रेतका बल घट जाता है। उसे प्रकाश सहन नहीं होता है। वह अन्धेरेमें रहना ही पसन्द करता है। इसका वैदिक प्रमाण भी पहले दिया जा चुका है। निशाचर जन्तुओंकी तरह प्रेतका बल सन्ध्या कालसे बढ़ने लगता है। उस समय प्रेत इधर उधर खानेके खोजमें घूमता रहता है। इस लिये सन्ध्या कालके भोजनपर प्रेतकी बड़ी दृष्टि रहती है। यही कारण है कि, आर्य-शास्त्रमें ठीक सन्ध्याके समय भोजन करनेको निषेध किया गया है। प्रेत स्थूल रूपसे नहीं खाता है, वासना, मनके वेग तथा वेगमयी दृष्टिके द्वारा खाकर तृप्त हो जाता है। इस कारण किसीको खाते हुए देख कर, उस अन्नपर नजर लगानेसे प्रेतका पेट भर सकता है। स्थूल वस्तु न दे कर केवल मनकी भावना

द्वारा चावल, रोटी, मिठाई आदि देनेपर भी उसी मनोमय अन्नको मनोवेग द्वारा खाकर भी प्रेत तृप्त हो सकता है, प्रेतको देनेके नामसे ब्राह्मणादिको खिलाने-पर भी उस समय ब्राह्मणोंको खाते हुए देख कर, प्रेतका पेट भर जाता है। यही सब प्रेतभोजनके प्रकार हैं। प्रेत असल खानेसे उच्छिष्ट खाना अधिक पसन्द करता है। इसी लिये उच्छिष्टपर प्रेतकी बड़ी नजर रहती है और आर्य-शास्त्रमें उच्छिष्टभोजनको तामसिक तथा निषिद्ध भोजन कहा गया है। जिस वस्तुपर प्रेतकी दृष्टि पड़ जाय, वह असल हो या उच्छिष्ट हो, उसके खानेपर मनुष्यके पेटमें वह नहीं पचती है। उसको वमन आदि हो जाता है, वृक्षके फलपर प्रेतकी नजर पड़नेसे वह फल गिर जाता है, या सूख जाता है। भोजनकी तरह क्षुधा तृष्णा मलमूत्रादि त्याग सभी मानसिकरूपसे प्रेतोंमें उदय तथा मानसिकरूपमें ही उनका समाधान हो जाता है।"

"प्रेत एकान्त स्थानमें रहना पसन्द करता है। इसलिये उजाड़ मकान या स्थान, श्मशानादि स्थान, अन्धकारमय गृह, वृक्ष आदिमें प्रायः रहता है। जहाँ पर यज्ञ होता है, वेदध्वनि होती है, शास्त्रचर्चा होती है, शङ्ख घण्टाकी ध्वनि या देवताकी आरति होती है, वहाँसे प्रेत दूर भागता है। ऐसा कई वार देखा गया कि, किसी व्यक्तिपर प्रेत आविष्ट होकर बात कर रहा है, इतनेमें शङ्ख घण्टाका शब्द होते ही प्रेत उसे छोड़ भाग गया। इसी प्रकार जल देख कर भी प्रेत डरता है। इस कारण प्रेत नदीपार नहीं जा सकता है। कभी जाना हुआ तो किसी स्थूल अवलम्बनके द्वारा जा सकता है। जलसे प्रेतको इतना डर होनेके कारण ही नृसिंहकवचादि प्रेतबाधानाशन मन्त्रोंका प्रेताविष्ट व्यक्तिके गलेमें उसको पानीमें डूबकी लगवाकर बाँधना पड़ता है। जलकी तरह रामनाम, दुर्गानाम, गायत्री-मन्त्र आदिसे भी प्रेत बहुत डरता है। मन्त्रोंके द्वारा प्रेत वशीभूत तो हो जाता है, किन्तु बलपूर्वक वश होनेके कारण वश करनेवाले पर बहुत ही नाराज रहता है और थोड़ा मौका मिलते ही उसको तथा उसके परिवारोंको मार डालनेकी चेष्टा करता है। प्रेत वशीभूत होकर रुपया, फल वगैरह ला दे सकता है। प्रेत बहुत थोड़े समयमें दूर दूरसे दस बीस मन फल ला सकता है। प्रेत फलोंको उठा नहीं लाता है। किन्तु जहाँ फल है वहाँ तुरन्त पहुँच कर, फल देख आता है, पीछे चित्तकी तीव्र धारणासे फलादि बना देता है। इस लिये उन फलोंसे पेट नहीं भरता हैं और कभी कभी थोड़ी ही देरमें फलोंकी शकल बदल जाती है

जैसा कि, आध घण्टे पहले जो फल था सो राख या मिट्टी बन गया इत्यादि। सब लोगोंपर प्रेतका आवेश नहीं हो सकता है, दुर्बलचित्त स्त्री-पुरुषों पर तथा पुरुषसे अधिक स्त्रीपर प्रेतावेश हो सकता है। प्रेत चाहे जीवितावस्थामें किसी भाषाका बोलने वाला हो, प्रेत होनेपर अन्य भाषामें भी बोल सकता है, जिसपर आविष्ट हो, उसकी भाषामें भी बोल सकता है; क्योंकि वह आविष्ट व्यक्तिके मनमें प्रेरणा करके उसकी जिह्वाको यन्त्र बनाकर बोलता है। मूर्खपर आविष्ट होकर विद्वान् प्रेत उसके मुखसे अच्छी संस्कृत या अंग्रेजीमें बात कर सकता है। इस प्रकार प्रेत दुर्बलचित्तके व्यक्तिमें स्वप्न भी दे सकता है, या स्वप्नावस्थामें उठा भी ले जा सकता है। प्रेतोंके अलग अलग हलके होते हैं, जिनके बाहर प्रेत जा नहीं सकते हैं। जिसका जो हलका है उसीके भीतर उस प्रेतको रहना पड़ता है। प्रत्येक हलकेमें प्रेतका शासक एक एक वेताल होता है। वेताल प्रेतयोनिसे ही बनते हैं, वे रङ्गमें काले तथा हाथमें लगुड़ लिये हुए होते हैं। वे प्रेतोंके वृथा घुमनेसे, अनधिकार प्रवेशसे या किसीपर अत्याचार करनेसे रोकते रहते हैं। शासनका अतिक्रम करनेपर वेताललोग प्रेतोंको खूब मारते हैं। इतना होनेपर भी दुष्ट प्रेत कुकर्मसे निवृत्त नहीं होते हैं। विकृत-मस्तिष्क स्त्री-पुरुषोंपर प्रेतका बड़ाही प्रभाव रहता है। इसलिये पागल स्त्री-पुरुष तथा पागलखानेमें प्रेत बहुत रहते हैं और पागलोंके मन-पर प्रभाव डाल कर. उनसे अनेक अत्याचार आदि करवाते हैं। पञ्चतत्त्वोंमें किसी प्रकार विकार (Elemental disturbance) होनेपर प्रेतोंको बड़ा ही कष्ट होता है, जैसा कि प्रबल आंधी चलते समय प्रेतोंको बड़ा ही कष्ट होता है, आंधिके ह्रास वृद्धि के साथ साथ वायु शरीर प्रेतोंके शरीरमें भो सङ्कोच विकाश होता रहता है और प्राण निकनेकी तरह अत्यन्त कष्ट होता है। प्रेतको अपने पूर्व शरीरपर बड़ा ही मोह होता है। इसलिये मृत्युके बाद श्मशानपर्यन्त उसीके साथ साथ रहता है। उसको आगमें जलाते समय प्रेतको बड़ा ही कष्ट होता है। मानों प्रेतका ही शरीर जल रहा हो ऐसा दुःख होता है। वह रोता पीटता रहता है, दु.खसे मूर्छित होने लगता है और जब तक शवदेह जलकर पूरा भस्म नहीं हो जाता है, प्रेत वहीं-पर उसे देखता रहता है और कभी कभी जल जानेके बाद भी श्मशानमें ही उसी स्थानमें रह जाता है। शीत वर्षा आदि ऋतुओंका प्रभाव प्रेतोंपर नहीं होता है। केवल मानसिकरूपसे ऋतुओंका अनुभव होता है। वज्रादि

पतनके समय उनको भय मालूम होता है। वज्रपातसे मृत प्रेतको वज्रपातके समय बड़ा ही भय होता है। जलमें डूब कर मरनेवाले प्रेतको जल देख कर बड़ा ही भय होता है। अमावस्या रात्रिको प्रेत बड़ा ही बलीयान होता है। इसलिये प्रेतवशीकरण शवसाधन आदिके लिये यही रात्रि प्रशस्त है।"

"प्रेतजीवन बड़ा ही दुःखमय तथा अशान्तिमय है। प्रेतके हृदयमें सदा ही कुछ दाह बना रहता है, जिससे प्रेत कभी एक स्थानमें थोड़ी देर तक शान्तिसे ठहर नहीं सकता है। रात दिन अज्ञानान्धकारसे भरे हुए मूर्च्छामय चित्तके साथ रहना भी महा कष्टकर होता है। दाह क्यों हो रहा है, इसका भी ठीक ठीक पता प्रेतको नहीं लगता है। इसके सिवाय जिस वासनाके वेगसे उसे प्रेतयोनि प्राप्त हुई है, वह वासना भी नहीं छुटती है, बल्कि उसकी अग्नि वृद्धिङ्गत ही होती रहती है। इसी वासनाग्निसे दग्धचित्त प्रेत स्थूल संसारमें उसकी चरितार्थताके लिये रात दिन प्रयत्न करता है, किन्तु प्रायः ही विफलमनोरथ होकर दुःखानलमें और भी व्याकुल हो जाता है। कामान्ध प्रेत कामकी वस्तुके पास, मोहान्ध प्रेत मोहके आधारके पास, धनान्ध प्रेत धनागारके पास आकर उन सबोंसे मिलनेकी तथा स्थूल उपभोगोंकी प्राप्तिकी चेष्टा करता है। उन सबोंको अपने प्रेतलोकमें लानेके लिये भी प्रयत्न करता है। किन्तु लानेमें नाना कारणोंसे असमर्थ होकर बड़ा ही दुःखित होता है। किसीकी स्त्री मर कर प्रेत हुई, उसके पतिने द्वितीय विवाह किया, नयी स्त्री पतिके पास आती है, इस दृश्यको देखकर मृत प्रेतिनी स्त्रीके चित्तमें बहुत ही ईर्ष्याजन्य दुःख होता है। किसीका बहुत धन था, वह मरते समय तक उसीको सोचता हुआ प्रेत बना, उसका धनलोभ नहीं छूटता है, वह जिस घरमें धन है, उसीमें रहता है, उसको खर्च होते हुए देखकर उसे दारुण कष्ट होता है इत्यादि प्रेतयोनिप्राप्त जीवोंके वासनाजन्य दुःख हैं। इन दुःखोंसे प्रेत रोता रहता है। अपने बदनको फाड़ता रहता है। उन्मत्तकी तरह घूमता रहता है, किन्तु कुछ उपाय उसे सूझता नहीं। श्मशानमें, एकान्तमें ऐसे दुःखसे रोते हुए कितने ही प्रेत देखे गये हैं। इसके सिवाय मृत्युके समय जिस कष्टसे उसकी मृत्यु हुई थी वह भी कष्ट बराबर बना रहता है। एक कुलटा स्त्री जो छूरेके आघातसे मारी गई थी, उसके बदनमें प्रेतावस्थामें भी छूरेका दाग देखा गया। एक आत्महत्याकारी प्रेत वेतालोंके द्वारा बांध कर लाया गया। उस समय देखा गया कि, पागल या बांधे हुए वन्य पशुकी तरह उसकी अवस्था थी। जिसको प्राण निकलते समय जल नहीं

मिला था, वह प्रेतयोनिमें तृष्णासे अधीर हो जल जल पुकारता रहता है। जिसका दुर्भिक्षमें प्राण गया था, वह हा अन्न हा अन्न करता रहता है। कदाचित् कोई उसे जल दे दे या आहार देदे तभी कुछ शान्ति होती है। आर्यशास्त्रमें प्रेतयोनिप्राप्त जीवोंके इन्हीं सब दुःखोंको दूर करनेके लिये तथा प्रेतयोनिगत मूर्च्छाको तोड़ उन्हें अन्ययोनिमें डालनेके लिये श्राद्धक्रियाकी विधि बताई गई है। श्राद्धका ठीक ठीक अनुष्ठान होनेपर प्रेतयोनिसे जीवकी मुक्ति हो जाती है। और गयाश्राद्धसे तुरन्त प्रेतयोनिमुक्त होते देखा गया है। उस समय प्राक्तन कर्मानुसार उसे नरक स्वर्ग या पुनः पृथिवीमें जन्म मिलता है।" यही प्रेतयोनि तथा प्रेत लोकके विषयमें आर्य-शास्त्रका अनुभवसे प्राप्त सिद्धान्त है। श्राद्धविज्ञानका विस्तारित वर्णन किसी आगेके अध्यायमें किया जायगा।

प्रेतलोकके निवासियोंके विषयमें आर्यशास्त्रका सिद्धान्त कह कर, अब नरक-लोकके निवासियोंके विषयमें आर्यशास्त्रका सिद्धान्त कहा जाता है। नरकलोक कहांपर है और कितने नरक हैं, इस विषयके प्रमाण पहले ही दिये जा चुके हैं। उपनिषद्में भी लिखा है—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

आत्मघाती पापी लोग मृत्युके अनन्तर घोर अन्धकारावृत दुःखमय नरकादि लोकोंमें जाते हैं। श्रीभगवान् मनुजीने अपनी संहिताके द्वादशाध्यायमें नरकके विषयमें बहुत कुछ वर्णन किया है, यथा—

यथा यथा निषेवन्ते विषयान् विषयात्मकाः।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते॥
तेऽभ्यासात् कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः।
सम्प्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु॥
तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम्।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च॥
विविधाश्चैव सम्पीड़ाः काकोलूकैश्च भक्षणम्।
करम्भवालुकातापान् कुम्भीपाकांश्च दारुणान्॥
बहून् वर्षगणान् घोरान् नरकान् प्राप्य तत्क्षणात्।
संसारान् प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान्॥

विषयसेवा द्वारा भोगस्पृहा और भी बलवती होकर जीवको परलोकमें दारुण दुःख प्रदान करती है। पापकर्मके फलसे तामिस्र, असिपत्रवन, बन्धनछेदन आदि नरक प्राप्ति, उनमें नानाप्रकारका दुःखभोग, काक, उलूक आदि द्वारा भक्षण, वालुकाके ऊपरसे गमन, कुम्भीपाकमें भीषण दुःख आदि नरकयन्त्रणा पापीको भोगनी पड़ती है। इस प्रकारसे बहुवर्षपर्यन्त दुःखभोगके बाद पुनः जीवका इस संसारमें जन्म होता है। नरकमें दुःख भोगते समय परलोकगत जीवको जो शरीर मिलता है, उसको यातनादेह कहते हैं। यह देह प्रेतके वायवीय शरीरसे एक बारहीं भिन्न है। प्रेतत्वावसानके बाद वायवीय शरीर नष्ट हो जाता है। तब नरकभोगके लिये जीवको वृद्ध कलेवर यातनादेह या स्वर्ग भोगनेके लिये यौवनकलेवर तैजसदेह प्राप्त होता है। मृत्युके अनन्तर यमदूतगण आकर यातनादेहधारी जीवको किस प्रकार कष्ट देते हुए यमलोकमें लेजाते हैं और यमलोकमें विचार होनेके बाद रौरव, कुम्भीपाकादि नरकोंमें जीवको कैसे कैसे कष्ट दिये जाते हैं, इसके बहुत वर्णन वैराग्य और साधन नामक अध्यायमें पहले ही किये जा चुके हैं। उसमें नरकलोकके अन्तर्गत वैतरणी नदी पार होनेके समय पापियोंको जो कष्ट होता है, उसका भी गरुड़पुराणोक्त वर्णन लिखा गया है। श्रीमद्भागवतके ५ म स्कन्धके २६ वें अध्यायमें पूर्वकथित २१ नरकोंके वर्णन दिये गये हैं यथा—

"तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति तामिस्रोऽन्धतामिस्रो रोरवो महारोरवः कुम्भीपाकः कालसूत्रमसिपत्रवनं शूकरमुखमन्धकूपः कृमिभोजनः सन्दंशस्तप्तशूर्मिर्वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोदः प्राणरोधो विशसनं लालाभक्षः सारमेयादनमवीचिरयः पानमिति। किञ्च क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजनः शूलप्रोतो दन्दशूकोऽवटनिरोधनः पर्यावर्तनः शूचीमुखमित्यष्टाविंशतिनरका विविधयातनाभूमयः।

तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन आदि २१ नरक हैं और किसी किसी के मतमें क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत आदि और भी सात मिलाकर २८ नरक हैं, इनमेंसे किस किस नरकमें किस किस पापके फलसे जीवको दुःखभोगना पड़ता है, इसका वर्णन उसी अध्यायमें दिया गया है। यथा—

"यस्तु परवित्तापत्यकलत्राण्यपहरति स हि कालपाशबद्धो यमपुरुषैरतिभयानकैस्तामिस्रे नरके बलान्निपात्यते।"

८

"एवमेवान्धतामिस्रे यस्तु वञ्चयित्वा पुरुषं दारादीनुपभुङ्क्ते।"

"यस्त्विह वा एतदहमिति ममेदमिति भूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिह विहाय स्वयमेव तदशुभेन रौरवे निपतति।"

जो दूसरेके धन, सन्तान या स्त्रियोंको चुराता है उसको कालपाशमें बांध कर यमदूतगण तामिस्र नरकमें डालते हैं। जो परस्त्रीके साथ उसके पतिको वञ्चना करके कामसेवा करता है, वह अन्धतामिस्र नरकमें डाला जाता है। जो जीवोंको कष्ट देकर अपना कुटुम्बपोषण करता है उसको सब कुटुम्बोंको छोड़कर रौरव नरकमें जाना पड़ता है। इत्यादि रूपसे नाना पापकर्मोंके अनुसार नरकभोगके वर्णन आर्यशास्त्रोंमें दिये गये हैं। वे सभी भोग यातनादेहमें सूक्ष्मरूपसे होते हैं तथा वे सब नरक भी सूक्ष्मलोकके अन्तर्गत होनेसे सूक्ष्म ही हैं। भोग द्वारा नरकोंमें पापका प्रायश्चित्त होनेके बाद अन्यान्य कर्मानुसार जीवका पुनः इस स्थूल संसारमें जन्म होता है। अथवा नरकसे स्वर्गमें जीव जा सकता है और स्वर्गसे भी नरकमें आ सकता है। इस विज्ञानका सिद्धान्त यह है कि, जब पुण्यभोग थोड़ा होता है, तो जीव पहले स्वर्गमें और पीछे नरकमें जाता है। जब पापका भोग थोड़ा होता है, तो पहले नरकमें जाता है और पीछे स्वर्गमें जाता है। इसका ज्वलन्त दृष्टान्त महाभारतमें यह है कि, जब महाराज युधिष्ठिर परलोकमें गये थे, तो उन्होंने देखा था कि, उनके भीम आदि भ्रातृगण नरकमें और दुर्योधन आदि स्वर्गमें थे। उसीपर यमराजसे प्रश्न करनेपर उनको ऊपर कथित उत्तर मिला था। दूसरी ओर यह भी निश्चय है कि, स्वर्ग अथवा नरकसे जीव प्रेतत्वमें नहीं आते हैं, क्योंकि प्रेतलोक मृत्युलोकके अति निकट है। जीवको यदि प्रेत होना हो तो प्रथम प्रेतत्व पाकर पश्चात् अन्य सूक्ष्म लोकमें जायगा।

नरक तथा नरकवासियोंका वर्णन करके अब पितृलोकवासियोंका वर्णन किया जाता है। पितृलोक निवासी अग्निष्वात्ता, अर्यमादि नित्य पितृगण तथा इहलोकसे मृत्युके अनन्तर पितृलोकप्राप्त नैमित्तिक पितरोंके बिषयमें बहुत कुछ वर्णन ऋषि, देवपितृतत्त्व नामक अध्यायमें पहले ही किया

गया है। अथर्ववेदमें नित्य नैमित्तिक पितरोंके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—अथर्ववेदके अष्टादश काण्डमें :—

"सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः"

दक्षिण भागमें आसीन होकर पितृगण सरस्वतीका आह्वान करते हैं।

"सरस्वती या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ति"

(१८-१-१+१८-२-२)

आह्वानसे सन्तुष्टा सरस्वती देवी स्वधाभोजी पितरोंके साथ आनन्दसे विराजमाना होती हैं।

उदीरतामवर उत परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुम् य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोवन्तु पितरो हवेषु॥

निकृष्ट, उत्कृष्ट तथा मध्यम श्रेणिके पितृगण जो सोमसम्पादनकारी हैं, यजमानको प्राण देते हैं, अहिंसक तथा सत्यवित् हैं, वे आहूत होकर हमारी रक्षा करें।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु॥

जो पितृगण पहले ही पितृलोकको चले गये हैं, जो अभी पृथ्वीलोकमें हैं और जो दस दिशाओंमें व्याप्त हैं सबको नमस्कार।

मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु॥

हे प्रेत! तुम्हें वृक्ष बाधा न देवे, पृथिवी बाधा न देवे, तुम यमराजके लोकमें जाकर वहाँपर पितृलोकमें सुखसे रहो।

"सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्तं आयुः"

इस यज्ञमें हमारे पूर्वज पितृगण आवें और तृप्त होकर हमें सुख तथा आयु प्रदान करें।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिता।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥

हे अग्नि! हमारे जो पितर भूमिमें गाड़े गये हैं, जो दूर देशमें फेंके गये हैं, जो जलाये गये हैं और जो संस्कारोत्तर पितृलोकमें स्थित हैं सबको हमारे दिये हुए हविर्भोजनके लिये यहांपर लाओ।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेद स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥

हमारे जो पितर अग्निमें जलाये गये थे या जो पृथिवीमें गाड़े गये थे, किन्तु अब स्वधापुष्ट होकर द्युलोकमें आनन्द करते हैं, उनको हे अग्ने ! यदि तुम जानते हो तो कहो वह हमारे प्रदत्त स्वधासे तृप्त होवें। इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाण नित्य या नैमित्तिक पितरोंके विषयमें वेदमें मिलते हैं। मनु-संहितामें भी पितरोंके विषयोंमें अनेक विचार किये गये हैं। यथा—तृतीय अध्यायमें:—

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥
मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥
विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥
दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणाञ्च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥
सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणान्तु सुकालिनः ॥
सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरः सुताः ।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वशिष्ठस्य सुकालिनः ॥
अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥
य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्त्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥

पितृगण क्रोधशून्य, शौचपरायण, सदा ब्रह्मचारी और शस्त्रत्यागी, महात्मा तथा देवताओंके भी पूर्वतन हैं। ब्रह्मापुत्र मनुके जो मरीचि पुत्रगण हैं, उनके पुत्र सोमपादि पितृगण हैं। उनमेंसे सोमसद नामक बिराट्के पुत्रगण साध्योंके पितर हैं। अग्निष्वात्ता नामक मरीचिपुत्रगण देवताओंके

पितर हैं। ब्राह्मणोंके पितर सोमप, क्षत्रियोंके पितर हविर्भुज, वैश्योंके पितर आज्यप और शूद्रोंके पितर सुकालिनगण हैं। बर्हिषद नामक अत्रिपुत्रगण दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण, किन्नर इन सबके पिता हैं। भृगुपुत्रगण सोमप हैं, अङ्गिरापुत्रगण हविर्भुज हैं, पुलस्त्यपुत्रगण आज्यप हैं और वशिष्ठ पुत्रगण सुकालिन हैं। अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद, अग्निष्वाता और सौम्य वे सभी ब्राह्मणोंके पितर हैं। स्थूल जगत्में जो मनुष्यगण हैं, इनको इन्हींके पुत्र-पौत्रादि वंशपरम्परा समझना चाहिये। यही सब आर्यशास्त्रकथित पितृलोकनिवासी नित्य-नैमित्तिक पितरोंके स्वरूप हैं।

नित्यपितृगणका क्या कार्य है, इनके द्वारा स्थूलजगत्की रक्षा, स्वास्थ्य-वीर्यादि सम्पादन, ऋतुप्रवर्तन इत्यादि कार्य कैसे कैसे होते हैं सो सब पहले अध्यायमें कहे जा चुके हैं। नैमित्तिक पितृगण पितृलोकमें जाकर नित्य पितरोंके साथ आनन्द करते हैं तथा उनके कार्यमें सहायता करते हैं। पितृलोक आनन्दमय हैं, इसके अनेक प्रमाण श्रुतिमें मिलते हैं। यथा—वृहदारण्यकमें—

"स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैः मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दः।"

इस संसारमें राजा होकर तथा सकल लौकिकभोगके अधिकारी होकर जो सुख होता है, वही मनुष्यलोकके सुखकी पराकाष्ठा है, पितृलोकमें इस सुखका शत-गुण अधिक सुख होता है। मर्त्यलोकके एक महीनेमें पितृलोकका एक अहोरात्र होता है। इस अहोरात्र क्रमसे बहुवर्ष तक पितरोंकी आयु है, जिसके अन्तमें अपना कर्त्तव्य तथा साधना समाप्त करते हुए पितृगण दैवराज्यमें ऐसे ही अभ्युदयको प्राप्त होते रहते हैं, जैसे इन्द्रादि देवगण क्रमशः आगे बढ़ते हैं।

नैमित्तिक पितृगण भोगकालपर्यन्त पितृलोकमें रहकर पुनः इस संसारमें आ जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, नित्य पितृगण तो एक प्रकारके देवता हैं, अतः ऐश कर्मके अनुसार अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त होते हैं। और नैमित्तिक पितृगण इस मृत्युलोकसे पुण्यभोगके लिये पितृलोकमें जाते हैं, इसलिए पुण्यशेष हो जानेपर उन्हें पुनः इस मृत्युलोकमें आना पड़ता है। यही नित्य नैमित्तिक पितरोंकी बातके विषयमें आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है।

परलोक विज्ञानका सारांश यह है कि, प्रत्येक ब्रह्माण्ड सात उद्‌र्ध्वलोक और सात अधोलोकरूपसे चौदह भागोंमें विभक्त हैं, जैसा कि, ऊपर कहा गया है। इन चतुर्दश विभागोंका मध्य विभाग भूर्लोक समझा जाता है। वह भूर्लोक पुनः चार भागमें विभक्त है, जिनका नाम मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक है। इसी चतुर्विभागयुक्त भूर्लोकसे यद्यपि उग्रपुण्य करनेवाले जीव देवता अथवा असुर बन कर, देवलोकके दिव्य भोग और असुरलोकके आसुरीभोग भोगनेके लिये यथाक्रम ऊपरके भुवःस्वः आदि छः देवलोक और नीचेके अतल-वितलादि सात आसुरी लोकोंमें जाते हैं, क्योंकि यह भूर्लोक सबका केन्द्र है, परन्तु यह असाधारण नियम है कि, बड़ी तपस्या तथा पुण्यसे जीव भूर्लोकके बाहरके लोकोंमें जा सकता है, ऐसे साधारण रीतिसे नहीं जा सकता है, इस कारण भूर्लोकके साथ सम्बन्धयुक्त तीन सूक्ष्म लोक साधारणरूपसे परलोक कहलाते हैं। और इन्हीं तीनोंका वर्णन साधारणतः परलोक नामसे शास्त्रोंमें पाया जाता है। वस्तुतः हमारे इस मृत्युलोकमें जब मनुष्यकी आयुका अन्त होता है तो वह जीव या तो प्रेतलोकमें जाता है या नरकलोकमें जाता है या पितृलोकमें जाता है, या इन तीनों या दो में जाता है और उसके अनन्तर पुण्य या पापका भोग समाप्त करके पुनः इस मृत्युलोकमें आ मातृगर्भमें जन्म लेता है। हमारे इस मृत्युलोकमें ही जीव मातृगर्भसे प्रकट होता है, अन्य लोकोंमें ऐसा नहीं होता है। मृत्युके अनन्तर जीवको तुरन्त ही एक आतिवाहिक देह मिलता है, जो लिफाफेके सदृश होता है। उस आतिवाहिकदेहके द्वारा जीव अन्य सूक्ष्म लोकोंमें पहुँचाया जाता है, वहाँ जाते ही उसका आतिवाहिक देह छूट जाता है और वहां उस लोकके अनुरूप भोगदेह शीघ्र प्राप्त हो जाता है। यदि प्रेतलोकमें वह जाता है तो वेतालगण उसे ले जाते हैं, यदि नरकलोकमें जाता है तो यमदूतगण उसे ले जाते हैं, यदि पितृलोक या अन्यान्य उद्‌र्ध्व लोकमें जाता है तो देवदूतगण उसे ले जाकर तत्तत् लोकोंमें पहुंचाते हैं।

अबतक जगत्‌में परलोकविज्ञान केवल आर्य्यशास्त्रमें ही पाया जाता था। पृथिवीकी अन्यान्य जातियाँ अब तक परलोकको अन्य प्रकारसे मानती थीं। जैसा कि अब भी ईसाई धर्मावलम्बी तथा मुसलमान धर्मावलम्बी लोग मानते हैं। परन्तु प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोकका पता अब थोड़े ही दिनोंसे रूपान्तरमें यूरोप और अमेरिकाके गवेषणापरायण

विद्वानोंको लगा है। इसमें सन्देह नहीं कि, अभी तक उन विद्वानोंको चतुर्दश भुवनोंका पता अथवा पितृ ऋषि और देवताओंका पता अथवा जैव ऐश सहज कर्मके रहस्यका पता जैसा कि कर्मतत्त्व नामक अध्यायमें कहा गया है अथवा नाना प्रकारके दैवी क्रियाओंका तथा सृष्टिका पता कुछ भी नहीं लगा है। परन्तु श्रीभगवान्की कृपासे वे इस स्पिरिचूयालिजम (Spiritualism) नामक विद्याके नाना प्रकार प्रश्न अनुसन्धान द्वारा केवल इतना जानने लगे हैं कि, इस मृत्युलोकके अतिरिक्त दुःखमय प्रेतलोक और नरकलोक अवश्य है, और सुखभोगके लिये भी एक सुखपूर्ण लोक है। पाश्चात्य विद्वानोंके ग्रन्थोंके पाठ करनेसे यह निश्चय होता है कि, जिन जिन मृत आत्माओंसे उक्त अनुसन्धानकारियोंका साक्षात् सम्बन्ध पात्र (Medium) के द्वारा होता है वे आत्माएँ या तो प्रेतलोकके हैं या पितृलोकके । टेबलरैपिङ्ग आदि साधारण क्रियाओंके द्वारा जो मृतात्माओंके साथ उनका सम्बन्ध होता है, वे प्रायः प्रेतात्मा ही हैं, क्योंकि प्रेतगण मृत्युलोकके चारों ओर ही विचरते रहते हैं।

यान्त्रिक लेखप्रणालीमें भी प्रेतलोकके सम्बन्धका बहुत भय रहता है। आवेश करानेकी शैलीमें प्रेत और पितृगण दोनोंका ही सम्बन्ध रहता है। परंतु दूसरोंके हाथसे मृत मनुष्योंका जैसे लेख निकलना यह कार्य पितृलोकके जीवगणके साथ ही सम्बन्ध रखता है। क्योंकि प्रेतोंमें इस प्रकारके लिखनेकी शक्ति नहीं होती है। इसमें सन्देह नहीं कि, परलोकमें जानेसे जीवोंके जैसे संस्कार होते हैं, उसी प्रकारके सुखभोगके सामान उन्हें पितृलोकमें प्राप्त होते हैं। इस कारण पश्चिम देशके वर्त्तमान अनुसन्धानमें ऐसे ही वर्णन पाये जाते हैं। यूरोप और अमेरिकाके अनुसन्धानकारी विद्वज्जन जितनी ही पवित्रता, श्रद्धा और योगयुक्त अन्तःकरणकी सहायता लेकर इस परलोक विज्ञानकी उन्नतिमें तत्पर होते रहेंगे उतना ही वे हमारे पूज्यपाद महर्षियोंके वचनोंकी सत्यताको दिन प्रतिदिन अनुभव करते रहेंगे।

षष्ठ काण्डकी सप्तम शाखा समाप्त हुई।



जीवन्मुक्ति समीक्षा

जीव जीवित रहनेपर भी मुक्त किस प्रकारसे हो सकता है, शरीरत्रयोपाधिसे सम्बन्ध रहनेपर भी निःसम्बन्धकी तरह आचरण कैसे कर सकता है, सपाणिपाद–सचक्षु–सकर्ण–समना होनेपर भी अपाणिपाद–अचक्षु–अकर्ण–अमनाकी तरह आचरण किस प्रकारसे सम्भव हो सकता है, जगत्के भीतर रहनेपर भी वास्तवतः बाहर रहना कैसे सम्भव हो सकता है, सब कुछ करते हुए भी कुछ न करना उन्मत्त प्रलाप कैसे नहीं हो सकता है, ससीम सत्ताके साथ अनादि–अनन्त असीमताका आत्यन्तिक आलिङ्गन कैसे हो सकता है, पितामह–मोहिनी महामायाके दुश्छेद्य जालसे अकिञ्चन पौत्रकी मुक्ति कैसे सम्भव हो सकती है, इस अति गूढ़ विषयमें अनादिकालसे अनन्त शास्त्र बादविवादके भँवरमें गोते खारहे हैं, कैन्ट–स्पेन्सर आदि पाश्चात्य पण्डितोंकी गवेषणा उसे असम्भव तथा अनधिगम्य कह कर छोड़ ही बैठ गई है, और प्राकृत जनताके लिये यह विषय स्वप्नजगत्में भी सत्य प्रतीत नहीं होता है। इसी कारण 'जीवन्मुक्ति' शब्द अवश्य ही समीक्षा तथा विवेचनपदवाच्य है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। अब नीचे वेदादि शास्त्रोंसे 'जीवन्मुक्ति' शब्दकी सार्थकता तथा जीवन्मुक्तके अलौकिक जीवनके विषयमें विवेचन किया जाता है।

कठवल्ली श्रुतिमें 'विमुक्तश्च विमुच्यते' अर्थात् मुक्तात्माकी मुक्ति होती हैं, ऐसा कह कर 'जीवन्मुक्ति' तथा 'विदेहमुक्ति' की ओर इङ्गित किया गया है। वृहदारण्यक श्रुतिमें—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

अर्थात् हृदयगुहानिहित निखिल वासनाओंके विलीन होनेपर इसी संसारमें ही ब्रह्मसाक्षात्कार होकर जीव जीवन्मुक्त हो सकता है, मर्त्यलोकमें ही उसे अमृतत्व लाभ हो जाता है, ऐसा कहकर जीवन्मुक्त पदकी सम्भावनाको निःशङ्क सिद्ध कर दिया है। श्रुत्यन्तरमें भी—

'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव।

अर्थात् जीवन्मुक्त महात्मा चक्षु रहनेपर भी अचक्षुकी तरह, कर्ण रहनेपर भी अकर्णकी तरह और मन रहनेपर भी अमनाकी तरह आचरण करते हैं, ऐसा कह कर जीवन्मुक्तिदशाके अलौकिक आचरणके विषयमें सिद्धान्त निर्णय किया गया है। अतः साधनाके परिपाकमें स्वरूपोपलब्धि होनेके अनन्तर देवपातके पहले तक 'जीवन्मुक्ति' अवस्था सम्भवपर है, यह विज्ञान श्रुति-प्रमाणसे सिद्ध हुआ। इन सब श्रौत प्रमाणोंकी ही प्रतिध्वनिको लेकर महर्षि वशिष्ठने श्रीभगवान् रामचन्द्रके 'जीवन्मुक्ति' विषयक प्रश्नके उत्तरमें निम्नलिखित वचन कहे हैं—

यथा स्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च।
अस्तं गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते॥
नोदेति नास्तमायाति सुखदुःखैर्मुखप्रभा।
यथा प्राप्ते स्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यो जागर्त्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
कुर्वतोऽकुर्वतो वाऽपि स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयान्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते॥

इन्द्रियादि व्यवहार रहनेपर भी निखिल प्रपञ्च जिसको शून्यवत् प्रतीत होता केवल आकाशवत् सर्वतोव्यापी, चिन्मात्र ही शेष रह जाता है, उसको ही मुक्त जानना चाहिये। जिसकी मुखकान्ति सुखमें उछलती या दुःखमें मुरझाती तथा प्राक्तनवशात् अनायास लब्ध वस्तुमें ही जो तृप्त रहता है, उसे ही

जीवन्मुक्त जानना चाहिये। विषयरागशून्यताके कारण जो जागनेपर भी सुषुप्तकी तरह रहता है, जिसकी जाग्रद्दशा नहीं है तथा जिसका वोध वासनाशून्य हो गया है, उसे ही जीवन्मुक्त जानना चाहियें। बाहर रागद्वेष भयादिसे युक्त व्यवहार करते हुए प्रतीत होनेपर भी, भीतर जिसका स्वरूप आकाशकी तरह स्वच्छ हो उसे ही जीवन्मुक्त जानना चाहिये। कर्म करते या न करते समय भी जिसमें अहम्भावका आवेश नहीं होता है, तथा जिसकी बुद्धि कर्म में लिप्त नहीं होती है, उसे ही जीवन्मुक्त जानना चाहिये। जिससे लोगोंको उद्वेग नहीं पहुँचता है अथवा जो स्वयं लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता है; हर्ष, अमर्ष तथा भयसे मुक्त वही पुरुष जीवन्मुक्त है, जिसकी संसारकलना शान्त हो चुकी है, जो कलावान् होनेपर भी निष्कल तथा सचित्त होनेपर भी निश्चित्तकी तरह रहता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त है। जो समस्त लौकिक विषयमें व्यवहार करता हुआ भी शान्त-शीतल रहता है तथा जिसका आत्मा सदा परिपूर्ण स्वरूप है, वही पुरुष जीवन्मुक्त है इसी प्रकारसे वेदादि समस्त शास्त्रोंमें जोवन्मुक्त पदवीका विवेचन किया गया है।

इस प्रकारकी विचित्र दशा साधकको कब तथा किस प्रकारसे हो जाती हैं, इस विषयमें पूर्ण विचार 'मुक्तितत्त्व' नामक अध्यायमें पहले ही किया गया है। निरन्तर साधना तथा ज्ञानके परिपाकमें वासना क्षय द्वारा मनोनाश होनेपर तभी तत्त्वज्ञानका उदय होता है, जिससे मिथ्या ज्ञानका आत्यन्तिक नाश तथा स्वरूपस्थिति साधकको प्राप्त हो जाती है। कठोपनिषदमें जीवन्मुक्ति स्थितिके विषयमें लिखा है :—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥

हृदयकी सारी अविद्या-ग्रन्थि टूट जानेपर तभी जीव जीवन्मुक्त हो सकता है, यही वेदका अनुशासन है। श्रीभगवान्‌ने गोतामें कहा है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्मसम्पद्यते तदा॥

जिस समय पृथक् पृथक् भूतसत्ताको साधक अद्वितीय ब्रह्म पर प्रतिष्ठित देख सकता है और उसी अद्वितीय सत्तासे ही प्रपञ्चका विस्तार अनुभव कर सकता है तभी उसको ब्रह्मोपलब्धि हो जाती है। उस समय मुक्तात्माकी

स्थिति कैसी हो जाती है, उसका वृत्तान्त मुक्तात्मा कचके आख्यानरूपसे महर्षि वशिष्ठजीने बताया है यथा—

> किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम् ।
> आत्मना पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा ॥
> सबाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च ।
> इत आत्मा तथेहात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥
> न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न तन्मयि ।
> किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं संविन्मयं ततम् ॥
> अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे ।
> अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ॥

क्या करें, कहाँ जायँ, क्या लें या क्या छोड़ें, प्रलयकालीन सर्वतोव्याप्त सलिलराशिकी तरह समस्त विश्व आत्मसत्तासे परिपूर्ण हो रहा है। शरीरके भीतर-बाहर सर्वत्र, ऊपर, नीचे तथा दस दिशाओंमें जहाँ देखें वहीं आत्मा है, विश्वका कोई भी स्थान आत्मासे खाली नहीं है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसमें मैं नहीं हूँ, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मुझमें नहीं हो, जब सभी ब्रह्ममय हो रहा है, तो और किस वस्तुकी इच्छा करूँ ! शून्यमें स्थित शून्यकुम्भकी तरह भीतर-बाहर सर्वत्र शून्य है, समुद्रमें स्थित पूर्णकुम्भकी तरह भीतर-बाहर सभी पूर्ण है। यही अनुभवकालीन जीवन्मुक्तकी स्थिति है। इसी भावको लक्ष्य करके ही श्रीभगवानने गीतामें कहा है—

> सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
> ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

सर्वत्र अद्वितीय-दर्शन योगयुक्तात्मा जीवन्मुक्त पुरुष आत्माको सकल भूतोंमें तथा सकल भूतोंको आत्मामें देखते हैं। उनकी अलौकिक ब्रह्म भाव-भावित दृष्टिमें क्या अपूर्वता हो जाती है, इसके विषयमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने भी कहा है —

> सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः,
> गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः ।
> वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी,
> सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥

परब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर समस्त जगत् नन्दनकाननकी तरह ब्रह्मभावमें सुशोभित प्रतीत होता है, समस्त वृक्ष कल्पवृक्ष प्रतीत होता है, समस्त जल गङ्गाजल, समस्त क्रिया पुण्यक्रिया, प्राकृत–संस्कृत समस्त वाणी वेदवाणी, समस्त विश्व वाराणसी प्रतीत होता है और समस्त स्थिति ब्राह्मी स्थिति हो जाती है। इस प्रकारसे वेदादि समस्त शास्त्रोंमें जीवन्मुक्त पदवीकी अपूर्वता तथा अलौकिकताका विचित्र वर्णन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायमें जो स्थितप्रज्ञका स्वरूप तथा चतुर्दश अध्यायमें गुणातीत योगीका स्वरूप वर्णन किया गया है, उसको भी जीवन्मुक्ति पदवीपर प्रतिष्ठित महात्माका ही स्वरूप जानना चाहिये।

अब किन किन कर्मोंके आश्रयसे विदेहमुक्तिके पहले तक जीवन्मुक्त महात्माकी स्थिति जीवजगत्में रहती है, इस पर विवेचन किया जाता है। यह विषय विज्ञानसहित इस ग्रन्थके कई एक स्थानोंमें प्रतिपादित किया गया है कि, मनुष्येतर पश्वादि योनियोंमें एकमात्र सहज अर्थात् प्राकृतिक कर्मके द्वारा समस्त जीव प्रकृतिप्रवाहके क्रमोन्नति मार्गमें सञ्चालित होनेपर भी मनुष्ययोनिमें स्वतन्त्र तथा प्रकृतिपर आधिपत्य होनेके कारण जीव सहजकर्मप्रवाहको छोड़कर जैवकर्मप्रवाहके अधीन हो प्रारब्ध, सञ्चित, क्रियमाण त्रिविध कर्मसंस्कारके आश्रयसे संसारचक्रमे परिभ्रमण करता रहता है। जन्मजन्मान्तरोंसे चिदाकाशमें आश्रित कर्मराशि जिनके भोगका ही समय नहीं आया है, वे सब सञ्चित कर्मसंस्कार कहाते हैं। शुद्ध वासना या मलिन वासनाके द्वारा प्रति जन्ममें अनुष्ठित नवीन कर्मोंके संस्कारको क्रियमाण संस्कार कहते हैं। क्रियमाण अनेक संस्कारोमेंसे जिन प्रबल संस्कारोंके द्वारा आगामी स्थूल शरीर भोगायतनरूपसे उत्पन्न होता है, उसको प्रारब्ध संस्कार कहा जाता है। वासनावासित-चित्त जीव इस प्रकारसे अनन्त क्रियमाण संस्कारके द्वारा अनेक जन्मलाभ करता हुआ जनन-मरण-चक्रमें घटियन्त्रकी तरह घूमता रहता है। इस प्रकारसे यदि वासना और संस्कार प्रवाह बना रहे, तो कर्मपर कर्म बनता हुआ जीवको कदापि जीवन्मुक्तिपद प्राप्त नहीं हो सकेगा। किन्तु ज्ञान ऐसी अग्नि है, जिसके द्वारा समस्त कर्म भस्म हो जाता है, जैसा कि, श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानरूप अग्निके द्वारा सकल कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं। इसीलिये

श्रुतिने 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् विना ज्ञान मुक्ति नहीं होती है, ऐसा कहा है। ज्ञानकी सहायतासे मलिन वासना नष्ट होकर शुद्ध वासना द्वारा प्रथमतः शुद्ध कर्मका अनुष्ठान होता है, पश्चात् तत्त्वज्ञानके उदयसे जब समस्त वासना निर्मूल हो जाती है, तो क्रियमाण कर्मका प्रवाह भी एकबार ही बन्द हो जाता है। इस प्रकारसे तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्माके क्रियमाण संस्कार नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर उनके चिदाकाशमें सञ्चितकर्म जो कुछ थे, वे उनके चिदाकाशको आश्रय न करके ब्रह्माण्ड प्रकृतिको आश्रय करते हैं, क्योंकि मुक्तात्माके जीवभावका पूर्ण नाश हो जानेसे उनकी व्यष्टिसत्ता टूट कर समष्टिसत्तामें मिल जाती है। अतः स्वतन्त्र केन्द्रके नाशसे सञ्चित कर्म भी उनका छोड़ समष्टि प्रकृतिके आकाशको आश्रय कर लेते हैं। इसीको उपनिषद्में कहा गया है यथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर हृदयकी अविद्याग्रन्थि खुल जाती है, निखिल संशय नष्ट हो जाते हैं और क्रियमाण सञ्चित समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं। केवल प्रारब्ध-संस्कार जिसके फलस्वरूपसे मुक्तात्माका स्थूल शरीर बन चुका है, वह भोगद्वारा क्षयप्राप्त होता है। इसी लिये शास्त्रमें कहा है—'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' अर्थात् भोग द्वारा ही प्रारब्ध-कर्मका अवसान होता है। वेदान्त दर्शनमें इस विज्ञान प्रतिपादनके लिये कई एक सूत्र दिये गये हैं यथा—

'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्'
'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु'
'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः'
'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते'

ब्रह्मोपलब्धि होनेपर पूर्व पाप संस्कारका नाश और उत्तर पाप संस्कारका अस्पर्श हो जाता है, जैसा कि, श्रुतिने कहा है। इसी प्रकार पुण्य संस्कारका भी स्पर्श ज्ञानीको नहीं होता है। इस प्रकार संस्कार-नाश या संस्कार अश्लेष अनारब्ध सञ्चित क्रियमाण कर्मोंके विषयमें ही समझना चाहिये, आरब्ध कर्म अर्थात् जिससे शरीर उत्पन्न हुआ है और जिसका फल देना प्रारम्भ हो गया है, ऐसा प्रारब्धकर्म भोग द्वारा ही क्षय हो जाता है, अन्यथा नहीं होता है

जीवन्मुक्त महात्मा भोग द्वारा प्रारब्धकर्म-क्षय करके पश्चात् विदेह कैवल्य लाभ करते हैं। इस विषयमें वेदमें भी प्रमाण मिलता है, यथा—

'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये'

जब तक प्रारब्धकर्मका भोग द्वारा अवसान नहीं होता है, तभी तक जीवन्मुक्त महात्माका शरीर रहता है, पश्चात् विदेह मुक्ति द्वारा देहपातानन्तर मुक्तात्मा ब्रह्ममें विलीन होते हैं।

'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'

वे ब्रह्म होकर ब्रह्ममें विलीन होते हैं श्रीभगवान् शंकराचार्यने स्वप्रणीत विवेकचूड़ामणि नामक ग्रंथमें इस विषयका उत्तम प्रतिपादन किया है। यथा—

ज्ञानोदयात् पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
अदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टवाणवत्॥
व्याघ्रबुद्धया विनिर्मुक्तो वाणः पश्चात्तु गोमतौ।
न तिष्ठति च्छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्॥

तत्त्वज्ञानोदयसे पूर्व आरब्ध कर्म तत्त्वज्ञान होने पर भी नष्ट नहीं होता। किन्तु किसी वस्तुको लक्ष्य करके निक्षिप्त वाणकी तरह फल देकर ही नष्ट होता है। जिस प्रकार कोई शिकारी यदि दूरसे किसी जन्तुको व्याघ्र समझकर उसके मारनेके लिये धनुषसे वाण छोड़े, किन्तु वह पशु पीछेसे व्याघ्र न होकर गौ जान पड़े तथापि धनुषसे निकला हुआ वाण विना लक्ष्य वस्तुको विद्ध किये निवृत्त नहीं हो सकता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रारब्ध संस्कारसे जीवन्मुक्तका स्थूल शरीर बन चुका है और जिसका भोग प्रारम्भ हो गया है, वह बिना भोगे क्षय नहीं हो सकता है। किन्तु जिस प्रकार लक्ष्य वस्तु गौ मालूम होनेपर शिकारी कोषमें स्थित वाणोंके प्रयोगसे निवृत्त हो सकता है, तथा धनुषपर चढ़ाये हुए वाणको भी रोक ले सकता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानोदयसे वासना निर्मूल हो जानेपर धनुषपर चढ़ाये हुए वाणकी तरह क्रियमाण संस्कार नष्ट हो जाता है और कोषमें रक्खे हुए वाणोंकी तरह सञ्चित संस्कार भी ज्ञानीको स्पर्श न करके ब्रह्माण्डप्रकृतिको स्पर्श करते हैं। यही तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्माके लिये प्रारब्ध, सञ्चित, क्रियमाण त्रिविध कर्मोंके भोगाभोग

तथा स्पर्शास्पर्शका विज्ञान है। इस विषयमें श्रीशम्भुगीतामें विस्तारित वर्णन देखनेमें आता हैं। यथा—

प्रारब्धं सञ्चितं कल्याः! आगामीति प्रभेदतः।
प्रोच्यते त्रिविधं कर्म कर्मतत्त्वविशारदैः॥
ब्रह्मैवास्मीत्यहं कल्याः! निश्चयात्मकताजुषा।
तत्र ज्ञानाग्निना कर्म सञ्चितं दह्यते ध्रुवम्॥
ज्ञानिनामिदमुक्तानां प्राणिनां पितृपुङ्गवाः।
प्रारब्धकर्मणां नाशो भोगादेव प्रजायते॥
यथा कुलालो दण्डेन चक्रं संघूर्ण्य घूर्णितम्।
तत्त्यक्त्वा कुरुते हस्तौ दण्डञ्चैव पृथक् ततः॥
पृथग्भूतेऽपि कौलाले चालके शक्तिसञ्चये।
तच्छक्तिजेन वेगेन कौलालं तत्तु चक्रकम्॥
तावद् घूर्णायमानं स्याद् यावद् वेगो न शाम्यति।
यावन्नैवान्यवस्तूनां योगो वा तत्र जायते॥
तत्त्वज्ञानिमहात्मानस्तात्त्विकज्ञानतस्तथा।
प्राप्तवन्तोऽपि भो विज्ञाः! जीवन्मुक्तदशामलम्॥
यावत् स्थूलशरीरं वै भोगं प्रारब्धकर्मणाम्।
भुञ्जाना आसते तावद् भोगात्तेषां क्षयो यतः॥
यथा कुलालचक्रस्य कुम्भकारेण कोऽप्यहो।
सार्द्धं घूर्णायमानस्य सम्बन्धो नास्ति तत्क्षणम्॥
निःसङ्गरूपतो भोगात्तत्त्वज्ञे भोगजास्तथा।
संस्काराः क्रियमाणानां जायन्ते नैव कर्मणाम्॥
ज्ञानिनां नैव सम्बन्धः पद्मपत्रमिवाम्भसा।
विद्यतेऽसंशयं कल्याः! सार्द्धमागामिकर्मभिः॥
अतस्तान्यपि नश्यन्ति ज्ञानयोगेन सुव्रताः।
सर्वाण्यागामिकर्माणि नात्र कार्या विचारणा॥

प्रारब्ध, सञ्चित और आगामी अर्थात् क्रियमाण इन तीन प्रकारके कर्मोंमेंसे ज्ञानीका सञ्चित कर्म, मैं ब्रह्म हूँ—इस निश्चयात्मक ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध हो जाता

है। ज्ञानी मुक्त पुरुषोंके प्रारब्ध-कर्मोंका क्षय भोगसे ही होता है। जिस प्रकार कुम्हार अपने कुलालचक्रको लकड़ीसे चलाकर पीछे अपने हाथ और लकड़ीको अलग कर लेता है, तत्पश्चात् कुम्हारके अपने चलानेकी शक्तिको अलग कर लेनेपर भी वह कुलालचक्र पहली प्रयोग की हुई शक्तिसे अपने आप ही तब तक घूमता रहता है, जब तक वह शक्ति क्षय न हो जाय, या अन्य वस्तुओंका उसमें योग न हो जाय। उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी महात्मा तत्त्वज्ञान द्वारा जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त हो जानेपर भी अपने स्थूल शरीर उत्पन्नकारी प्रारब्धका भोग शरीरके अन्तपर्यन्त भोगते रहते हैं, क्योंकि प्रारब्ध कर्मका केवल भोगसे ही क्षय होता है। जिस प्रकार घूमते हुए कुलालचक्रका उस समय कुलालके साथ सम्बन्ध नहीं रहता है, उसी प्रकार निःसङ्गरूपसे भोग होनेके कारण उन कर्मोंके भोगसे ज्ञानीमें क्रियमाण कर्मसंस्कारोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, आगामी कर्मोंसे ज्ञानीका कमलदलस्थित जलके समान सम्बन्ध ही नहीं है, इस कारण वे भी ज्ञानके द्वारा नाशको प्राप्त हो जाते हैं।

ऊपर कथित विज्ञानके द्वारा यही प्रमाणित हुआ कि, प्रारब्धकर्मके सिवाय सञ्चित, आगामी कोई भी कर्म जीवन्मुक्त महात्माको स्पर्श न करनेके कारण वे सब उनके लिये नष्ट हो जाते हैं, ऐसा ही समझना चाहिये। अब वे सब कर्म ज्ञानीके व्यष्टि केन्द्रको छोड़कर कहाँ जाते हैं, इस विषयमें शास्त्रका प्रमाण बताया जाता है। श्रीशम्भुगीतामें लिखा है—

सञ्चितागामिकर्माणि यतो मुक्तमहात्मनाम्।
नैव स्पृशन्ति मुक्तांस्तान् ब्रह्माण्डप्रकृतिं ह्यतः॥
आश्रयन्ते च भुज्यन्ते समष्टयात्मकतो ध्रुवम्।
ब्रह्माण्डे शोभने यत्र मुक्तात्माऽसावजायत॥
ब्रह्माण्डस्य तु तस्यैव तानि कर्माणि निश्चितम्।
समष्टयात्मकप्रारब्धे सम्मिलन्ति स्वधाभुजः॥
समष्टिकर्मभिस्तैर्हि तद्ब्रह्माण्डस्य भूतिदाः।
समष्टिसुखदुःखानि प्राप्यन्ते प्राणिभिर्ध्रुवम्॥
सत्यत्रेताद्वापराणां कलेश्चैव समुद्भवे।
सहायकानि जायन्ते काले तानि भविष्यति॥

क्योंकि जैवकेन्द्र टूट जानेके कारण मुक्तात्माके सञ्चित तथा आगामी कर्म उनको स्पर्श नहीं कर सकते इस लिये वे कर्म ब्रह्माण्ड प्रकृतिको आश्रय

कर लेते हैं। उस ब्रह्माण्डमें समष्टिरूपसे वे कर्म भोगे जाते हैं अर्थात् जिस पवित्र ब्रह्माण्डमें वह मुक्तात्मा उत्पन्न हुआ था, उसी ब्रह्माण्डके समष्टि प्रारब्धमें वे कर्म सम्मिलित हो जाते हैं। उन कर्मोंके द्वारा उस ब्रह्माण्डके समष्टि जीवोंको समष्टि सुख दुःख प्राप्त होता है और भविष्यत्‌में सत्य त्रेता द्वापर कलि आदि कालके उत्पन्न होनेमें वे सब कर्म सहायक बनते हैं। इसके सिवाय और एक प्रकारसे भी उन कर्मोंका भोग हो सकता है, यथा श्रुतिके शाखान्तरमें—

'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्त पापकृत्याम्'

ज्ञानी मुक्तात्माके पुत्रगण दायभागके अधिकारी होते हैं, उनके मित्रगण पुण्य संस्कारके तथा द्वेषिगण अपुण्य संस्कारके ग्रहीता होते हैं। श्रीशम्भु—गीतामें भी लिखा है—

ज्ञानिनो ये भजन्तीह नितरामर्चयन्ति च।
ज्ञानिभिर्विहितः पुण्यकर्मांशो याति तान् प्रति॥
दुःखप्रदानं कुर्वन्ति निन्दन्ति ज्ञानिनश्च ये।
ज्ञानिसम्पादितः पापकर्मांशस्तांस्तु गच्छति॥

ज्ञानी मुक्तात्माकी जो सेवा पूजा करते हैं, उनको ज्ञानीके किये हुए पुण्यकर्मोंका अंश भोगना पड़ता है और जो ज्ञानीकी निन्दा करते हैं, या उनको दुःख देते हैं, उनको ज्ञानीके किये हुए पापकर्मोंका अंश भोगना पड़ता है। इस प्रकार सकल कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर शान्तिमय ज्ञानी मुक्तात्मा विदेह-मुक्ति पर्यन्त निष्काम निस्पृहभावसे धरातलमें विचरण करते हैं। यथा श्रीमद्भगवद्गीतामें—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

सकल कामनाओंको परित्याग करके जो पुरुष स्पृहाहीन, ममताहीन तथा निरहंकाररूपसे संसारमें विचरण करते हैं, उन्हींको मङ्गलमयी आत्यन्तिकी शान्ति प्राप्त होती है।

यह विषय 'आश्रमधर्म' तथा अन्यान्य अनेक अध्यायोंमें पहले ही प्रतिपादित किया गया है कि, ब्रह्मके सत्-चित्-आनन्दरूप होनेसे सद्भाव, चिद्भाव तथा आनन्दभावकी उपलब्धिके लिये कर्म-उपासना-ज्ञानकी सहा-

यतासे साधकको ब्रह्मराज्यकी ओर अग्रसर होना पड़ता है। कर्मके द्वारा सद्भावकी उपलब्धि, उपासनाके द्वारा आनन्दभावकी उपलब्धि और ज्ञानके द्वारा चिद्भावकी उपलब्धि हुआ करती है। अवश्य प्रकृति तथा अधिकार वैचित्र्यके अनुसार सभी मुमुक्षुओंमें कर्म-उपासना-ज्ञानकी समता नहीं होती है। अर्थात् किसीमें कर्मकी मुख्यता उपासनाकी गौणता, किसीमें ज्ञानकी मुख्यता कर्मकी गौणता और किसीमें उपासनाकी मुख्यता तथा कर्मज्ञानकी गौणता हुआ करती है। किन्तु इन तीनोंमें एकके साथ दूसरेका निकट सम्बन्ध रहनेसे तथा तीनों भावोंमें एकमें दूसरेका अन्तर्भाव रहनेसे जीवन्मुक्त महात्माकी साधनावस्थामें भी कर्माधिकार भाव, उपासनाधिकार भाव और ज्ञानाधिकार भाव ये तीनों ही रहते हैं और सिद्धावस्थामें भी कर्माधिकारभाव, उपासनाधिकार भाव तथा ज्ञानाधिकार भाव ये तीनों ही रहते हैं। वे कभी परमात्माकी आधिभौतिक विभूतिकी ओर दृष्टि डाल कर निष्काम जगत्सेवामें ही ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि करते हैं, कभी साध्य साधकरूपसे विराट् भाव तथा ईश्वर भावमें उपासनाका आनन्द लेते हैं और कभी निखिल प्रपञ्चसे अतीत निर्गुण निरामय ज्ञानमय ब्रह्मभावमें आनन्दरूप होकर लवलीन रहते हैं। श्रीमद्गीता आदि अनेक शास्त्रोंमें जीवन्मुक्त महात्माके इन त्रिभावोंके विषयमें प्रचुर वर्णन प्राप्त होते हैं। यथा श्रीमद्गीताके ५म अध्यायमें—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रिय योगयुक्त पुरुष, जिन्होंने सकल भूतोंमें अद्वितीय आत्माका निरीक्षण किया है, कर्म करनेपर भी कर्मबन्धनमें

लिप्त नहीं होते हैं। तत्त्वज्ञानी महापुरुष देखते, सुनते, छूते, सूँघते, खाते, चलते, सोते, श्वासलेते, बोलते, जागते, नेत्रोंके खोलते और बन्द करते हुए भी केवल इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें लगी हुई हैं, ऐसी धारणाके कारण 'मैं कुछ नहीं करता हूं' ऐसा जो मानते हैं, सो ठीक ही है। समस्त कर्मोको ब्रह्ममें अर्पण करके निःसङ्ग होकर जो महात्मा कर्मानुष्ठान करते हैं, जैसा कमलदल जलसे लिप्त नहीं होते हैं, ऐसे वे भी पापमें लिप्त नहीं होते हैं। क्षीणपाप, द्विधाभावशून्य, संयतात्मा महापुरुषगण इस प्रकारसे सकल भूतोंका कल्याण करते हुए अन्तमें विदेहमुक्ति द्वारा ब्रह्मनिर्वाण लाभ करते हैं। यही श्रीभगवान्के द्वारा गीतामें उपदिष्ट जीवन्मुक्त जीवनमें कर्माधिकार भाव है। इसी प्रकार उनके जीवनमें उपासनाधिकार भाव देखनेमें आता है, जिस भावमें भावित होकर मुक्तात्मा अद्वैतपदवीमें प्रतिष्ठित होनेपर भी कभी कभी उपास्य उपासकरूपसे द्वैतभावका आनन्द लेते हैं। यथा योगवाशिष्ठमें—

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमोनमः॥
मह्यं तुभ्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं शिवात्मने।
नमो देवाधिदेवाय पराय परमात्मने॥

हे परेश! तुम्हें नमस्कार, शिवरूप मुझे नमस्कार, प्रत्यक्चैतन्यरूप मुझको बार बार नमस्कार है। अनन्तरूप मुझको तथा तुमको शिवरूप मुझको तथा तुमको नमस्कार है, देवाधिदेव परम पुरुष परमात्माको नमस्कार है। यही स्वरूप-प्रतिष्ठित जीवन्मुक्त महात्माके भावमय द्वैताद्वैत भावमें उपासनाका विचित्र आनन्दानुभव है। इसी भावतरङ्गका कल्लोल श्रीभगवान् शंकराचार्यके जीवनमें भी प्रकट हुआ है। यथा :—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो हि तारङ्गः॥

हे नाथ! अद्वैतभावसे भेदभाव विगलित होनेपर भी मैं तुम्हारा ही हूँ, तुम मेरे नहीं हो। क्योंकि तरङ्ग ही समुद्रका होता है। समुद्र तरङ्गका विरल ही होता है। इसी प्रकार ज्ञानाधिकारभावमें जीवन्मुक्त महात्मा निखिल प्रपञ्चको ब्रह्मका विवर्त्त तथा ब्रह्ममें ही स्थित अनुभव करके आनन्दरूप हो जाते हैं। इसी भावकी सूचना :—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

मुझसे भिन्न संसारमें कुछ भी नहीं हैं, सूत्रमें मणियोंकी तरह समस्त विश्व मुझमें ही ग्रथित है, इस प्रकार वचनोंके द्वारा श्रीभगवान्ने गीतामें भी कहा है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' समस्त विश्व ब्रह्मरूप हैं, उसीसे विश्वकी उत्पत्ति, उसीमें स्थिति तथा उसीमें लय होता है, इत्यादि श्रुतिवचन इसी भावके ही प्रतिध्वनिरूप है।

उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते ।
तस्मात् सर्वप्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥
व्याप्यव्यापकतां मिथ्या सर्वमात्मेति शासनात् ।
इति ज्ञाते परे तत्त्वे भेदस्यावसरः कुतः ॥

ब्रह्मसे अतिरिक्त विश्वप्रपञ्चका और कोई उपादान नहीं है। इस लिये समस्त विश्व ब्रह्मरूप ही है, और कुछ नहीं है। सब ही ब्रह्मरूप होनेसे व्याप्य दूसरा है और व्यापक दूसरा है, यह धारणा मिथ्या है, इस प्रकारसे परमतत्वका बोध होनेपर भेदभावका अवसर कहाँ रहेगा। यही जीवन्मुक्त जीवनमें ज्ञानाधिकार भावकी अद्वैतता है। इस प्रकारसे साधनकी सिद्धावस्थामें भावभेदानुसार जीवन्मुक्त महात्मा कर्मउपासनाज्ञान तीनों भावोंमें ही सत्‌चित् आनन्दसत्ताकी परमानन्दमय उपलब्धि लाभ कर कृतकृत्य होते हैं।

प्रारब्धसंस्कार वैचित्र्यानुसार जीवन्मुक्त महात्मा दो प्रकारके होते हैं, यथा श्रीशम्भुगीतामें :--

ब्रह्मेशकोटिभेदेन जीवन्मुक्त द्विधा मतः ।
प्रारब्धकर्मणां तत्र जीवन्मुक्तमहात्मनाम् ॥
वैचित्र्यमेव हेतुः स्यात् प्रभेदे द्विविधे ध्रुवम् ।
ब्रह्मकोटिं समापन्ना जीवन्मुक्ता भवन्त्यहो ॥
आत्मारामाः सदा मूका जगत्सम्बन्धवर्जिताः ।
ईशकोटिं श्रिता ये च जीवन्मुक्ताः स्ववेदिनः ॥
त ईशप्रतिमाः सन्तो भगवत्कार्यरूपतः ।
संरक्ता विश्वकल्याणे सन्तिष्ठन्ते महीतले ॥

विभ्रमेवंविधैरेव ह्येकमात्रं स्वधाभुजः।
भवन्त्युपकृतं धन्यं जीवन्मुक्तैर्महात्मभिः॥

जीवन्मुक्त महापुरुष दो श्रेणिके होते हैं, एक ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त और दूसरे ईशकोटिके जीवन्मुक्त। मुक्तात्माके प्रारब्धवैचित्र्य ही इन दो भेदोंके कारण हैं। ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त मूक और आत्माराम होते हैं। जगत्के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। ईशकोटिके जीवन्मुक्त ईश्वर प्रतिनिधिरूप होकर भगवत्-कार्य्यरूपसे जगत्कल्याणमें रत रहते हैं। केवल मात्र ऐसे ही जीवन्मुक्त महापुरुषोंके उपकारसे उपकृत होकर जगत् धन्य होता है। ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त महात्माके साधन दशामें कर्माधिकारका प्राधान्य स्वल्प तथा ज्ञानाधिकारका प्राधान्य विशेष रहता है। इस कारण सिद्धदशामें भी उनके प्रारब्धसंस्कारमें कर्मका वेग नाममात्र तथा ज्ञानका एकरस प्रवाह बने रहनेके कारण वे सदा आत्माराम और मत्तस्त-ब्धकी तरह रहते हैं। जड़ भरत आदि मुक्तात्मागण इसी कोटिके थे। उनके विषयमें श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है :

देहं विनश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥

सदा निर्विकल्प स्वरूपमें लवलीन रहनेके कारण ब्रह्मकोटिके मुक्तात्माको नश्वर स्थूल शरीरका कुछ भी भान नहीं रहता है। जिस प्रकार मदिरापानसे उन्मत्त पुरुषका अपने वस्त्रके प्रति कुछ भी ध्यान नहीं रहता है, ठीक उसी प्रकार शरीर रहा या गया, इत्यादि विषयोंमें ब्रह्मकोटिके मुक्तात्माका कुछ भी ध्यान नहीं रहता है। इनके विषयमें छान्दोग्योपनिषद्में भी लिखा है :—

"नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवा-यमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः।"

जनसंघोंके बीचमें उनका शरीर रहनेपर भी उनको अपने शरीरकी कुछ भी स्मृति नहीं रहती है, केवल दूसरे मनुष्य उनके शरीरको देखते रहते हैं। जिस प्रकार भारवहनमें लगाये हुए अश्व वृष आदि प्रभुकी आज्ञासे भारवहन करते रहते हैं, उसी प्रकार परमात्माके द्वारा नियोजित प्राण मुक्तात्माके शरीर को चलाता

रहता है, उनको स्वयं शरीरका कुछ भी सूझ नहीं रहता है। शरीरका सूझ पड़ता कैसे है इस विषयमें योगवाशिष्ठमें लिखा है—

पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम्।
आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदक्षताः॥

पासके भक्तोंसे जगाये जानेपर निद्रोत्थित मनुष्यकी तरह पूर्वाभ्यस्त व्यवहार-क्रमसे पान भोजन शौच आदि थोड़ा बहुत कर लेते हैं। यही सब आत्माराम ब्रह्म-कोटिके जीवन्मुक्त महात्माका मत्तस्तब्धवत् आचरण है। किन्तु ईशकोटिके जीव-न्मुक्तमें इस प्रकारकी मत्तस्तब्धता नहीं पायी जाती है। क्योंकि उनको साधनदशामें ज्ञानाधिकारके साथ साथ कर्माधिकारका भी मधुर समन्वय रहनेके कारण वे सिद्ध-दशामें स्वस्वरूपमें अटल रहनेपर भी कर्मप्रधान प्रारब्धसंस्कारके भोग द्वारा क्षयरूपसे जगत्कल्याणकर अनेक कार्य्य करते हैं। इस लिये उनके विषयमें श्रुतिने कहा है—

'आत्मक्रीड़ आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'

ब्रह्ममें रमणशील, ब्रह्मानन्दविलासपूर्ण श्रेष्ठ ब्रह्मवित् पुरुष क्रियावान् अर्थात् जागतिक क्रियामें भी निपुण होते हैं। उनकी यह क्रियाकारिता तीन प्रकारसे उत्पन्न होती हैं। एक अपने कर्मप्रधान प्रारब्धसंस्कारके भोग द्वारा क्षयरूपसे। प्रारब्धभोग करनेके लिये ईशकोटिके मुक्तात्माको अनेक कर्म करने पड़ते हैं। वासना बीज दग्ध हो जानेके कारण उन सब कर्मोंके द्वारा नवीन क्रियमाण संस्कार उत्पन्न नहीं होता है। वे भोग द्वारा नष्ट हो जाते हैं। द्वितीयतः प्राक्कालमें उत्पन्न अन्य जीवन्मुक्तके कर्मको आश्रय करके भी ईशकोटिके मुक्तात्माके जीवनमें कर्म हो सकते हैं। यदि किसी जीवन्मुक्तके द्वारा पहले कुछ कार्य हो गये हों, किन्तु देशकाल अनुकूल न होनेसे उस समय उन कर्मोंका फलोदय न हुआ हो और अब उनके फलोदयका अनुकूल देशकाल आ गया हो, तो पूर्वोत्पन्न जीवन्मुक्तके किये हुए वे सब कर्म इस समय उस जीवन्मुक्तको आश्रय करके देशकालानुकूल फल दान कर सकेगा। यही जीव[illegible] जीवनमें क्रियानिष्पत्तिका दूसरा कारण है। इसका तीसरा कारण अ[illegible] है। क्योंकि मुक्तात्माका व्यष्टि केन्द्र नष्ट हो जानेके कारण वे समष्टि केन्द्र [illegible] विराट् केन्द्र द्वारा चालित होकर कार्य करते हैं। इस कारण उस सम[illegible] देशकालमें यदि विराट् केन्द्रकी ओरसे कुछ लोकोपकारजनक कार्य होने[illegible] आवश्यकता तथा अनुकूलता हो, तो उस ईशकोटिके जीवन्मुक्तके उ[illegible]

केन्द्रको आश्रय करके ऐसे कर्म फलीभूत हो सकते हैं। यही जीवन्मुक्तजीवनमें अलौकिक अवतार कार्य है। इस प्रकारसे ईशकोटिके मुक्तात्मा द्वारा जगत्-कल्याणकर अनेक मङ्गलमय कार्य होते हैं, यथा संन्यासगीतामें :—

जीवन्मुक्त ईशकोटिः पूर्वस्मादेव वस्तुतः।
परमोपकारतत्त्वाधिकारित्वं वै समाश्रयन्॥
जगद्गुरुत्वमापन्नोऽध्यात्मज्ञानं प्रचारयन्।
विश्वप्रभूतकल्याणं जनयत्यविलम्बितम्॥
सतः समुचितात् केन्द्रान्नूनं भगवदिङ्गितैः।
स कर्त्तुं भगवत्कार्यं प्रभवत्यनुपद्रवम्॥
एतादृगेव परमहंसादर्शो जगद्गुरुः।
जीवन्मुक्तो हि सर्वेषां कल्याणं कर्त्तुमर्हति॥
जगतां जीवनायैव जीवन्मुक्तस्य जीवनम्।
जगत्पवित्रतासिद्ध्यै जीवन्मुक्तस्य कर्म वै॥

ईशकोटिके जीवन्मुक्त महात्मा पहलेहीसे परमोपकार तत्त्वके अधिकार-को लाभ करके जगद्गुरुसे अध्यात्मज्ञानका प्रचार करते हुए सदा संसारका कल्याण विधान करते हैं। विराट् केन्द्रके द्वारा चालित होकर ऐसे महात्मा श्रीभगवान् विराट् पुरुषके ईङ्गितसे अनायास ही भगवत् कार्य-साधनमें समर्थ होते हैं। एतादृश जगद्गुरु आदर्श परमहंसके द्वारा जगत् सदा ही कल्याण-धनसे ही धनी होता है। उनका जीवन जगत्के जीवनार्थ ही होता है और उनका कर्म निखिल विश्वको पवित्र करनेके लिये ही होता, यही सब ईशकोटिके मुक्तात्माकी कर्मजीवन-महिमा है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि, ब्रह्मकोटिके तथा ईशकोटिके मुक्तात्माओंमें से श्रेष्ठतर कौन है। इस विषयमें श्रीभगवान् रामचन्द्रकी शङ्का तथा महर्षि वशिष्ठका समाधान योगवाशिष्ठमें निम्नलिखित-रूप है।—

श्रीराम :—

भगवन् भूतभव्येश कश्चिज्जातसमाधिकः।
प्रबुद्ध इव विश्रान्तो व्यवहारपरोऽपि सन्॥
कश्चिदेकान्तमाश्रित्य समाधिनियमे स्थितः।
तयोस्तु कतरः श्रेयानिति मे भगवन् वद॥

वशिष्ठ —

इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः ।
अन्तः शीतलता यासौ समाधिरिति कथ्यते ॥
दृश्यैर्नं मम सम्बन्ध इति निश्चित्य शीतलः ।
कश्चित् संव्यवहारस्थः कश्चिद् ध्यानपरायणः ॥
द्वावेतौ राम सुसमावन्तश्चेत् परिशीतलौ ।
अन्तःशीतलता या स्यात्तदनन्ततपः फलम् ॥

श्रीरामचन्द्रने कहा—हे भगवन्! निर्विकल्पसमाधिलाभके अनन्तर जो महात्मा व्युत्थानदशा जैसे लौकिक व्यवहारमें रत रहते हैं और जो महात्मा लौकिक व्यवहार त्याग करके एकान्त सेवन करते हैं, इन दोनोंमें श्रेष्ठतर कौन हैं?

महर्षि वशिष्ठने उत्तर दिया—त्रिगुणमय संसारको अनात्मारूप जानकर अन्तःशीतलता अर्थात् त्रिगुणविकाररहित अन्तःसाम्यभावमें प्रतिष्ठित होना ही समाधि है। 'दृश्य प्रपञ्चसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है' ऐसा निश्चय करके अन्तः शीतल भावके साथ कोई मुक्तात्मा लौकिक व्यवहार भी करते हैं और कोई उनसे अलग भी रहते हैं। ये दोनों एक ही हैं, क्योंकि अन्तःशीतलता तथा आत्मारामतामें दोनोंमें कोई भी भेद तथा न्यूनाधिक्य नहीं है। अन्तः-शीतलता ही अनन्त जन्मकी अनन्त तपस्याका फलरूप है। चलता हुआ वायु भी वायु है और स्थिर वायु भी वायु है। प्राणप्रद वायुरूपके विचारसे निश्चल सचल दोनों वायुओंमें कोई भी भेद नहीं है। केवल सचल वायुके द्वारा निदाघरजनीमें सुषुप्तिकी शान्ति मिलती है और निश्चल वायुके द्वारा प्राणरक्षा-मात्र ही होता है। उसी प्रकार आत्माराम तथा निर्विकल्प पदवीपर प्रतिष्ठित होनेके कारण ईशकोटि और ब्रह्मकोटि दोनों प्रकारके जीवन्मुक्तोंमें कोई भी भेद नहीं है। केवल ईशकोटिके जीवन्मुक्त महात्मा द्वारा दीन जगत्का अशेष कल्याणसाधन होता है और ब्रह्मकोटिके मुक्तात्मा अपना ही उद्धार कर विदेह-मुक्ति लाभ कर लेते हैं। इतना ही अन्तर है। वस्तुसत्तामें कोई भेद नहीं है, जगत् कल्याण होने या न होनेके विषयमें ही भेद है। यही दोनों कोटिके मुक्तात्माके विषय में आर्य्यशास्त्रका सिद्धान्त है।

जीवन्मुक्तका जीवन बड़ा ही अपूर्व, अलौकिक, तथा विचित्रतामय है। जिन मधुर गुणोंके एकाधारमें समावेशके द्वारा मनुष्य पूर्ण मनुष्य कहलाता है;

वे सब जीवन्मुक्तके जीवनमें भ्रातृभावके साथ समाविष्ट होते हैं। महर्षि वशिष्ठने कहा :—

आर्यता हृद्यता मैत्री सौम्यता मुक्तता ज्ञता।
समाश्रयन्ति तं नित्यमन्तःपुरमिवाङ्गनाः॥
पेशलाचारमधुरं सर्वे वाञ्छन्ति तं जनाः।
वेणुं मधुरनिध्वानं वने वनमृगा इव॥
मातरीव शमं यान्ति विषमाणि मृदूनि च।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि समशालिनि॥
तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च।
बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते॥

जिस प्रकार कुलवधूगण अन्तःपुरको आश्रय करती हैं, उसी प्रकार आर्यभाव, हृद्यभाव, मैत्रीबाव, सौम्यभाव, मुक्तभाव, सर्वज्ञभाव, सभी भाव जीवन्मुक्त महात्माको आश्रय करते हैं, जिस प्रकार वनचारी मृगसमूह वेणुके मधुर निनादको पसन्द करते हैं। उसी प्रकार सुन्दर मधुर आचरणशील जीवन्मुक्त महात्मा सभीके प्रिय होते हैं। मातृहृदयसदृश उनके हृदयमें कोमल कठोर सभी भाव एकत्र समाविष्ट रहते हैं, वे सभीके विश्वासपात्र होते हैं। तपस्वी, बहुज्ञ, याजक, नृप, बलवान्, गुणवान्, सभीमें शमवान् जीवन्मुक्त महात्मा आदरणीय होते हैं।

आहार, निद्रा, भय, मैथुन, ज्ञान और सुखेच्छा, त्रिगुण भेदानुसार ये छः वृत्तियाँ पशुपक्षीसे लेकर मनुष्य देवता पर्य्यन्त सभीमें होती हैं। किन्तु जीवन्मुक्त महात्मामें ये छः वृत्तियाँ कुछ विचित्ररूपसे ही हुआ करतो हैं। यथा श्रीशम्भुगीतामें : —

निद्राहारस्वरूपिण्यस्तामसिक्यो हि वृत्तयः।
स्थूलदेहाश्रयेणैषां तिष्ठेयुर्नष्टवासनाः॥
भयमैथुनरूपिण्यो जीवन्मुक्तौघवृत्तयः।
राजसिक्यो विलीयन्ते स्वीयेषु कारणेष्वलम्॥
सुखेच्छाज्ञानरूपिण्यस्तेषां सात्त्विकवृत्तयः।
समं विश्वेन तादात्म्यभाजः सत्यः स्वधाभुजः॥
आभिमुख्येन मे नित्यं प्रवहन्ते न संशयः।

एवं मे ज्ञानिनो भक्ताः शक्नुवन्ति जगद्गुरोः ॥
जगतो रक्षकस्यापि पदमाप्तुमसंशयम् ॥

आहार और निद्रारूपी तामसिक वृत्तियाँ मुक्तात्माके स्थूल शरीरके आश्रयसे वासनाशून्य होकर जीवित रहती हैं। भयमैथुनरूपी राजसिक वृत्तियाँ अपने कारणमें लय हो जाती हैं। और ज्ञान सुखेच्छारूपी सात्त्विक वृत्तियाँ जगत्के साथ तदाकाररूप धारण करके परमात्माकी ओर सदा प्रवाहित होती हैं। इस प्रकारसे ज्ञानी भक्त मुक्तात्मागण जगद्रक्षक तथा जगद्गुरु पदवीको प्राप्त हो जाते हैं। उनका ज्ञान संसारके लिये तथा उनका सुख विश्वसुखचिन्तामें ही विलीन हो रहता है। आहार निद्रा स्थूलशरीरका स्वाभाविक धर्म है, इस लिये मुक्तपुरुषमें भी शरीर रहते इन दोनोंका रहना अवश्यम्भावी है। स्थूलशरीरपर जब तक जीवका मोह तथा अभिमान है तभी तक उसकी रक्षा और उसमें किसी प्रकार विपत्ति उत्पन्न होनेसे भयका उदय हुआ करता है। किन्तु अद्वैत ब्रह्मपदपर प्रतिष्ठित हो जानेसे जब शरीरका अभिमान अर्थात् देहाध्यास ही नष्ट हो जाता है और मुक्तात्मा अपनेको तीनों शरीरोंसे अलग समझने लगता है, तब उनमें भयसञ्चारका कोई भी कारण अवशेष नहीं रह जाता है। इसी कारण मुक्तात्मा निर्भय हो जाते हैं, यथा श्रुतिमें :—

"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन"
"अभयं वै जनक त्वं प्राप्तोऽसि"

ब्रह्मकी आनन्दसत्ताकी उपलब्धि होनेपर मुक्तात्माको कहीं भी भयका सञ्चार नहीं होता है। हे जनक! तुम जीवन्मुक्त होकर निर्भय हो गये हो। इसी प्रकार मुक्तात्मामें मैथुनवृत्ति भी नहीं रहती है, क्योंकि भोग्यभोक्तृभावमूलक मैथुनवृत्तिकी सम्भावना तभी तक है, जब तक द्वैतभावकी स्थितिके द्वारा पुरुष अपनेको भोक्ता तथा स्त्रीको भोग्या समझे। किन्तु मुक्तावस्थामें अद्वैत स्थिति हो जानेपर भोग्यभोक्तृभाव नष्ट हो जाता है और स्त्री पुरुष सर्वत्र ही एकरस ब्रह्मभावका अनुभव होने लगता है। इसलिये मुक्तात्मामें मैथुनवृत्ति नहीं रहती है। उनके लिये जब आत्माके सिवाय दूसरा कोई रहा ही नहीं तो वे बहिःरमण न होकर आत्माराम होजाते हैं। इसके सिवाय देहाध्यासशून्य हो जानेके कारण देह तथा इन्द्रियोंके द्वारा सुख लेनेकी कामना ही उनमें नष्ट हो जाती है। इसी कारण श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
यदा संहरते चायं कुर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

जिस प्रकार विशाल चारों ओरसे परिपूर्ण समुद्रमें नदियाँ आकर विलीन हो जाती हैं उनकी पृथक् सत्ता एक बार ही नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिस महान् पुरुषके विशाल हृदयमें निखिल कामनाएँ लवलीन हो जाती हैं वे ही मुक्तात्मा शाश्वत शान्तिके अधिकारी हो जाते हैं। कामनापरायण व्यक्तिको शान्ति नहीं मिलती है । जब मनोगत समस्त कामना नष्ट हो जाती है और योगी केवल आत्मानन्दमें ही परितृप्त रहते हैं, उसी समय उनको स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। जिस प्रकार कछुआ अपने समस्त अङ्गोंको भीतर सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार योगीकी समस्त इन्द्रियाँ जब विषयोंसे निवृत्त हो जाती हैं तभी मुक्तात्माकी स्थितप्रज्ञ यह संज्ञा होती है। विषयोंका सञ्चय न करनेसे विषय निवृत्त हो सकता है, किन्तु मनमेंसे विषयका सूक्ष्म संस्कार नष्ट नहीं होता है, केवल ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा ही विषयका सूक्ष्म संस्कार तक नष्ट हो जाता है और तभी मुक्तात्मा योगी आत्माराम हो जाते हैं। यही जीवन्मुक्त महात्मामें त्रिगुणभेदानुसार आहारनिद्रादि छः वृत्तियोंके रहने न रहनेका मूल तत्त्व है । केवल इतना ही नहीं, मैथुनवृत्तिशून्य आत्माराम मुक्त पुरुषके सामने बद्ध जीवोंकी भी मैथुनवृत्ति कुण्ठित हो जाती है और उस महात्माकी अपूर्व शक्तिके प्रभावसे वे जितेन्द्रिय वैराग्यवान तथा परमकल्याणभाजन बन जाते हैं। योगदर्शनमें श्रीभगवान् पतञ्जलिने एकतत्त्व लाभके जितने साधन बताये हैं, उनमेंसे 'वीतरागविषयं वा चित्तम्' यह भी अन्यतम साधन है । इसका तात्पर्य यह है कि, वीतराग महात्माके अन्त.करणके साथ अपने अन्त.करणको मिलाये रखनेसे साधकको शीघ्र एकतत्त्व प्राप्ति होती है। जीवके हृदयमें देवासुर दोनों भाव तथा सत्त्ववृत्ति तमोवृत्ति दोनो ही रहा करती हैं। देवभाव या सत्त्ववृत्तिपरायण साधकके पास

रहनेसे या उनके विषयमें चिन्ता करनेसे अपने हृदयकी सत्त्ववृत्तियाँ प्रकट होती हैं और मनोवृत्तियाँ दब जाती हैं। इसी कारण वीतराग पुरुषमें चित्त अर्पण करनेसे विषयविमुख चित्त शीघ्र ही एकतत्त्व लाभ कर लेता है। यही उस सूत्रका तात्पर्य है। अतः सिद्ध हुआ कि, मुक्तात्मा महापुरुष केवल स्वयं ही आत्माराम मैथुनादि वृत्तिरहित नहीं होते हैं, अधिकन्तु स्पर्शमणितुल्य अपने अमृतमय स्पर्शसे बद्ध जीवोंकी भी निखिल वृत्तियोंका आमूल नाश करके उनको संसारसिन्धुसे पार कर देते हैं। इसी कारण नित्यमुक्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने कहा था—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जितः कथितो धानः प्रायो बीजाय नेष्यते॥

परमात्मामें कामके द्वारा भी अनुराग होनेपर वह काम काम नहीं रह जाता है, किन्तु भुने हुए धानकी तरह अंकुरोंत्पादिकाशक्तिसे शून्य होकर स्वयं ही नाशको प्राप्त हो जाता है। इसी कारण जीवन्मुक्त महात्मा ही सच्चे गुरु तथा घोरान्धकार-मय संसारमें पथप्रदर्शक है, यथा राजयोगसंहितामें—

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्तो ब्रह्मस्वरूपिणः॥

घोर संसार सागरमें निमज्जन करनेवाले संसारी जीवोंके लिए ब्रह्मवेत्ता मुक्तात्मा परम आश्रयस्वरूप तथा भवसागरके तरणीरूप होते हैं। दिवाकर बहिर्जगत्के प्रकाशक हैं, किन्तु मुक्तात्मा अन्तर्जगत्को प्रकाशित करके मुमुक्षुजनोंका परम कल्याण साधन करते हैं। मुक्तात्मा ही सच्चे देवता, सच्चे बन्धु तथा सच्चे ब्रह्म-स्वरूप हैं। यही भवसिन्धुसेतु मुक्तात्माका अद्भुत अलौकिक चरित्र है।

जिस प्रकार मुक्तात्माका चरित्र अलौकिक है उसी प्रकार उनको पह-चानना भी बड़ा कठिन है। एक तो आहार निद्रादि स्वाभाविक वृत्तियोंके रह जानेसे बाहरी चेष्टाओंसे वें बहुधा लौकिक जीवोंकी तरह ही दीखते हैं, द्वितीयतः भावाभावरहित ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठा लाभ करनेसे उनके जीवनमें अपना कोई अलग भाव ही नहीं होता है। वे स्वच्छ स्फटिक मणिकी तरह

जो भाव सामने हो उसीमें निर्लिप्तरूपसे रम जाते हैं, इस कारण लौकिक जीवोंके लिये उनको पहचानना बड़ा ही कठिन हो जाता है। 'पुराणतत्त्व' नामक पूर्ववर्णित प्रबन्धमें मुक्तात्मा श्रीकृष्ण भगवान्के विषयमें जो कहा गया है कि उनमें 'बाले बाला: विदुषि विबुधा:' अर्थात् बालकके साथ बालककी तरह, विद्वान्के साथ विद्वान्की तरह इत्यादि सभी भाव देखे जाते थे, किन्तु स्वच्छ स्फटिककी तरह स्वयं भावातीत रहते थे, यही सब जीवन्मुक्त महात्माका यथार्थ स्वरूप है, जिसके विषयमें राजयोगसंहितामें भी लिखा है—

अनुबन्धपरे जल्लावसंसक्तेन चेतसा।
भक्ते भक्तसमाचार: शठे शठ इव स्थित:॥
बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरेऽतिधैर्यवान्।
युवा यौवनवृत्तेषु दुःखितेष्वनुदुःखित:॥

जिन व्यक्तियोंके साथ उनका सम्बन्ध होता है, उनमें अनासक्त चित्तसे ऐसा वर्ताव करते हैं कि जीवन्मुक्त महात्मा भक्तके सामने पूर्ण भक्त ही प्रतीत होते हैं, शठके सामने शठ प्रतीत होते हैं, बालकके सामने बालक, वृद्धके सामने वृद्ध, धीरके सामने धैर्यशील, युवकके सामने युवक और दुःखितके सामने दुःखितसे ही दीखते हैं। किन्तु भावातीत ब्रह्मपदमें चिरप्रतिष्ठित जीवन्मुक्त योगीके शुद्धस्फटिकतुल्य अन्तःकरणमें उल्लिखित किसी भावका भी अभिनिवेश नहीं होता है। जिसप्रकार स्फटिक मणिके सम्मुख जिस रङ्गका पुष्प लाया जाय, स्फटिक उसी रंगमें ही रंगा हुआ दीख पड़ता है, किन्तु वास्तविक उसमें कोई भी रङ्ग नहीं चढ़ता है, ऐसा उनके विषयमें भी समझना चाहिये। वे बाहर सब कुछ करनेपर भी तथा प्राकृत जीवोंको तरह लौकिक व्यवहारमें प्रवृत्त रहनेपर भी स्वरूपसे कुछ भी नहीं हिलते और न उनके अन्तःकरण तथा आत्मापर किसी विषयका प्रभाव ही जमता है। जैसा कि राजयोगसंहितामें लिखा है—

अन्त: सर्वपरित्यागी नित्यमन्तरनेषण:।
कुर्वन्नपि बहि: कार्यं सममेवावतिष्ठते॥
बहि: प्रकृतसर्वेहो यथाप्राप्तक्रियोन्मुख:।
स्वकर्मक्रमसम्प्राप्तो बन्धुकार्यानुवृत्तिमान्॥
समग्रसुखभोगात्मा सर्वाशास्विव संस्थित:।
करोत्यखिलकर्माणि त्यक्तकर्तृत्वविभ्रम:॥

उदासीनवदासोनः प्रकृतक्रमकर्मसु ।
नाभिवांञ्छति न द्वेष्टि न शोचति न हृष्यति ॥

अन्तःकरणसे सर्वत्यागी तथा निरिच्छ होनेके कारण बाहर कार्य्य करनेपर भी मुक्तात्मा भीतर समभावसे ही अवस्थान करते हैं। वे बाहर स्वाभाविकरूपसे सभी इच्छा करनेवाले, अनायास लब्ध कर्ममें तत्पर तथा प्रारब्धानुसार प्रवाहपतितरूपसे प्राप्त कर्मोंमें सदा नियुक्त रहते हैं। और इस प्रकारसे समग्र सुखोंके भोगनेवालेके सदृश तथा सभी आशाओंमें स्थित रहनेवालेके सदृश प्रतीत होते हुए कर्त्तृत्वाभिमान छोड़ कर सभी कर्म करते हैं। प्रकृतिक्रमानुसार प्राप्त कर्मोंमें उदासीनवत् स्थित होकर वे न इच्छा ही करते हैं, न द्वेष ही करते हैं, न शोक ही करते हैं और न प्रसन्न ही होते हैं। यही कारण है जिससे अन्तर्दर्शी उन्नत पुरुषके सिवाय लौकिक जीव अलौकिक मुक्तात्माको नहीं पहचान पाते है।

जहाँ आत्यन्तिक साम्य है वहाँ आपेक्षिक साम्य तथा वैषम्य दोनों ही लवलीन हो जाते हैं। इसी कारण भावातीत ब्रह्मपदमें आपेक्षिक भाव अभाव दोनोंका ही लयसाधन हो जाता है। यही कारण है कि, परमात्मामें समस्त परस्पर विरुद्ध धर्म, परस्पर विरुद्ध भाव तथा परस्पर विरुद्ध क्रियाओंका समन्वय देखा जाता है। परमात्मा मूर्त्त भी हैं, अमूर्त्त भी हैं, साकार भी हैं, निराकार भी हैं, प्रकृतिके भीतर भी हैं, प्रकृतिके बाहर भी हैं, दूर भी हैं, पास भी हैं, हाथ न होनेपर भी ग्रहण करते हैं, पाँव न होनेपर भी चलते हैं, अचक्षु होनेपर भी देखते हैं, अकर्ण होनेपर भी सुनते हैं, उनमें न धर्म है और न अधर्म है, न पाप है और न पुण्य है, न कर्त्तव्य है और न अकर्त्तव्य है, न भाव है और न अभाव है, वे सब कुछ करनेपर भी कुछ नहीं करते हैं; निष्क्रिय होनेपर भी सृष्टिस्थितिप्रलय सभी करते हैं; इत्यादि इत्यादि। इसी प्रकार भावातीत ब्रह्मपदपर प्रतिष्ठित अथच भावमय व्यावहारिक जगत्के साथ निर्लिप्त सम्बन्ध रखनेवाले जीवन्मुक्त महात्मामें भी दोनों विरुद्ध भावोंका समन्वय देखनेमें आता है। वे सब कुछ करते हुए भी निष्क्रिय ही बने रहते हैं। धर्माधर्म्म सभीके भीतर धर्माधर्म्मसे अतीत ही बने रहते हैं, निखिल भोगके भीतर भी त्यागी ही बने रहते हैं, यही उनका विरुद्धभावसमन्वयशील अपूर्व अलौकिक जीवन है, जिसके विषयमें आर्य्यशास्त्रमें भूरि भूरि प्रमाण प्राप्त होते हैं। योगवाशिष्ठमें लिखा है :—

उदारचरिताकारः समः सौम्यसुखोदधिः ।
सुस्निग्धः शीतलस्पर्शः पूर्णचन्द्र इवोदितः ॥
न तस्य सुकृतेनार्थो न भोगैर्न च कर्मभिः ।
न दुष्कृतैर्न भोगानां सन्त्यागेन च बन्धुभिः ॥
न कार्यकारणारम्भैर्न निष्कृतितया तथा ।
न बन्धेन न मोक्षेण न पातालेन नो दिवा ॥
यथा वस्तु यथा दृष्टं जगदेकमयात्मकम् ।
तदा बन्धविमोक्षाभ्यां न किञ्चित् कृपणं मनः ॥
सम्यग् ज्ञानाग्निना यस्य दग्धाः सन्देहजातिकाः ।
निःशङ्कमलमुड्डीनस्तस्य चित्तविहङ्गम ॥
स तिष्ठन्नपि कार्येषु देशकालक्रियाक्रमैः ।
न कार्यसुखदुःखाभ्यां मनागपि हि गृह्यते ॥
बहिः प्रकृतसर्वार्थोऽप्यन्तः पुनरनीहया ।
न सत्तां योजयत्यर्थे न फलान्यनुधावति ॥
नोपेक्षते दु खदशां न सुखाशामपेक्षते ।
कार्योदये नैति मुदं कार्यनाशे न खिद्यते ॥
आमूलान्मनसि क्षीणे सङ्कल्पस्य कथा च का ।
तिलेष्विवाग्निदग्धेषु तैलस्य कलना कुतः ॥
न त्यजन्ति न वान्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम् ।
सर्वमेवानुवर्त्तन्ते पारावारविदो जनाः ॥
सुशून्येऽपि न खिद्यन्ते देवोद्याने न सङ्गिनः ।
निर्यति च न मुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥
विहरन्नपि संसारे जीवन्मुक्तमना मुनिः ।
आदिमध्यान्तविरसो विहसेज्जागतीर्गतीः ॥
रुदतो हसतश्चैव जीवन्मुक्तमतेरिह ।
न दुःखं न सुखं किञ्चिदन्तर्भवति न स्थितम् ॥
वीतरागाः सरागाभा अकोपा कोपसंयुताः ।
अमोहा मोहबलिता दृश्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥

इदं सुखमिदं दुःखमित्यादि कलनास्तु ताः।
अलं दूरगतास्तेषामंकुरा नभसो यथा ॥
यस्य स्थिता भवेत् प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः।
प्रपञ्चोऽपि स्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥
लीनधीरपि जार्गत्ति यो जाग्रद्धर्मवर्जितः।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥
वर्त्तमानेऽपि देहेऽस्मिन् छायावदनुवर्त्तिनि।
अहन्ताममताभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥
अतीताऽननुसन्धानं भविष्यदविचारणम्।
औदासीन्यमपि प्राप्तं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥

जीवन्मुक्त महात्मा उदारचरित्र, उदार आकार, समभावसम्पन्न, सौम्य और सुखके समुद्र, स्निग्ध, शीतल तथा पूर्णकलामय चन्द्रदेवकी तरह प्रकाशवान् होते हैं। उन्हें न तो सुकृतसे प्रयोजन है और न भोगसे, न कर्मसे, न दुष्कृतसे, न भोगोंके त्यागसे, न बान्धवोंसे, न कार्यकारणके आरम्भसे, न उनके विरामसे, न बन्धसे, न मोक्षसे, न पातालसे, न स्वर्गसे ही प्रयोजन रहता है। जो कुछ वस्तु जगत्में दिखाई देती है वे सभीको अद्वैत-भावमें देखते हैं। तब बन्ध या मोक्ष चिन्तासे उनका मन सङ्कीर्णताको प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि ज्ञानाग्नि द्वारा निखिल संशय जल जानेपर उनका चित्तविहङ्गम ब्रह्मगगनमें निर्भय होकर विहार करता है। देश काल क्रियाक्रमा-नुसार कार्योंमें लगे रहनेपर भी उनके परिणामजन्य सुखदुःखोंसे उनका लेश-मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता हैं। लौकिक जगत्में स्वाभाविकरूपसे सभी काम करते रहनेपर भी अन्तःकरणमें वासनाभावके कारण उनकी सत्ताका किसी विषय-के साथ न संयोग हीं रहता है और न उनके हृदयमें फलाकांक्षा ही रहती है। तब न वे दुःखदशाकी ही उपेक्षा करते हैं और न सुख दशाकी ही अपेक्षा रखते हैं। कार्योदयमें वे प्रसन्न भी नहीं होते और कार्य्यविफला होनेपर खेद भी नहीं करते। क्योंकि जिनका मन ही आमूल नष्ट हो गया है, उनमें संकल्पकी क्या कथा हो सकती है? अग्निदग्ध तिलसे तैल कैसे निकलेगा? वे जागतिक व्यवहारोंको न चाहते ही हैं और न छोड़ते ही हैं। इस प्रकारसे प्रकृतिपारावार-वेत्ता योगी सब कुछ करते रहते हैं। उन्हें शून्यमें रहनेसे न खेद ही

होता है और न देवोद्यानमें विहार करनेपर प्रीतिकी तरलता ही होती है। वे संसारमें विहार करनेपर भी सूर्यदेवके समान नियतिका अतिक्रमण नहीं करते हैं। आदि, अन्त, मध्य सभी भावमें विरस-निलिप्त होकर जगत्‌की गतिको देख देख जीवन्मुक्त हँसा करते हैं। चाहे जीवन्मुक्त हँसे या रोवें उनके हृदयमें किसी प्रकारका सुख दुःख स्थायी नहीं रहता हैं। वे वीतराग होने पर भी सरागकी तरह, अक्रोध होनेपर भी सक्रोधकी तरह और निर्मोह होनेपर भी मोहमुग्धकी तरह देख पड़ते हैं। नभोमण्डलमें अंकुरकी तरह यह सुख है, यह दुःख है इत्यादि कल्पना उनकी आमूल नष्ट हो जाती है। जिसकी प्रज्ञा अटल हो गई है, जो निरन्तर ब्रह्मानन्दमें मग्न है और जिसके अन्तःकरणमें प्रपञ्च छायाकी तरह स्मृतिमात्रमें पर्यवसित हो गया है वही जीवन्मुक्त है। बुद्धि ब्रह्ममें लीन रहनेपर भी जो जागते रहते हैं, जो जाग्रद्-धर्मसे वर्जित हैं, जिसका बोध वासनारहित है वही जीवन्मुक्त है। जिसका देह छायाकी तरह साथ रहनेपर भी उसमें अहन्ता ममताका पूर्ण अभाव रहता है वहीं जीवन्मुक्त है। अतीतका अनुसन्धान न करना, भविष्यत्‌का विचार न करना और वर्त्तमानमें उदासीन रहना यही जीवन्मुक्तका लक्षण है। इस प्रकारसे जीवन्मुक्त महात्माके जीवनमें समस्त विरुद्ध भावोंका एकाधार समन्वय देखनेमें आता है।

त्रिगुण तथा त्रिभावसे परे परमपदमें विराजमान रहनेसे प्रपञ्चमय कार्यब्रह्ममें त्रिगुण त्रिभावकी लीलाको मुक्तात्मा सदा ही साक्षीरूपसे निरीक्षण करते हैं। क्योंकि जब तक जीव त्रिगुण त्रिभावके लीलाविलासमें बहता रहता है, तब तक न त्रिगुणका ही ठीक ठीक तारतम्य उसको प्रतीत हो सकता है और न त्रिभावका हो यथार्थ अनुभव उसको होता है। त्रिगुणातीत तथा भावातीत पदमें पहुँचनेपर ही गुणभावका पूरा पता लग सकता है। क्योंकि मुक्तात्मा ही बन्धनके रहस्यको यथार्थतः जान सकते हैं, बद्ध जोव बन्धनके रहस्यको यथार्थतः नहीं जान सकते हैं; और जिस दिन बन्धनके रहस्यको वे जान जाते हैं उस दिन वे बद्ध भी नहीं रह सकते हैं। बन्धन-रहस्य-विषयमें अज्ञान ही बन्धनका कारण है, और उसका ज्ञान ही मोक्षका कारण है। इसी कारण जीवन्मुक्त महात्मा जड़चेतनात्मक जगत्‌में त्रिगुण-त्रिभावको सूक्ष्मातिसूक्ष्म लीलातकको निरीक्षण कर सकते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञाके विकाश द्वारा प्रत्येक वस्तुकी स्थूलातिस्थूल सत्तासे लेकर सूक्ष्माति-

सूक्ष्म सत्ताका पता उनको लग जाता है। और इसी कारण क्या लौकिक, क्या अलौकिक, क्या स्थूल, क्या सूक्ष्म किसी विषमयमें भी वे गल्ती नहीं करते हैं। कार्यब्रह्ममें त्रिगुणका सम्बन्ध प्रकृतिसे और त्रिभावका सम्बन्ध आत्मासे है। एक ही वस्तुमें अवस्थानुसार सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंके परिवर्त्तन हो सकते हैं। किन्तु अज्ञान दशामें इनके तारतम्य ठीक ठीक अनुभवमें नहीं आ सकते हैं। अनेक समय तमोगुण ही सत्त्वगुण मालुम होता है तथा रजोगुणजन्य विकारका पता हर समय लगने ही नहीं पाता है। यह जीवन्मुक्त महात्माकी सत्यपोषिणी ऋतम्भरा प्रज्ञाका ही चमत्कार है कि, जिसके द्वारा त्रिगुणके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद तथा स्थूलराज्य और मनोराज्यमें नित्य परिवर्त्तन उनको यथार्थरूपसे दृष्टिगोचर हो जाते हैं। इसी प्रकार त्रिभावका भी रहस्य ज्ञान द्वारा मुक्तात्मा यथार्थतः जान सकते हैं। ज्ञानकी प्रथम दशामें साधक प्रकृतिके आश्रयसे ब्रह्मसत्ताका अनुमान कर सकता है। द्वितीय दशामें कार्यब्रह्ममें व्याप्त कारण ब्रह्मसत्ताकी परोक्ष अनुभूति होने लगती है। किन्तु तृतीय दशामें जब मनोनाश, वासनाक्षय तथा तत्त्वज्ञानका पूर्णोदय हो जाता है, तो उस समय निर्विकल्प समाधिस्थिति योगीको सर्वत्र एकरस चिदानन्दमय ब्रह्मसत्ता ही देखनेमें आती है। उस समय वे समस्त प्रपञ्चको प्रस्तरमें खोदित मूर्त्तियोंकी तरह व्यापक आत्मापर प्रतिष्ठित तथा भासमान ही देखते हैं। श्रीभगवान् शंकराचार्यने दक्षिणामूर्त्ति-स्तोत्रमें जो लिखा है कि:—

'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्'

समस्त संसार दर्पणमें दृश्यमान प्रतिबिम्बकी तरह आत्मापर ही प्रतिभासित है, ठीक यही अनुभव मुक्तात्माको उस समय हुआ करता है। वे इसी अनुभवके अनुसार कार्यब्रह्मगत प्रत्येक वस्तुको अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत तीनों भावोंमें निरीक्षण कर सकते हैं। जिस मौलिक भावके कारण किसी वस्तुका वस्तुत्व है वह उसका अध्यात्मभाव है। जैसा रूपतन्मात्रामय जिस भावके रहनेसे चक्षुरिन्द्रियकी ज्ञानेन्द्रियता सिद्ध होती है, वह चक्षुका अध्यात्म भाव है। जिस दैवीशक्तिकी सहायतासे वह सत्ता दृश्यजगत्‌में कार्यकारिणी हो सकती है वह उसका अधिदैव भाव है। जैसा चक्षुरिन्द्रियका अधिदैव सूर्यदेव हैं, जिसकी सहायतासे चक्षु दृश्यजगत्‌में अपना कार्य कर सकता है। और उस सत्ताकी भौतिक जगत्‌में जो कार्यकारिता है वह उसका अधि-

भूत भाव है। इसलिये चक्षुरिन्द्रियका अधिभूतभाव 'द्रष्टव्य' है जैसा कि महाभारत-में वर्णन है :—

चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।
द्रष्टव्यमधिभूतन्तु सूर्यस्तत्राधिदैवतम् ॥

तत्त्वदर्शी ब्राह्मणगण ज्ञानेन्द्रियरूप चक्षुको अध्यात्म, द्रष्टव्यको अधिभूत और सूर्यको अधिदैव कहते हैं। इस प्रकारसे प्रत्येक वस्तुमें उल्लिखित लक्षणानुसार भाव-त्रयका समावेश रहता है। मुक्तात्मा भावातीत पदवीपर प्रतिष्ठित रहनेपर भी आवश्यकतानुसार ज्ञानकी सहायतासे प्रत्येकवस्तुमें अध्यात्म अधिदैव अधिभूतरूपी त्रिभावोंका निरीक्षण करते हैं और कार्यब्रह्मके प्रत्येक स्थानमें त्रिगुण त्रिभावकी लीला और उस लीलामूलमें भावमय भगवान्‌की मधुर सत्ताको ज्ञाननयनगोचर करके असीम आनन्दका अनुभव करते हैं। यही जीवन्मुक्त महात्माके जीवनमें गुण-भाव निरीक्षणका गूढ़ रहस्य है।

इस प्रकारसे प्रारब्धक्षयपर्यन्त इस संसारमें स्थूल शरीर सहित अवस्थान करके जीवन्मुक्त महात्मा प्रारब्धावसानमें विदेहमुक्ति लाभ कर लेते हैं। उस समय उनका स्थूल शरीर पञ्चमहाभूतमें मिल जाता है, सूक्ष्मशरीर समष्टि सूक्ष्ममें मिल जाता है और जीवात्मा परमात्मामें विलीन हो जाता है। यथा शास्त्रमें—

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः ॥

कालानुसार देहावसानकालमें निस्पन्द पवनकी तरह जीवन्मुक्त महात्मा विदेहमुक्ति पदको प्राप्त हो जाते हैं। उस समय ब्रह्मलीन उनकी सत्तामें उदय अस्त सत् असत् दूर निकट अस्तित्व नास्तित्व आदि कोई भी द्वैत भाव या परिवर्तन नहीं रहता है। उस समय क्या होता है, इसके विषयमें मुण्डक श्रुतिने कहा है—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।

कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्वं एकीभवन्ति ॥

उस समय अर्थात् पञ्चतत्त्वोंमें स्थूलशरीर विलयके समय उनके सूक्ष्मशरीरकी पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राणरूपी पञ्चदश कलायें स्वस्वकारणमें लय हो जाती हैं, इन्द्रियाधिष्ठात्री देवतागण तत्तद् देवशक्तियोंमें मिल जाते हैं, सञ्चित कर्म तथा विज्ञानात्मा सभी अव्यय परम पुरुषमें विलीन हो जाते हैं। यही जीवन्मुक्ति महात्माकी प्रारब्धावसानमें विदेहमुक्ति है और यहो आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार जीवन्मुक्ति समीक्षा है।

षष्ठ काण्डकी अष्टम शाखा समाप्त हुई।

श्रीधर्मकल्पद्रुमका समीक्षावर्णन नामक षष्ठ काण्ड समाप्त हुआ।



सप्तम काण्ड

सदाचार

धर्मानुकूल शारीरिक व्यापारको सदाचार कहते हैं। केवल शारीरिक व्यापार या शारीरिक चेष्टा व्यायामादि अङ्गसञ्चालनमात्र है। उससे स्थूल शरीर पुष्ट तथा सबल होनेपर भी आत्मोन्नतिके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, इस कारण कोरे शारीरिक व्यापारको आचार या सदाचार नहीं कह सकते। शारीरिक व्यापार या शारीरिक चेष्टा जब धर्मानुकूल तथा किसी प्रकार धर्मलक्ष्यको लेकर होता है तभी उसके द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंकी उन्नति और साथ ही साथ आत्माका भी अभ्युदयसाधन होता है। इसी कारण धर्मानुकूल शारीरिक व्यापारको आचार कहा गया है। आचारके साथ धर्मका एतादृश सम्बन्ध रहनेके कारण ही आर्यशास्त्रमें आचारको 'प्रथमधर्म' भी कहा है और 'परमधर्म' भी कहा है। यथा मनुसंहितामें—

आचार प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः॥

श्रुति स्मृतिमें उपदिष्ट आचार प्रथम धर्म है। द्विजगणको सदा आचारयुक्त होकर आत्मोन्नतिशील होना चाहिये। इसी प्रकार काशीखडमें भी लिखा है यथा—

आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः।
आचाराद् वर्द्धते ह्यायुराचारात् पापसंक्षयः॥

आचार परम धर्म है, आचार परम तप है, आचारसे आयुर्वृद्धि तथा पापनाश होता है। जीवके अस्तित्वमें भौतिक स्थूलशरीर प्रथम है और आचारका साक्षात् सम्बन्ध स्थूलशरीरके साथ ही हैं तथा इसीके पवित्र होनेसे ही सूक्ष्मशरीर आदिका अध्यात्मिक पवित्रतासाधन होता है, इसलिये श्रीभगवान् मनुने आचारको प्रथम धर्म कहा है। विना अनाचारवान् हुए कोई भी आत्मोन्नति फलवती नहीं होती है, इस कारण आचारको आर्यशास्त्रमें 'परमधर्म' भी कहा है, यथा मनुसंहितामें—

आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्व तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥

आचारभ्रष्ट ब्राह्मण वेदका फललाभ नहीं कर सकते हैं, केवल आचारवान् होकर ही सम्पूर्ण वेदके फलभोगी होते हैं। इस तरहसे आचार द्वारा धर्मप्राप्तिको जानकर मुनियोंने आचारको ही सकल तपस्याका मूल तथा परम धर्म करके ग्रहण किया है। अतः सिद्ध हुआ कि, आचार, प्रथम धर्म भी हैं और परधर्म भी है। ऐसा क्यों है ? सो आचारमहातरुकी सर्वाङ्गीण पूर्णता तथा फलदातृत्वशक्तिपर विचार करनेसे स्पष्ट ही विदित होगा। आचारमहातरुके विषयमें शास्त्रमें वर्णन है कि—

धर्म्मोऽस्य मूलान्यसवः प्रकाण्डो,
वित्तानि शाखाच्छदनानि कामाः ।
यशांसि पुष्पाणि फलञ्च पुण्यं,
असौ सदाचारतरुर्महीयान् ॥

सदाचाररूपी महान् वृक्षका फल धर्म है, काण्ड आयु है, शाखा धन है, पत्र कामना हैं, पुष्प यश है और फल पुण्य है। इस प्रकारसे यह कल्पतरु महामहीयान् है। अब नीचे, क्रमशः इन वर्णनोंकी सार्थकता बताई जाती है।

धर्मानुकूल शारीरिक व्यापारको ही जब सदाचार कहा गया है, तो सदाचारतरुका मूल धर्म है इसमें क्या सन्देह है। जीवमात्रकी प्रकृति स्वाभाविकरूपसे अधर्म ओर अनर्गलताकी ओर होती है। सभी यथेच्छ आहार विहारादि करना चाहते हैं। इस प्रकारकी स्वाभाविक निरङ्कुश प्रवृत्ति यदि बढ़ती गई, तो मनुष्योंमें देवभाव विकसित नहीं हो सकेगा, वे पशुभावके दास होकर मनुष्यजन्मको नष्ट कर देंगे। सदाचारके अनुशासनसे मनुष्यकी अनर्गल वृत्ति नियमित होती है और वह यथेच्छ आहार-विहार करनेमें प्रवृत्त नहीं होता। नियमितरूपसे सब कार्य धर्मानुकूल करते रहनेसे आपही आप संयमका अभ्यास होता है। और मनुष्यमें देवभाव उत्पन्न होकर उसका जीवन सफल हो जाता है। वह भगवान्की ओर स्वयं बढ़ता चला जाता है, उसका जीवन शतदल कमलकी तरह विकसित होकर भगवच्चरणारविन्दोंमें समर्पित होता है और

उसका धर्ममय यशः सौरभ दिगन्तको आमोदित करता है। इसीसे धर्मको सदाचारोंका मूल कहा गया है।

सदाचाररूपी वृक्षका काण्ड (पेड़ी) आयु है। अर्थात् सदाचारोंके पालनसे आयुर्वृद्धि होती है। आयुको बढ़ानेवाले जितने उपाय हैं, उनमें संयम मुख्य है। सब इन्द्रियों और मनोवृत्तियोंका संयम करनेसे आयु बढ़ती है। सदाचार, जीवनयात्राकी सब प्रकारकी अनर्गलताओंका निषेधकर तपस्या और संयमका उपदेश करता हुआ मनुष्यकी आयुर्वृद्धिमें सहायता करता है। इसीसे सदाचारी स्त्री-पुरुष दीर्घायु होते हैं।

सदाचारतरुकी शाखा ऐश्वर्य और पत्र कामनाएँ हैं। सदाचार सब प्रकारसे धनसंग्रहके अनुकूल है। साधारणतया धन-लाभको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, यथाः—धनका अर्जन, संरक्षण और संवर्द्धन। शरीर सुदृढ़ कुशल और कार्यक्षम, बुद्धि विषयोंके बोधमें पटु अमोघ, चित्त, स्थिर और उत्साहसम्पन्न एवं स्वभाव विश्वासयोग्य तथा लोकप्रीतिकर होनेसे धनादिक उपार्जन करना कठिन नहीं होता है। सदाचार पालनसे शरीर, बुद्धि, चित्त और स्वभावमें उक्त गुण उत्पन्न होते हैं और धनोपार्जन सुलभ हो जाता है। भोगेच्छाके संयमसे, विलासिताके दमनसे और बाह्याडम्बरको कम करनेसे धनका संरक्षण हो सकता है। सदाचारपालन धनादिसंरक्षणके भी अनुकूल है। इससे भलीभाँति धन संरक्षण होगा। मितव्ययिता, परिणामदर्शिता, सामाजिक सुव्यवस्था आदिके द्वारा धनका संवर्द्धन होता है। सदाचारपालनसे ये गुण आ सकते हैं, अतः धन–सम्वर्धनके लिये सदाचारपालन आवश्यक ही है। सदाचारतरुके पत्रकामनाएँ हैं। कामनाओंका साधारणस्वरूप यह है कि, अग्निमें घृत छोड़नेसे जैसी वह भभक उठती है, भोगोंके द्वारा वैसी ही कामनाएँ भी बलवती होती जाती है। इस प्रकार अनर्गल भावसे विषयवासनाओंकी वृद्धिके द्वारा ससारमें जीव बड़ा दुःख पाता है। कामनाओंके संयमसे ही मनुष्य कामनाजनित यथार्थ सुखोंका अनुभव कर सकता है। सदाचारपालनसे कामनाओंका संयम होकर उनका निरङ्कुश भाव घटता है, इसीसे शास्त्रमें कामनाओंको सदाचारतरुको पत्र कहा है।

सदाचार वृक्षका पुष्प यश है; अर्थात् सदाचारपरायण व्यक्ति संसारमें यशस्वी होता है। थोड़ा विचार करने पर इसकी यथार्थता ज्ञात हो सकेगी। संसारमें नम्रता,

शीलता, पवित्रता, सच्चरित्रता, संयम आदि गुणोंसे ही यश प्राप्त होता है। जिनमें ये सब गुण हों, वे सहज ही सर्वसाधारणका चित्त अपनी ओर आकृष्ट कर सकेंगे। सदाचारके द्वारा मनुष्यमें उक्त गुणावली स्वयं उदित होती है। अतः सदाचारपालनसे विशेष यशोलाभ होना स्वभाविक है। जिन आचारोंके अनुसार चलना सबको अभीष्ट है, उनका आचरण करनेवाले प्रशंसाके पात्र क्यों न होंगे? विद्यालयोंमें जो बालक अच्छा पढ़ते लिखते हैं, वे पारितोषिक पाते हैं। सदाचारपालनसे जगत्‌में यशोलाभ-रूपी पारितोषिक मिलता है और यशके द्वारा ही जगत्‌में मनुष्य अमर हो सकता है। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति' शास्त्रके इस सिद्धान्तानुसार जो कीर्तिमान् हैं, वे ही जीते हैं। यही सदाचारतरुका सुगन्धित पुष्प है।

सदाचाररूपी वृक्षका फल पुण्य है। सदाचारपरायण मनुष्यको पुण्य होता है। पुण्यसे पवित्रता, निर्मलता, निष्पापता, चित्तशुद्धि, रजस्तमोवर्जित विशुद्ध सात्त्विकता, असुरभावशून्य देवभावका अनुष्ठान, पशुभावरहित आध्यात्मिक उन्नति आदिके लाभ होते हैं। शरीरकी जड़ता, बुद्धिकी अपुटता, मनकी चञ्चलता और षड् रिपुओंकी प्रबलतासे उल्लिखित सद्‌वृत्तियोंका नाश होता है। उन्नतिमें बाँधा करनेवाले दुर्गुणोंको सदाचार दूर कर सकता है। सदाचारसे पुण्य होता है, इसका यही कारण है। इस प्रकार आर्यशास्त्रोंमें सदाचारतरुका सुन्दर वर्णन किया है।

जातीय जीवनका तो सदाचार मेरुदण्ड ही है। सदाचारपालन किये बिना कोई जाति अपने जातीय जीवनको अक्षुण्ण और क्रमोन्नत नहीं रख सकती। जीवकी बहिःप्रकृतिके साथ अन्तःप्रकृतिका क्या सम्बन्ध है, इसका अनुसन्धान करनेसे देख पड़ता है कि, बहिःप्रकृति अन्तःप्रकृतिका विकाशमात्र है। जीवोंकी अन्तःप्रकृति जिन भावोंके साथ सम्मिलित होगी, उन्हीं भावोंके बहिर्लक्षण बहिःप्रकृतिपर प्रतिबिम्बित होंगे। इसी वैज्ञानिक नियमानुसार सामुद्रिक शास्त्रवेत्ता मनुष्यके बहिर्लक्षणोंको देखकर उसकी अन्तःप्रकृति और प्रवृत्तिका अनुमान करते हैं। अन्तःप्रकृति और बहिःप्रकृतिका ऐसा मिश्र सम्बन्ध है कि, मनुष्योंकी बहिश्चेष्टाएँ उनके अन्तरङ्गोंको प्रकाशित किये बिना नहीं रहतीं। प्रत्येक मनुष्यकी आहार, विहार, खाना, पीना, बैठना, उठना, श्रवण, मनन, आचार, विचार आदि चेष्टाओंको देखकर उसके जातिगत भावोंका पता लग जाता है। अफ्रिका, मध्य ऐशिया आदि देशोंकी तमोगुणी जातियाँ, यूरोप, अमेरिका आदि देशोंकी रजोगुणी जातियाँ और भारतकी सत्त्वगुणी आर्यजाति, इन तीनोंके

आचार-विचारोंमें आकाश पातालकासा अन्तर है। उन सब जातियोंकी भाषा, वेष-रचना, रहन-सहन आदि विभिन्न हैं और उनसे उनकी मनोरचनाका परिचय हो जाता है। प्रत्येक जातिका अपने जाति धर्मके साथ दृढ़ सम्बन्ध होनेसे आर्य सदाचारी सज्जन पश्चिमी आचारोंको लड़कपनके खेल समझते हैं और पश्चिमीलोग भारतीयोंकी रीति नीति देख उपहास करते हैं। कुछ भी हो, अपने जातिगत भावोंकी रक्षा करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है, क्योंकि जिस प्रकार अन्तःप्रकृतिका परिणाम बहिःप्रकृतिपर होता है, उसी प्रकार बाह्य आचारोंसे अन्त प्रकृतिका गठन होता है। यदि हम अपने आचारोंको छोड़कर दूसरोंके आचारोंको ग्रहण करेंगे, तो फिर संसारसे हमारा अस्तित्व ही उठ जायगा। या तो, हम जिस जातिके लोगोंके आचारोंको ग्रहण करेंगे, उसीमें मिल जायँगे, या एक नई जाति निर्माण कर बैठेंगे। प्रायः सर्वसाधारण अदूरदर्शी ही होते हैं और कालमाहात्म्यसे किसी समय किसी जातिके चमक जानेपर उसीका अनुकरण करने लगते, हैं; परन्तु ऐसा अन्ध अनुकरण ही जातीय जीवनको नष्ट कर देता है। मनुष्यकी प्रवृत्ति भी नवीनताकी ओर अधिक आकृष्ट होती है। अपनी उत्तम वस्तु भी, अति परिचित होनेके कारण दूसरोंकी नवीन वस्तुके आगे फीकी जँचने लगती है। ऐसी अवस्थामें विचारवान् मनुष्योंको सोचना चाहिये कि, जो सनातन है, वही अनन्त कालतक रहेगा। नई नई चमकीली वस्तुएँ नित्य उत्पन्न होकर विलीन होती हैं, उनपर प्रेम करनेसे लाभ ही क्या है? परन्तु दुःखका विषय है कि, पराधीन जातिके साधारणलोग इस बातको नहीं सोचते और प्रकृतिनियमानुसार अन्य जातिके वशीभूत हो जाते हैं।

जब कोई जाति किसी दूसरी जातिको बलपूर्वक अपने अधीन कर लेती है, तब पराजित जाति उस विजयी जातिकी रीति नीति आदिका अनुकरण करने लगती है। संसारमें दो शक्तियाँ होती है, एक लघुशक्ति और दूसरी गुरुशक्ति। गुरुशक्तिके द्वारा लघुशक्ति अधिकृत होती है। यही कारण है कि, सत्त्वगुणसम्पन्न गुरु, शिष्यको अपने अधीन कर लेते हैं, धर्माचार्यगण अपने अनुयायियोंके द्वारा ईश्वरावतार कहाते हैं और जेतृगण विजित जातिके आचारविचारोंपर अपना प्रभाव जमा लेते हैं। इतिहासोंके देखनेसे पता चलता है कि, विजयी जातिकी गुरुशक्तिने विजित जातिकी लघुशक्तिको सदा दबाया है और अन्तमें वह लघुशक्तिविशिष्ट विजित जाति, गुरुशक्तिविशिष्ट विजयी जातिमें मिलाकर अपनी जातीयताको खो बैठो है। इसी तरह यूनान जाति रोमन मिलाकर नष्ट हो गई और

वही रोमन जाति कालचक्रके प्रभावसे दूसरी जातिके द्वारा पराजित होकर नूतन इटालियन जातिके रूपमें परिणत हो गई। एक आर्यजाति ही ऐसी है कि, दो सहस्र वर्षोंसे विभिन्न विदेशी जातियों द्वारा विजित होते रहनेपर भी अबतक अपने स्वरूप-को पूर्णरूपसे भूली नहीं है, संसारके लोग चाहे हमें भले ही हँसें, वे कितना ही हमें नीचा दिखावें, परन्तु आर्यजातिका ही यह एक अपूर्व कहत्त्व है कि, उसने अभी अपने आपको नहीं भुलाया है। इसका कारण जातीय सदाचार पालन ही है। यदि हमें अपना जातीयत्व बनाये रखना है, तो अपने सदाचारोंके पालनमें विशेष ध्यान देना चाहिये। यदि भारतसन्तान अपने सदाचारोंके पालनमें विशेष तत्पर होगी, तो उसको जातोय उन्नतिमें इस कठिन कलिकालमें बाँधा उपस्थित न हो सकेगी।

आर्यशास्त्रोंमें सदाचारके साथ परम्परारूपसे परमतत्त्व ब्रह्मका सम्बन्ध दिखाया गया है। इससे सहज ही प्रमाणित होता है कि, सदाचार परायण होनेसे जीव निःसन्देह ब्रह्मज्ञानके पथपर स्वाभाविकरूपसे अग्रसर हो सकेगा। सदाचार-पालनके प्रभावसे मनुष्यका ज्ञानपथ आप ही परिष्कृत हो जाता है। इस विज्ञानके शास्त्रीय प्रमाण इस प्रकार हैं:—

'आचारमूला जातिः स्यादाचारः शास्त्रमूलकः।
वेदवाक्यं शास्त्रमूलं वेदः साधकमूलकः॥
क्रियामूलः साधकश्च क्रियापि फलमूलिका।
फलमूलं सुखं देव सुखमानन्दमूलकम्॥
आनन्दो ज्ञानमूलञ्च ज्ञानं ज्ञेयस्य मूलकम्।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमात्रं तत्त्वं हि ब्रह्ममूलकम्॥
ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलं ऐक्यं स्यात्सर्वमूलकम्।
ऐक्यं हि परमेशान भावातीतं सुनिश्चितम्॥
भावातीतमिदं सर्वं प्रकाशभावमात्रकम्॥

जातिका मूल आचार है। प्रकृति, प्रवृत्ति, गुण और कर्मके भेदसे जातियों-की सृष्टि हुई है। भिन्न-भिन्न जातियोंके विभिन्न सदाचार होते हैं। अपनी अपनी जातिके अनुसार सदाचारपालन करनेसे जातित्वकी रक्षा हो सकेगी। आर्यजातिके सदाचार शास्त्रोंमें स्थिर किये हुए होनेसे आर्यसदाचारोंका मूल

शास्त्र हो हैं। शास्त्रोंका मूल वेद है। सनातनधर्मावलम्बियोंका विश्वास है कि, वेद अपौरुषेय हैं। जीवके कल्याणार्थ श्रीभगवान्‌ने वेदोंको प्रगट किया है। सनातनधर्मके जितमें शास्त्र हैं वे सब वेदानुयायी हैं। त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अपनी अभ्रान्त बुद्धिकी सहायतासे वेदमत प्रतिपादनार्थ नाना शास्त्रोंकी रचना की है। अतः वेदमतानुयायी सब शास्त्रोंके मूलमें श्रीवेद भगवान् विद्यमान् हैं। जिस प्रकार मलयाचलपर चन्दनकी वायुसे समस्त वृक्षोंमें चन्दनकी गन्ध उत्पन्न होनेपर भी अन्तःसारशून्य बाँस सुगन्धित नहीं होता, उसी प्रकार साधनहीन जड़ अन्तःकरणमें भी ईश्वरीय निर्मल ज्योतिस्वरूप वेदोंका प्रकाश नहीं होता। असाधारण तप और योगसम्पन्न साधकोंके निर्मल हृदयोंमे ही वेदोंकी ज्योति प्रतिबिम्बित होती है। साधना न कर केवल इच्छामात्रसे मनुष्य भगवद् ज्योतिके दर्शनका अधिकारी नहीं होता। असाधारण तप और योगसाधनासे ही साधकचूड़ामणि महर्षियोंके अन्तःकरणोंमें वेदोंका आविर्भाव हुआ था। अतः वेदोंका मूल साधक है। क्रियाओंके करनेसे मनुष्य साधक-पदवाच्य होता है, अतः योग-तपरूपी क्रियाएँ ही साधकोंका मूल है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फलोंकी या इनमेंसे किसी दो एककी अपेक्षा रखकर जीव क्रियाएँ करता है। अतः क्रियाओंका मूल फल है; परन्तु जीव इन फलोंकी इच्छा क्यों करता है? इसका विचार करनेपर यह सिद्धान्त निकलता है कि, जीव सुखेच्छासे प्रेरित होकर उक्त चतुर्वर्ग सिद्धरूपी फलोंकी अपेक्षा रखता है। अतः फलका मूल सुख हुआ। वैषयिक सुखदुःखोंसे परे जो अद्वैत ब्रह्मानन्द है, वही यथार्थ आनन्द है। जीव इसी आनन्दका पता लगाते लगाते भ्रमवश होकर सांसारिक सुखोंमें निमग्न हो जाता है। अतः सुखोंका मूल आनन्द है। जीव अपनी ज्ञानशक्तिके द्वारा निश्चय कर लेता है कि, मायाकल्पित वैषयिकसुख प्रकृत सुख नहीं है। क्योंकि क्षणभङ्गुर पदार्थोंका सुख क्षणभङ्गुर ही होगा। परमात्माका आनन्द ही यथार्थ आनन्द है। इस प्रकारके विचारोंका कारण जब ज्ञान है, तब आनन्दका कारण भी ज्ञान ही समझना चाहिये। लक्ष्य अर्थात् ज्ञेय वस्तुको जाननेके लिये जीवके अन्तःकरणमें ज्ञानका स्फुरण होता है। अतः ज्ञानका मूल ज्ञेय है। परमतत्त्व ही ज्ञेय वस्तुका अन्त है। अर्थात् परमतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर कोई वस्तु जानने योग्य नहीं रह जाती। अतः तत्त्वानुभव ही ज्ञेयवस्तुका मूल है। तत्त्वातीत परमतत्त्व ही सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है अतः ब्रह्म ही सब तत्त्वोंका मूल है।

सब शास्त्रोंमें, सब मतोंमें, सब क्रियाओंमें, सब साधनोंमें एकता अथवा सामञ्जस्यकी रक्षा करना ही सबका मूल बताया गया है। इस प्रकारका एकता युक्त सार्वभौम ज्ञान ही ब्रह्मज्ञानका मूल है। वह परब्रह्म भावातीत होकर निखिल चराचर विश्वका भावप्रकाशक हो रहा है। इस प्रकारसे सदाचारमूलक जातिधर्मके साथ ब्रह्मसद्भावपदकी दृढ़परम्परासम्बन्ध आर्यशास्त्र द्वारा प्रकाशित हुआ है। ऊपर कथित वर्णनोंसे स्पष्ट यही सिद्ध होता है कि, सदाचारके साथ साक्षात् तथा परोक्षरूपसे आधिभौतिक उन्नति, आधिदैविक उन्नति, आध्यात्मिक उन्नति सामाजिक उन्नति, जातीय उन्नति, राजनैतिक उन्नति, आदि सर्वविध उन्नतिका अच्छेद्य सम्बन्ध विद्यमान है। और इन्हीं कारणोंसे मन्वादि महर्षियोंने आर्यशास्त्रोंमें सदाचारकी इतनी प्रशंसा की है, यथा—

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्त्तिवर्धनः।
आचारात् वर्द्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम्॥
आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्धते॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचाराल्लभते कीर्त्ति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् भवेत्।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

आचार वैभवका उत्पादक है, कीर्त्ति तथा आयुका वर्द्धक है और कुलक्षणोंका नाशकर्ता है। समस्त शास्त्रोंमें आचार ही श्रेष्ठ वस्तु कहा गया है, धर्म आचारसे ही उत्पन्न होता है और धर्मपालनसे आयु बढ़ती है, आचार पालनसे मनुष्यको इहलोक परलोकमें आयु, कीर्ति तथा श्रीकी प्राप्ति होती है। आचारपालनसे आयु, इप्सित सन्तान तथा अक्षय सम्पतिका लाभ और कुलक्षणोंका नाश होता है। दुराचारी मनुष्य लोकमें निन्दाभाजन, सदा दुःखभागी, 'रोगग्रस्त तथा अल्पायु होते हैं।

किसी प्रकार उन्नत लक्षणसे युक्त न होनेपर भी यदि मनुष्य केवल सदाचार-परायण हो, शास्त्रोंमें श्रद्धासम्पन्न तथा असूयाहीन हो, तो शत वर्ष आयुलाभ कर सकता है। यही सब आर्यशास्त्रमें प्रथम धर्म तथा परम धर्मरूपी सदाचारकी प्रशंसा है।

अब द्विजमात्रके सेवनीय कुछ दैनन्दिन सदाचारोंका वर्णन किया जाता है। सदाचारोंमें प्रथम कृत्य ब्राह्ममुहुर्त्तमें शय्या-त्याग है। ब्राह्ममुहूर्त्तके विषयमें शास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं।

ढाई घड़ीका एक घण्टा होता है। रात्रिके अन्तकी चार घड़ियोंमेंसे पहली दो घड़ियोंकों ब्राह्ममुहूर्त्त और पिछली दो घड़ियोंको रौद्रमुहूर्त्त कहते हैं। इसी ब्राह्ममुहूर्त्तमें शय्या-त्याग देनी चाहिये। आर्यशास्त्रोंमें ब्राह्ममुहूर्त्तमें शय्या-त्याग करनेको बड़ी प्रशंसा लिखी है। इसका कारण यह है कि, ब्राह्म-मुहूर्त्तमें श्रीसूर्यभगवान् समस्त रात्रिके पश्चात् अपनी ज्योति और शक्तिका विस्तार करते हैं, अतः उसी समय जागनेपर श्रीसूर्यभगवान्‌की शक्तिसे अपनी क्षुद्रशक्ति बहुत बढ़ जाती है और उनकी ज्योतिके प्रभावसे मन और बुद्धि आलोकित होती है, तथा मन, बुद्धि और शरीरमें रात्रिके प्रभावसे जो कुछ जड़ता आ गई थी, सूर्यकी शक्ति और ज्योतिके प्रभावसे वह हटकर नवजीवन प्राप्त होता है। ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठनेका उपदेश करनेमें महर्षियोंका यही अभिप्राय है। प्रत्येक प्राणीके लिये ब्राह्ममुहूर्त्तमें जाग्रत होना स्वाभाविक और ईश्वरकी आज्ञाके अनुकूल है। पशुपक्षी भी इसी समय जाग कर मधुर कलरव करते हैं। अत ब्राह्म-मुहूर्त्तमें उनके महाप्राणके साथ अपने प्राणोंको मिलाकर मन ही मन उनको प्रणाम करते हुए 'ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी' आदि स्तोत्रपाठ करना चाहिये।

इन सब स्तोत्रोंका पाठ तथा अर्थचिन्तन और मनन द्वारा कैसे मनुष्य शरीरको समस्त चेष्टा भगवत् कार्यरूपमें परिणत हो आध्यात्मिक उन्नति-प्रद हो जाती है सो स्तवोंके अर्थपर विचार करनेसे सभीको प्रतीत हो सकता है।

अतः ब्रह्ममुहूर्त्तमें शय्यात्यागपूर्वक ऊपर कथितरूपसे स्तवपाठ करना विशेष लाभजनक है। ब्रह्ममुहूर्त्तमें उठनेसे और भी कतिपय लाभ हैं। सारी रात चन्द्र और नक्षत्रोंके किरणोंके साथ जो अमृत बरसता रहता है, उषाकालमें उसीको

लेकर वायु प्रवाहित होता है। उस अमृत वायुको 'वीरवायु' कहते हैं। वह वीरवायु शरीरमें लगनेसे शरीरके बलकी वृद्धि होती है, मुखकी कान्ति बढ़ती है, बुद्धि सतेज होती है, मन प्रफुल्ल और शरीर नीरोग होता है। सांसारिक पिताको छोड़कर पितृलोकमें अनेक प्रकारके पितृगण होते हैं। प्रात कालमें पितृगण प्रसन्न होते और उनके बलकी वृद्धि होती है। वही बल वे संसारमें प्रचारित करते हैं। इस कारण ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठनेपर पितृगणका बल प्राप्त होता है, जिससे स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है और शक्ति बढ़ती है। यही सब अति प्रत्यूष शय्या-त्यागकी महिमा है।

उपर्युक्त नियमानुसार शय्यात्याग करनेके बाद 'प्रियदत्तायै भुवे नमः' इस मन्त्रसे पृथिवीदेवीको नमस्कार करना चाहिये और तदनन्तर मुखप्रक्षालन करके मलमूत्र विसर्जनार्थ जाना चाहिये। जब मलमूत्रका वेग होगा, तभी विसर्जन करेंगे, प्रातःकालमें ही क्योंकर किया जाय, इस प्रकारकी शङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रातःकालमें ही मलमूत्रका त्याग करनेसे शरीर अधिक नीरोग रह सकता है। जीवशरीरका यह स्वभाव है कि, भीतर चेष्टा होते ही शारीरिक रसका शोषण होने लगता है। अतः यदि प्रातःकालमें पहिले शौच न कर कोई दूसरे कालमें लग जाय, तो मलका दूषित रस रक्तमें मिल जायगा, जिससे मल कठिन होकर अनेक प्रकारकी पीड़ाएँ उत्पन्न होंगी, मलका दूषित रस रक्तमें मिलनेसे रक्तविकार होंगे, रक्त-दूषित होनेसे फोड़े, खुजली आदि रोग होंगे और शरीर तथा मुख दुर्गन्धयुक्त बना रहेगा, इसलिये शय्या-त्याग करते ही मलमूत्र विसर्जन करना आवश्यक है। मनुष्य अभ्यासका दास होता है। थोड़ी चेष्टा करनेसे ही इस प्रकारका अभ्यास हो जायगा। पहिलेसे अभ्यास न हो, तो प्रारम्भमें कुछ दिन योंहीं यथासमय शौचगृहमें जा बैठना चाहिये। क्रमशः अभ्यास हो जायगा। जो मनुष्य मलमूत्रके वेगको रोकते हैं, उनको नाना प्रकारके रोग होते हैं। अतः कभी मलमूत्रके वेगको रोकना न चाहिये। मलमूत्र त्यागका नियम यह है कि, प्रथम मूत्र त्याग कर, फिर मल त्याग करे। मलमूत्र त्यागके सम्बन्धसे हिन्दुशास्त्रमें कुछ नियम हैं, यथाः—

(१) 'वाच्यं नियम्य यत्नेन ष्ठीवनोच्छ्वासवर्जितः' अर्थात् शौचाचारके समय बोलना, थू-थू करना अथवा हाँफना न चाहिये।

(२ वाय्वग्निविप्रानादित्यमप. पश्यन् तथैव च अर्थात् अग्नि, जल, सूर्य, वायु और पूजनीय लोगोंके आगे मलमूत्र त्याग करना निषिद्ध है।

(३) 'तिष्ठेन्नातिचिरं तस्मिन्' जहाँ मलमूत्र त्याग करे, वहाँ अधिक समय तक न ठहरे। इन नियमोंमें विज्ञान भरा हुआ है। शरीरके ऊपरी भागमें जो स्नायु हैं, उनसे यदि क्रिया उत्पन्न हो, तो शरीरके नीचेके भागके स्नायु और पेशीके कार्य भलीभाँति हो नहीं सकेंगे। मलमूत्र-त्यागके समय यदि नीचेके स्नायु और पेशी अच्छा कार्य न कर सकें, तो कोष्ठ किसी प्रकारसे विशुद्ध न हो सकेगा। कोठा शुद्ध न रहनेसे सब तरहके रोग शरीरपर आक्रमण कर सकेंगे। मलमूत्र-त्यागके ससय बोलने, थू-थू करने अथवा हाँफनेसे शरीरके ऊपरिभागके स्नायु कार्य करने लगेंगे और निम्न भागकी पेशियाँ, स्नायु आदि कार्यक्षम नहीं रहेंगे। कोठा शुद्ध न होनेसे अनेक प्रकारके रोग होना स्वाभाविक है। अग्नि, जल, सूर्य आदिके आगे शौच करनेसे आप ही आप शरीरके ऊपर भागके स्नायु कार्य करने लगेंगे, क्योंकि अत्युज्ज्वल, चञ्चल अथवा सबल वस्तुके दर्शन-स्पर्शनसे स्वाभावतः स्नायु उद्दीपित होते हैं, इससे कोष्ठशुद्धिमें बाँधा होकर रोग होना स्वाभाविक है। अग्नि, सूर्य, जल आदि प्रत्यक्ष देवता हैं। उनके सामने मलमूत्र-त्याग जैसे घृणाजनक कार्य करनेसे तेज और शक्तिकी अवश्य ही हानि होगी। इसी विचारसे शास्त्रोंमें उक्त आज्ञाओंका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त हिन्दुशास्त्रोंमें निवासस्थानसे कुछ दूर नगर या ग्रामके बाहर जाकर एकान्त स्थानमें मलमूत्र-त्याग करना चाहिये इत्यादि अनेक आज्ञाएँ मिलती हैं। श्रीभगवान् मनुजीने लिखा है—

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे।
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते॥
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन।
न ससत्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि न स्थितः॥
मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश्च यथा दिवा॥

रास्तेके ऊपर, भस्मपर, गोचारणभूमि, कर्षितभूमि, जल, चिता, पर्वत, जीर्ण देवमन्दिर या वल्मीकके ऊपर, प्राणियुक्त गर्तमें, चलते चलते या खड़े होकर

कदापि मलमूत्रत्याग नहीं करना चाहिये। दिनमें उत्तरमुख होकर, रात्रिको दक्षिण मुख होकर और दोनों सन्धियोंमें उत्तरमुख होकर मलमूत्र-त्याग करना चाहिये।

ग्राम वा नगरके बाहर मलमूत्रादिका त्याग करनेसे देशमें रोगोत्पत्ति होनेकी सम्भावना कम रहती है। आजकल नगरोंमें इस नियमका पालन होना कठिन हो गया है, ग्रामोंमें हो सकता है। इसी कारण नगर निवासियोंकी अपेक्षा ग्रामवासियोंका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। इस प्रक्रियासे प्रातःकालकी वीर-वायुका अनायास सेवन हो जाता है। हिन्दुशास्त्रोंमें ओससे भींगो हुई घासपरसे खाली पैर चलनेका माहात्म्य बताया गया है, इससे स्वास्थ्य अच्छा रहकर चक्षुरोग दूर होते हैं और नेत्रोंकी ज्योति बढ़ती है। बाल्यावस्थामें ही चश्मा चढ़ानेकी आवश्यकता नहीं होती। केवल मलत्यागको विधिमें ही इतने काम अनायास बन जाते हैं।

मलत्यागानन्तर शौचक्रियामें मिट्टी और निर्मल जलका व्यवहार करना चाहिये। मन्वादिसंहिताओंमें लिखा है :—

वसाशुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविट्कर्णविन्नखाः ।
श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥
आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये।
उत्तरेषु तु षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुध्यति॥

चर्वि, शुक्र, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, कर्णमल, नख, श्लेष्मा, अश्रु, अक्षिमल और स्वेद—मनुष्यशरीरमें ये बारह प्रकारके मल होते हैं। इनमेंसे पहले छ मलोके लिये मिट्टी तथा जल दोनोंसे ही शौच करने होते हैं, और दूसरे छः मलोंके लिये केवल जलसे ही शुद्धि हो सकती है। इसी कारण मलत्यागानन्तर मिट्टीसे हाथ धोने चाहिये।

मिट्टोसे जैसे हाथ साफ होते हैं वैसे साबुन आदि द्रव्योंसे नहीं होते, क्योंकि पृथिवी गन्धवती है। हाथोंकी दुर्गन्धि पृथिवीकी मिट्टीसे जैसी दूर होगी, वैसा और किसी वस्तुसे नहीं हो सकती। पित्तके संयोग से विष्ठामें तेलकी तरह एक प्रकारका लसीला पदार्थ रहता है, वह केवल मिट्टीसे हो छूटता है, अतः शौच कर लेनेपर हाथ मिट्टीसे ही धोने चाहिये। तीन बार मिट्टी लगाकर फिर शुद्ध जलसे हाथ पैर धो डालने चाहियें।

मूत्र त्यागके अनन्तर भी पैर धोना उचित है। इससे शरीर स्निग्ध और स्वस्थ रहता है। 'लघुशङ्का' कर लेनेपर मूत्रयन्त्रको ठण्ढे जलसे धो देना चाहिए, क्योंकि मूत्र अत्यन्त पित्तप्रधान होता है और उसमें कितनी ही विषैली वस्तुएँ रहती हैं। इन्द्रियमें अथवा धोतीमें मूत्र लगा रहनेसे अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं, अतः इन्द्रियको धोना आवश्यक है। उपस्थ इन्द्रियमें विशेषतया उसके अग्रभागमें कितने ही ऐसे स्नायु रहते हैं, जिन्हें थोड़ी उत्तेजना मिलते ही वे उत्तेजित हो जाते हैं। मूत्रत्यागके समयमें उष्ण और दूषित मूत्रद्रव्योंके संस्पर्शसे उन स्नायुओंमें उत्तेजना आ जाती है। शीतल जलसे धोनेसे वह भय नहीं रहता। प्रायः देखा जाता है कि, स्कूलोंमें या अन्यत्र भी एक ही स्थानमें अनेक मनुष्य लघुशङ्का करते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि मूत्रत्यागके साथ दूसरोंके रोग उसी इन्द्रियके द्वारा सङ्क्रामित हो जाते हैं। अन्ततः एक व्यक्ति जहाँ मूत्रत्याग करे, वहीं दूसरोंको नहीं करना चाहिए। यदि मूत्रत्यागका एक ही स्थान बना हो, तो वहाँ पहिले जल छोड़कर तब लघुशङ्का करे। उपदंशादि विकार पैतृक भी होते हैं। जिस मनुष्यके माता-पिताको यह रोग हो गया हो उसने जहाँ लघुशङ्का की है, वहीं यदि दूसरा लघुशङ्का करे, तो पहिलेका रोग दूसरेमें सङ्क्रामित हो जायगा। इसलिये यदि हर एक मनुष्य लघुशङ्काके समय जल लेनेका अभ्यास करे, तो आप ही इस रोगभयसे दूर रहेगा।

मिट्टीसे हाथ धो कर मुख—आँखें धोनो चाहिए। मुँहमें ठण्ढे पानीका कुल्ला भरकर शुद्ध जलसे आँखें धोयी जायँ, तो नेत्रोंको शिराएँ अधिक सतेज होंगी और आँखें शीघ्र नहीं बिगड़ेंगी। मुँह धोकर दन्तधावन करना चाहिए। दन्तधावनके लिये शास्त्रमें लिखा है कि:—

तिक्तं कषायं कटुकं सुगन्धि कण्टकान्वितम्।
क्षीरिणो वृक्षगुल्मानां भक्षयेद्दन्तधावनम्॥

तिक्त, कषाय, कटु, सुगन्धयुक्त, कण्टकयुक्त और दुग्धविशिष्ट वृक्ष तथा गुल्म आदिका काष्ठ दातून बनानेमें प्रशस्त है। तदनुसार दन्तधावनके लिये शास्त्रोंमें खेर, कदम्ब, आम, नीम, बेल, ऊमर, बकुल आदिकी टेहुनी प्रशस्त कही गयी है। बकुल (मौलसरी) की दतौनका प्रभाव तो:—

"दन्ता भवन्ति चपला अपि वज्रतुल्याः"

दांत वज्रके समान दृढ़ बन जाते हैं, ऐसा लिखा है। नीम और खेरकी

दतौन भी अच्छी होती है। बट आदिकी दतौनसे, जिनमें सुफेद रस निकलता है, दन्त दृढ़ होते हैं। खेर, बकुल आदि वृक्षोंकी छालका दन्तमञ्जन बनाकर उससे दाँत मलनेसे दन्तमुखरोग हट जाते हैं। घास, कोयला, खपड़ा, पत्थर, बालू, लोहा और चमड़ा, दन्तधावनके लिये निषिद्ध हैं। यथा—

तृणाङ्गारकपालाश्मबालूकायसचर्मभिः।
दन्तधावनकर्त्तारो भवन्ति पुरुषाधमाः॥

इन वस्तुओंसे दाँत धोनेसे दाँतोंमें पीड़ा होती है, वे बिगड़ जाते और असमयमें उखड़ जाते हैं।

'पर्वस्वपि तु दन्तधावनं वर्जयेत्'

चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा और रविसंक्रान्ति इन पर्व दिनोंमें काठके दतूनसे दन्तधावन नहीं करना चाहिये। दन्तधावन काष्ठका एक मन्त्र भी है यथा—

आयुर्बलं यशोवर्चः प्रजाः पशुवसूनि च।
ब्रह्मप्रज्ञाञ्च मेधाञ्च तन्नो देहि वनस्पते॥

हे वनस्ते! हमें आयु, बल, यश, तेज, पशु, धन, ब्रह्मज्ञान और मेधा प्रदान करो। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें स्थूल आचारके साथ सूक्ष्म अध्यात्म सम्बन्ध भी मिलाया गया है।

'दन्तधावनमद्यात् प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा।'

पूर्व अथवा उत्तराभिमुख होकर मुँह धोना चाहिये। हमारे शास्त्रोंमें पूर्व अथवा उत्तराभिमुख होकर सब कर्म करनेकी और उत्तर शिर होकर न सोनेकी विधि है। इसके मूलमें वैज्ञानिक रहस्य भरा हुआ है।

'त्यक्त्वा चानामिकाङ्गुष्ठौ वर्जयेद्दन्तधावनम्'

अनामिका और अँगूठेके बिना और किसी अँगुलीसे दाँत रगड़ना अनुचित है। तर्जनी और मध्यमा अति बलवती होती है, उनसे दाँत मलनेसे दाँतोंपर रगड़ अधिक पड़ेगी और उनकी जड़ोंमें आघात पहुँचेगा अतः दाँत धीरे-धीरे सावधानीसे और शास्त्रोक्त वस्तुओं द्वारा स्वच्छ करने चाहियें। दन्तधावन और मुखप्रक्षालनके पश्चात् स्नान करना चाहिए।

स्नानके विषयमें शास्त्रमें लिखा है:—

अस्नात्वा नाचरेत् कर्म जपहोमादि किञ्चन।
लालास्वेदसमाकीर्णः शयनादुत्थितः पुमान्॥

अत्यन्तमलिनः कायो नवच्छिद्रसमन्वितः।
स्रवत्येव दिवारात्रौ प्रातःस्नानं विशोधयेत्॥

लाला स्वेद आदिसे युक्त निद्रोत्थित पुरुषको बिना स्नान किये, जप होमादि दैवकार्य नहीं करना चाहिये। नव छिद्रोंसे युक्त यह शरीर अत्यन्त अशुचि है, इसमें-से रात-दिन कुछ न कुछ अपवित्र पदार्थ निकलता ही रहता है। प्रातः स्नानके द्वारा इसमें शुचिता आती है। और भी लिखा है :—

स्नानं पवित्रमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्।
शरीरबलसन्धानं केश्यमोजस्करं परम्॥

स्नान क्रिया पवित्रताजनक, आयुको बढ़ाने वाला, श्रमनाशक, स्वेदनिवारक, मलनाशक, शारीरिक बल-बर्द्धक, केशवर्द्धक तथा परम तेजस्कर है। इसलिये स्नान करना चाहिये। स्नानके विषयमें निम्नलिखित नियम अवश्य पालन करने योग्य हैं, यथा :—

न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये॥

भोजनके पश्चात्, शरीरमें पीड़ा हो तो, रात्रिके दूसरे और तीसरे प्रहरमें तथा अधिक कपड़े पहिन कर स्नान करना उचित नहीं है। छोटे वा अपरिचित जलाशयमें स्नान न करें। नदी हो तो उसमें नहाना बहुत उत्तम है; परन्तु वर्षाकालकी बाढ़में नदीमें नहानेसे बचना चाहिये। प्रवाहके जलमें नहाना हो तो जिस ओरसे प्रवाह आ रहा हो उस ओर मुँह करके और घरमें नहाना हो तो सूर्याभिमुख होकर नहावे। स्नान करते समय बकवाद करना अथवा पहिरे हुए कपड़ोंसे देह मलना अच्छा नहीं। शरीर अच्छा हो तो ठण्ढे जलसे स्नान करना उत्तम है। शास्त्रोंमें समुद्र स्नानकी बड़ी प्रशंसा की है, यथा :—

जन्मान्तरसहस्रेण यत्पापं कुरुते नरः।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्नात्वा क्षारार्णवे सकृत्॥

अर्थात् समुद्रस्नानसे जन्मजन्मान्तरके पातक नष्ट होते हैं। कुछ भी हो स्नान बड़ी ही पवित्र वस्तु है। स्नानके द्वारा अशुचि शरीर शुचि होकर भगवान्की पूजाके योग्य बनता है, इसीसे स्नान पवित्र कार्योंमें समझा गया है। स्नानमें भो प्रात.स्नानकी बड़ी महिमा है। प्रातःस्नानका वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं :—

गुणा दश स्नानपरस्य मध्ये,
रूपञ्च तेजश्च बलञ्च शौचम्।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं,
दुःस्वप्नघातश्च तपश्च मेधा॥

प्रातःस्नान करनेसे रूप, तेज, बल, शौच, आयु, आरोग्य, लोभहीनता, दुःस्वप्ननाश, तप और मेधा, इन दश गुणोंका लाभ होता है, अतः बुद्धिमान् पुरुषोंको सबेरे ही नहा लेना चाहिये। शास्त्रमें उष्णजलसे स्नानको अच्छा नहीं कहा है यथा—

स्नातस्य वह्नितोयेन तथा च परवारिणा।
कायशुद्धि विजानीयान्न तु स्नानफलं लभेत्॥

उष्ण जलसे तथा दूसरेके लाये जलसे स्नान करनेपर शरीरशुद्धि तो होती है, किन्तु स्नानका पूर्ण फल नहीं होता। किन्तु शरीर अस्वस्थ हो तो वस्त्रान्तर कर गीले कपड़ेसे देह पोंछ डालनी चाहिये, ऐसा करनेसे शरीर स्वच्छ रहकर और उत्साहयुक्त होता है। यथा शास्त्रमें—

अशिरस्कं भवेत् स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम्।
आर्द्रेण वाससा वापि मार्जनं दैहिकं विदुः॥

अशक्त होनेपर सिर न धोकर भी स्नान हो सकता है अथवा गीले वस्त्रसे शरीर पोंछ कर भी स्नानका अनुकल्प किया जा सकता है। आर्यशास्त्रमें मान्त्र भौम आदि सात प्रकारके स्नान माने गये हैं, जिनके विस्तृत विवरण 'मन्त्रयोग' नामक अध्यायमें पहले ही दिये गये हैं।

आयुर्वेद शास्त्रमें स्नानके समय तैलमर्दनकी बड़ी प्रशंसा की गई है। यथा—

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा।
शिरः श्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्॥

तैलमर्दन द्वारा जरा, श्रम तथा वात दूर होता है, इसलिये सकल अङ्गमें, विशेषतः मस्तक, कर्ण और पाँवमें तैलमर्दन करना चाहिये। किन्तु प्रातः स्नानादिमें तेल मर्दन निषिद्ध है यथा—

प्रातः स्नाने व्रते श्राद्धे द्वादश्यां ग्रहणे तथा।
मद्यलेपसमं तैलं तस्मात्तैलं विवर्जयेत्॥

प्रातः स्नानमें, व्रत या श्राद्धके दिन, द्वादशी तथा ग्रहणमें तेल लगाना मदिरा लगानेके सदृश है, इसलिये इन दिनोंमें तेल नहीं लगाना चाहिये।

हम आर्य हैं, हमारा शरीर भगवान्की आराधनाके लिये निर्माण किया गया है, अतः स्नान करते समय केवल शरीरशुद्धिका ही विचार न कर यह भी भावना करनी चाहिये कि, हमारा शरीर स्नानके द्वारा पवित्र होनेपर भगवान्की पूजाके लिये अधिक उपयुक्त हो सकेगा और हमारे पवित्र शरीरके द्वारा की हुई पूजासे भगवान् विशेष सन्तुष्ट होंगे। स्नान कर लेनेपर देह पोछनी चाहिये, पहिले ऊपरी भाग पोछकर पीछेके नीचेके अङ्ग पोछने चाहिये, क्योंकि देहके निम्न अङ्गोंकी अपेक्षा ऊपरके अङ्ग अधिक पवित्र होते हैं। देह पोंछनेपर चन्दन, भस्म, तिलक आदि धारण करना चाहिये क्योंकि, जो जिस देवताके भक्त होते हैं, वे अपने उपास्यके चिह्न धारण करें, तो उनके हृदयमें भक्ति और पूजाके भाव स्वतः उन्मेषित होने लगते हैं। इस प्रकार शुद्ध शरीर और पवित्र अन्तःकरण कर, पिता, माता, गुरुजन तथा घरमें जो कुल देवता, इष्ट देवता हों, उनको भक्तिभावसे प्रणाम, सन्ध्योपासना, पुष्पचयन तथा इष्टदेवकी पूजा करनी चाहिये।

आर्य शास्त्रमें पिता माता ज्येष्ठ भ्राता तथा आचार्यकी सेवा और इष्टदेव-पूजाकी बड़ी महिमा बताई गई है। वेदमें तो पितृदेवो भव, मातृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, इस प्रकारके मन्त्र ही मिलते हैं। मनुसंहिताके द्वितीयाध्यायमें लिखा है—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्त्तिस्तु भ्राता स्वमूर्त्तिरात्मनः॥
आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृता ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥
यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् प्रियहिते रतः ॥
तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद् यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत् तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥
त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥

आचार्य ब्रह्मको मूर्त्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्त्ति, माता वसुमतीकी मूर्त्ति, और भ्राता अपनी ही मूर्त्ति है। इस लिये इनके द्वारा पीड़ित होनेपर भी कदापि इनकी अवमानना किसीको विशेषतः ब्राह्मणको नहीं करनी चाहिये। अपत्य-जननमें पिता-माताको क्लेश सहना पड़ता है, पुत्र शत-शत वर्षमें भी उसका शोध नहीं कर सकता है। प्रति दिन पिता-माता तथा आचार्यका प्रियानुष्ठान करना चाहिये। इन तीनोंके प्रसन्न रहनेसे सकल तपस्या पूर्ण होती है। इनकी शुश्रूषा ही परम तप है, अतः बिना इनकी आज्ञाके कोई धर्मानुष्ठान नहीं करना चाहिये। मातृभक्ति द्वारा भूर्लोक, पितृभक्ति द्वारा मध्यमलोक और गुरुभक्ति द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होते हैं। इन तीनोंके आदर करनेपर धर्मका आदर होता है। इनके अनादरसे सभी धर्म-कर्म वृथा होते हैं। जबतक वे जीवित हैं. तबतक स्वतन्त्ररूपमें कोई धर्म-कर्मकी आवश्यकता नहीं होती है। केवल इनकी शुश्रूषासे ही सब कुछ लाभ होता है। पारलौकिक हितसाधनार्थ इनकी सम्मतिके अनुसार कुछ धर्मचर्या करनेपर भी, वह सब इन्हींमें निवेदन करना चाहिये। इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका इतिकर्तव्य समाप्त होता है, यही साक्षात् परमधर्म है, और सब उपधर्ममात्र है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें पितृमातृसेवा तथा गुरुसेवाकी महिमा बताई गई हैं। इसके सिवाय वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, वर्णवृद्ध, आश्रमवृद्ध प्रत्येक आत्मीय जनोंके प्रति श्रद्धा प्रदर्शनकी आज्ञा और उससे महान् फल लाभका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है,—यथा मनुसंहितामें—

ऊर्द्धवं प्राणाह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतपादयेत्॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्यायशोवलम्॥

ज्येष्ठके सामने आनेसे कनिष्ठकी प्राणशक्ति ऊपर उछलने लगती है। प्रत्युत्थान और अभिवादनके द्वारा उस प्राणका समताविधान करना चाहिये। इस प्रकारसे जो नित्य ज्येष्ठोंका अभिवादन तथा सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल ये चार वृद्धिगत होते हैं। इस कारण सदाचार प्रकरणमें मातृपितृ-सेवाके साथ वृद्धसेवाकी भी आज्ञा महर्षियोंने दी है। पितामातादिके प्रणामके अनन्तर सन्ध्योपासना, पुष्पचयन और इष्टदेवपूजा करनी चाहिये। सन्ध्योपासनाका पूर्ण विज्ञान आगेके अध्यायमें पृथकरूपसे लिखा जायगा। पुष्पचयन तथा तुलसी दुर्वादिचयनकी बड़ी महिमा शास्त्रमें कही गई है। समस्त रात्रि चन्द्रामृत पान करके कुसुमसमूह अमृतमय बने रहते हैं, इसलिये उनके स्पर्शसे भी शरीर मन दोनोंका स्वास्थ्य तथा शक्तिलाभ होता है। प्रात.कालकी हरीयाली नेत्रोंको प्रफुल्लित तथा नीरोग बनाती है। मैलेरिया आदि रोगनाशिनी शक्ति तुलसी, दुर्वा, विल्लपत्र आदिमें यथेष्ट है, यह बात आधुनिक पश्चिमी विज्ञानके द्वारा भी प्रतिपादित हो चुकी है। अतः प्रातःकाल भी पुष्पचयन, तुलसीवायुसेवन, तुलसीचयन आदि शरीर मन आत्मा सभीके लिये उन्नतिप्रद है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। इस प्रकारसे पुष्पचयनादिके अनन्तर इष्टदेवकी पूजा करनी चाहिये। इतनेहीमें पूर्वार्द्ध कृत्य समाप्त होता है। पूजाके विषयमें 'मन्त्रयोग' आदि अध्यायोंमें पहले ही बहुत कुछ कहा गया है, अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

पूर्वाह्णकृत्यके अनन्तर मध्याह्नकृत्य करनेकी विधि है। उसमें भोजन ही प्रधान कृत्य है। किन्तु सबको खिलाये बिना गृहस्थोंका स्वयं भोजन करना शास्त्र-विरुद्ध है। इस कारण होम, वैश्वदेव, वलि, अतिथिसेवन, नित्यश्राद्ध, गोग्रासदान और पञ्चमहायज्ञके बाद तब भोजन करनेकी आज्ञा आर्यशास्त्रमें दी गई है। होमके विषयमें लिखा है—

गृहमेधिनो यदशनीयं तस्य
होमावलयश्च स्वस्वपुष्टिसंयुक्ताः।

गृहीके जो खाद्य हैं, उन्हीसे हवन करना होता है। असमर्थपक्षमें 'जुहूयादम्बुनापि च' जलमें जलसे भी हवन हो सकता है, ऐसा शास्त्रमें कहा गया है। हवनसे देवतागण तृप्त होते हैं, वैश्वदेवके विषयमें शास्त्रमें लिखा है—

सायं प्रातर्वैश्वदेवः कर्त्तव्यो बलिकर्म च।
अनश्नतापि कर्त्तव्यमन्यथा किल्विषी भवेत्॥

सायंकाल तथा प्रातःकाल भोजनसे पहले बलिवैश्वदेव करना चाहिये। अन्यथा गृहस्थको पाप स्पर्श करता है। वैश्वदेवकी पूजा सप्रणव विश्वदेवाय नमः इतने ही मन्त्रसे की जाती है। जिस प्रकार हवनसे देवतागण प्रसन्न होते हैं, ऐसे ही वैश्वदेवसे श्रीभगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। वैश्वदेवके बाद बलि दीजाती है। इसमें समस्त प्राणियोंको लक्ष्य करके अन्न दिया जाता है यथा—

देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाः सयक्षोरगदैत्यसंघाः।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्॥
पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं तेभ्यो विसृष्टं मुदिता भवन्तु॥
येषां न माता न पिता न बन्धुर्नैवान्नसिद्धिर्न तथान्नमस्ति।
तत् तृप्तयेऽन्नं भुवि दत्तमेतत् प्रयान्तु तृप्तिं मुदिता भवन्तु॥

देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिद्ध, यज्ञ, उरग दैत्य, प्रेत, पिशाच, वृक्ष, पिपीलिका कीट, पतङ्ग, आदि सभी जो अन्न चाहते हैं, या बुभुक्षित हैं, सब मेरे प्रदत्त अन्नसे तृप्त हो जायँ। जिनके पिता माता या बान्धव नहीं हैं या अन्नसंस्थान नहीं हैं उन सबकी तृप्तिके लिये यह अन्न देता हूँ। यही सब बलिप्रदानके मन्त्र हैं। इस प्रकार उदार मन्त्रका रहस्य यह है—

भुवि भूतोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः।
श्वचण्डालविहङ्गानां भुवि दद्यात् ततो नरः॥

क्योंकि गृहस्थ ही सकल जीवोंका आश्रय है इसलिये स्वयं भोजनसे पहले सबको भोजन देकर तब गृहस्थको भोजन करना चाहिये। बलिप्रदानके बाद अतिथिसेवा गृहस्थका प्रधान कार्य है। उसके लिये शास्त्रमें लिखा है—

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा।
संप्राप्तो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥

देशं नाम कुलं विद्यां पृष्ट्वा योऽन्नं प्रयच्छति।
न स तत्फलमाप्नोति दत्त्वा स्वर्गं न गच्छति॥

प्रिय, द्वेष, मूर्ख, पण्डित जो कोई हो, वैश्वदेवके अन्तमें जो गृहस्थके मकानपर आवे, वही अतिथि और उनकी सेवा स्वर्गप्रद है। अतिथिका देश, नाम, कुल विद्या पूछ कर अन्नदान करनेसे वह सेवा स्वर्गप्रद नहीं होती है। इसलिये

'हिरण्यगर्भबुद्ध्या तं मन्येताभ्यागतं गृही।'

अतिथिको हिरण्यगर्भ भगवान्‌का रूप मानकर इसी भावसे उनकी सेवा करनी चाहिये। यही गृहस्थाश्रमका प्रधान कर्त्तव्य अतिथि सत्कार है। इसके अनन्तर नित्यश्राद्धविधि है। श्राद्धके विषयमें पूर्ण विज्ञान तथा विधि स्वतन्त्र अध्यायमें दी जायगी। नित्य श्राद्धमें इस प्रकार विधिकी आवश्यकता नहीं होती है। इसमें केवल पितृपक्षके तीन और मातृपक्षके तीन व्यक्तियोंका स्मरण करके उनके उद्देश्यसे कुछ-कुछ अन्नदान किया जाता है और अभाव-पक्षमें—

'अशक्तावुदकेन तु'

इस आज्ञाके अनुसार थोड़ा जल देनेपर भी नित्यश्राद्ध कृत्य सम्पादित हो सकता है। इसके अनन्तर गो ग्रास है। इसमें सकल भूतोंसे विशेषताके कारण गो माताको ग्रास दिया जाता है। उसका मन्त्र यह है—

सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः।
प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः॥

सकलहितकारिणी, पवित्रा, पुण्यराशिमयी, त्रैलोक्यजननी, सुरभीसन्तान गौवें मेरे दिये इस ग्रासको ग्रहण करें। यही गोग्रास है। अनन्तर पञ्च महायज्ञ करके मध्याह्नकृत्य भोजन होता है। पञ्च महायज्ञका विज्ञान प्रथम खण्डमें पहिले ही वर्णित किया जा चुका है।

अर्थशास्त्रमें अन्यान्य यज्ञोंको तरह भोजन व्यापारको भी एक नित्ययज्ञ कहा गया है। इस नित्ययज्ञके यज्ञेश्वर भगवान् वैश्वानर कहे गये हैं, यथा श्रीमद्भगवद्गीतामें

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥"

श्रीभगवान् वैश्वानर (जठराग्नि) रूपसे प्रत्येक प्राणीमें बैठकर प्राण

और अपान वायुकी सहकारितासे चर्व्य, चोष्य, लेह्य तथा पेय, इन चार प्रकारके भोज्य अन्नोंको भक्षण करते हैं। अन्ततः आर्यभोजनसे केवल उदर-पूर्ति ही नहीं होती, किन्तु श्रीभगवान्को पूजा भी होती है; इसीसे हमारे शास्त्रोंमें भोजनकी पवित्रतापर विशेष विचार किया गया है। इस सम्बन्धमें सबसे प्रथम स्नानका विचार करना चाहिये; अर्थात् चाहे जिस स्थानमें बैठकर या खड़े-खड़े भोजन करना ठीक नहीं; क्योंकि अशुचि स्थानमें पूजा करनेसे कोई फल नहीं होता, उलटे भगवान् असन्तुष्ट होते हैं। भोजनका स्थान पवित्र, एकान्त और गोमय जल आदिसे शुद्ध किया हुआ होना चाहिये। द्वितीयतः स्वयं पवित्र होकर भोजन करें; क्योंकि अपवित्र शरीर और अशुचि मनसे भगवत्पूजा करनेसे कोई फल नहीं होता। तृतीयतः जिस वस्तुसे पूजा करनी हो, वह पवित्र और सात्त्विक होनी चाहिये; क्योंकि अशुद्ध और तामसिक वस्तुओंसे भगवान्की पूजा नहीं की जाती। उससे शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा कलुषित होना सम्भव है। अन्ततः खाद्य द्रव्य शुद्ध और सात्त्विक होना आवश्यक है। चतुर्थतः पूजाकी वस्तु जिसमें संग्रह की जाय, वह पात्र अच्छा परिष्कृत होना चाहिये और वह किसी अपवित्र व्यक्ति अथवा जीवसे छुआ हुआ न हो; क्योंकि पूजाके फूल, नैवेद्य आदि नीच जीव या पापियोंसे छुए जानेपर पूजाके योग्य नहीं रहते; इसीसे पापी या नीच जीवोंका अन्न ग्रहण करना निषिद्ध है। यही नहीं, किन्तु उनका छुआ अन्न भी ग्रहण न करना चाहिये। इसी कारण हमारे प्राचीन ऋषियोंने आहारपर बहुत विचार कर आहार सम्बन्धीय नाना प्रकारके आचारोंका निर्णय किया है।

भोजनमें स्पृश्यास्पृश्य दोषके ऊपर महर्षियोंने जो इतना जोर दिया है, सो निरर्थक नहीं है। इन बातोंका विज्ञान संसर्गशक्तिके बलपर थोड़ा मनन करनेसे ही विदित हो सकता है, कूर्मपुराणमें वृहस्पति ऋषिकी उक्ति है—

एकशय्यासनं पंक्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम्।
याजनाध्यापनं योनिस्तथा च सहभोजनम्॥
नवधा शङ्करः प्रोक्तो न कर्त्तव्योऽधमैः सह।
समीपे चाप्यवस्थानात् पापं संक्रमते नृणान्॥

(कूर्म, १९)

एक शय्यापर सोना, एक आसनपर बैठना, एक पंक्तिमें भोजन, भोजनपात्र या पक्वान्नका मिश्रण, याजन, अध्यापन, योनिसंसर्ग और सह-

भोजन ये नौ प्रकारके संसर्ग कहलाते हैं। अधम जनोंके साथ कभो ऐसे संसर्ग नहीं होने चाहिये। क्योंकि समीप रहनेसे हो एकके पाप दूसरेमें जाते हैं। महर्षि पराशरने कहा है—

आसनाच्छयनाद् यानात् भाषणात् सहभोजनात्।
संक्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि॥

एकसाथ उपवेशन, शयन, गमन, वार्तालाप और भोजन द्वारा जलमें तैल-विन्दुकी तरह एकका पाप दूसरेमें संक्रामित होता है।

महर्षि देवलने कहा है—

संलापस्पर्श-नि श्वाससहशय्यासनाशनात्।
याजनाध्यापनाद् यौनात् पापं संक्रमते नृणाम्॥

परस्पर आलाप, स्पर्श, निःश्वास, एकत्र शयन, उपवेशन, भोजन, याजन, अध्यापन और योनिसम्बन्ध द्वारा शरीरसे शरीरान्तरमें पाप संक्रमित होता है।

महर्षि छागलेयने कहा है—

आलापाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाध्यायात् पापं संक्रमते नृणाम्॥

आलाप, गात्रस्पर्श, निःश्वास, एकत्र भोजन-शयन-उपवेशन और अध्ययनसे एकका पाप दूसरेमें प्रवेश करता है। सूक्ष्म वृत्तियोंकी तरह स्थूल रोगोंके विपयमें भी महर्षि सुश्रुतने निदानस्थानके ५ म अध्यायमें लिखा है।

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिस्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥

सहालाप, गात्रस्पर्श, निःश्वास, सहभोजन-शयन-उपवेशन, वस्त्र या माल्य-धारण—इन सबोंके द्वारा कुष्ठ, ज्वर, शोष, नेत्राभिस्यन्द तथा विसूचिका, चेचक आदि संक्रामक रोग शरीरसे शरीरान्तमें संक्रमित होते हैं। इन सब प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्ध होता है कि, स्पृश्यास्पृश्य विज्ञानके मूलमें गम्भीर तथ्य निहित है और शारीरिक-मानसिक सकल प्रकारकी व्याधि ही एकत्र भोजनादि द्वार देहसे देहान्तरमें संक्रामित हो सकती है। अतः स्पृश्यास्पृश्य-विज्ञान कुसंस्कार विचारसे उपेक्षणीय नहीं है, किन्तु सर्वथा पालनीय है।

इसी कारण श्रीभगवान् वेदव्यासने आह्निक आचारतत्वमें कहा है—

अप्येकपंक्तौ नाश्नीयात् संवृतः स्वजनैरपि ।
को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं महत् ॥
भस्म-स्तम्ब-जल-द्वारमार्गैः पंक्तिञ्च भेदयेत् ॥

अन्यकी बात ही क्या, अपने जनोंसे भी एक पंक्तिमें भोजनके समय भस्म तृण या जल द्वारा पंक्तिभेद कर लेना चाहिये। क्योंकि कौन जाने किसके भीतर कौन पाप प्रच्छन्नरूपसे विद्यमान है।

द्वितीयतः स्वयं पवित्र होकर भोजन करना चाहिये। अपवित्र शरीरसे अन्न ग्रहण करनेपर अन्न दूषित हो जाता है। उसका ठीक परिपाक नहीं होता और उससे शरीर, मन तथा बुद्धिकी उन्नति नहीं होती, इसीलिये शास्त्रमें लिखा है—

'उपलिप्ते समे स्थाने शुचौ लघ्वासनान्वितः'

गोमयलिप्त समतल पवित्रस्थानमें लघु आसनमें बैठकर भोजन करना चाहिये। गोमयकी सर्वोत्तम रोगकीटनाशिनी शक्ति पश्चिमी सायन्सने भी सिद्ध कर दी हैं। और भी शास्त्रोंमें लिखा है:—

प्राङ्मुखोन्नानि भुञ्जीत शुचिः पीठमधिष्ठितः ।
विशुद्धवदनः प्रीतो भुञ्जीत न विदिङ्मुखः ॥

पवित्र शरीर, पवित्रमुख होकर किसी पीठ आदि आसनमें पूर्व मुख बैठ कर सन्तुष्टचित्तसे भोजन करना चाहिये। ईशान आदि किसी कोनेकी ओर बैठ कर नहीं भोजन करना चाहिये। मनुने भी लिखा है :—

'आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते यशस्यं दक्षिणामुख.'

आयु चाहने वालेको पूर्वमुख और यश चाहनेवालेको दक्षिणमुख भोजन करना चाहिये।

पूर्व दिशासे प्राण और भक्तिका उदय होता है। प्राणस्वरूप सूर्यदेव पूर्वसे ही उदित होते हैं, इस कारण पूर्वाभिमुख होकर भोजन करनेसे आयुका बढ़ना स्वाभाविक है। इसी प्रकार यश देनेवाले पितरोंका सम्बन्ध दक्षिण दिशाके साथ रहनेके कारण दक्षिण मुख भोजनसे यशोलाभ होता है। स्नान, पूजादिसे शरीर, मनकी पवित्रता बढ़ती है, इसलिये शास्त्रमें कहा है।

'अस्नात्वाशी मलं भुङ्क्ते अजपी पूयशोणितम्'

निरोग शरीर होनेपर भी विना स्नान, खानेसे मलभोजन और विना जप-पूजा खानेसे पूर्ण शोणित भोजनका दोष होता है। इसलिये स्नानके बाद भोजन करना चाहिये। तथापि—

इक्षुरापस्तथा क्षीरं ताम्बूलं फलमौषधम्।
भक्षयित्वा प्रकुर्वीत स्नानदानादिकाः क्रियाः॥

इक्षु, जल, दुग्ध, तांबूल, फल और औषध ग्रहणके बाद भी स्नान पूजादि हो सकता है, ऐसा लिखा है। शास्त्रोंमें लिखा है :—

"पञ्चार्द्रो भोजनं कुर्यात्प्राङ्मुखो मौनमास्थितः।
हस्तौ पादौ तथैवास्यमेषा पञ्चार्द्रता मता।"

दोनों हाथ, दोनों पाँव और मुँह धोकर, पूर्वाभिमुख हो, मौन अवलम्बन कर भोजन करे। मनुने कहा है कि—

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥

भींगे पैर भोजन करे, परन्तु शयन न करे। भींगे पैर भोजन करनेसे आयु बढ़ता है और शयन करनेसे घटती है। मौन होकर भोजन करनेको इसलिये कहा है कि, भोजन करते करते बकवाद करनेसे लाला (लार) कम उत्पन्न होगी, जिससे मुह सूखकर बीच-बीचमें पानी पीना पड़ेगा। लार कम उत्पन्न होने और मुँह सूखनेके कारण पानी पीनेसे पाचनक्रियामें बाधा उत्पन्न होगी। महाभारतमें लिखा है, "एकवस्त्रो न भुञ्जीत" केवल एक वस्त्र-धारण कर भोजन न करे। भोजन करते समय एक उत्तरीय (दुपट्टा) ओढ़ लेना चाहिये; वह रेशमी हो तो अधिक अच्छा है। भोजन करते हुए शरीरयन्त्रकी जो क्रियाएँ होती हैं, उनमें बाहरी वायु बाधा न पहुँचा सके, इसीलिये यह व्यवस्था है। रेशमी वस्त्र इस कारण अच्छा समझा गया है कि, रेशम भीतरी शक्तिको सुरक्षित रखकर बाहरी शक्तिका उसपर परिणाम नहीं होने देता। इस प्रकार प्रवित्रभावसे भोजन करना चाहिये। स्नानके पश्चात् ही भोजन करना उचित है, क्योंकि भगवत्पूजा विना स्नान किये नहीं की जाती और पूजा किये विना भोजन करना निषिद्ध है। शरीर अस्वस्थ रहनेपर गीले कपड़ेसे शरीर पोंछकर वस्त्र बदल दे और भस्मस्नान अथवा मानसिक स्नान कर ले। मानसिक स्नान, श्रीविष्णु भगवान्का स्मरण कर 'स्वर्गसे गङ्गाको धारा आई

और उसमें स्नानकर मैं पवित्र हुआ', ऐसी दृढ़ भावना करनेसे होता है। भस्म-स्नान शिवमन्त्रसे अग्निहोत्रकी विभूतिको अभिमन्त्रित कर देहमें लगानेसे होता है। भोजनमें चाहे सामान्य द्रव्य ही क्यों न परोसे हों उन्हें देखकर प्रसन्न होना चाहिये। अन्नमें दोष देखना वा उसकी निन्दा करना उचित नहीं। अन्नका सदा आदर करना चाहिये। अन्नकी निन्दा या निरादर करनेसे पूजा ठीक सम्पन्न न होगी, चित्त शुद्धिमें सहायता नहीं मिलेगी; जिससे भगवान् भी प्रसन्न नहीं होंगे।

इसलिये मनुसंहितामें लिखा है—

पूजयेदशनं नित्यमद्यात्तैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जञ्च यच्छति।
अपूजितन्तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥

भोज्य अन्नको पूजाके साथ ग्रहण करनो चाहिये, क्योंकि वह ब्रह्मरूप है, उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि निन्दित अन्न भगवान्को समर्पण योग्य नहीं रहता है। अन्नको देखकर प्रसन्न हो जाना चाहिये और सादर उसका अभिनन्दन करना चाहिये। पूजित, अभिनन्दित अन्न ही बल और तेजको बढ़ाता है, अपूजित अन्न इन दोनोंका नाश करता है।

भोजनके पहिले भोज्य पदार्थोंका भगवान्को नैवेद्य दिखा कर, तब प्रसाद समझ कर भोजन करे। प्रसादरूपसे भोज्य पदार्थोंका सेवन करनेसे अन्नमें अनुचित आसक्ति न रहेगी। जब कि संसारकी सब वस्तुएँ भगवान्की उत्पन्न की हुई हैं, तब उन्हें पकाकर भगवान्को विना अर्पण कर खानेसे निस्सन्देह पाप होगा। गीतामें कहा है :—

"तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः।"

देवताकी दी हुई वस्तु उन्हें विना समर्पण किये जो खाता है, वह चोर है। अतः भगवान्को समर्पण करके ही अन्न ग्रहण करना चाहिये।

भोजनविधिके विषयमें महर्षि चरकने कहा है :—

उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याविरुद्धं इष्टदेशे इष्ट-
सर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बितं न जल्पन् न हसंस्तन्मना
भुञ्जीत आत्मानभिसमीक्ष्य सम्यक्।

पहला खाया अन्न परिपाक हो जानेके बाद परिमित, प्रकृतिके अनुकूल, ईषदुष्ण, स्निग्ध, अन्न पवित्र स्थानमें चित्तके अनुकूल व्यंजनादिके साथ खाना चाहिये। भोजन बहुत द्रुत भी न होना चाहिये और बहुत कालव्यापी भी न होना चाहिये। भोजनके समय बहुत बोलना या हँसना न चाहिये। अन्नगतमना होकर आत्माकी ओर लक्ष करके भोजन करना उचित है। भोजन करनेके विषयमें आयुर्वेदमें लिखा है—

याममध्ये न भोक्तव्यं त्रियामन्तु न लङ्घयेत्।
याममध्ये रसस्तिष्ठेत्त्रियामे तु रसक्षयः॥

प्रथम प्रहरके बीचमें खानेसे रसवृद्धि और तृतीय प्रहरके अन्तमें खानेसे रसक्षय होता है। अतः प्रथम प्रहरके बाद और तृतीय प्रहरसे पहले ही भोजन करना चाहिये।

भोजनपात्रके सम्बधमें शास्त्रमें लिखा है, फूटे हुए काँसेके पात्रमें, जूठे पात्रमें, तांबे और लोहेके पात्रमें, पलाश, कमल और आकन्दके पत्रपर, कदली-पत्रके पृष्ठपर या वस्त्रपर खाद्य वस्तु रखकर भोजन न करे, सोने, चाँदी, पत्थर या स्फटिकके पात्र भोजनार्थ उत्तम होते हैं। पत्थर या स्फटिकके पात्र बङ्गदेशमें बर्त्ते जाते हैं। अन्य देशोंके लोगोंने–उनमें घृताक्त-तैलाक्त पदार्थ भिन जाते हैं और धोनेपर भी नहीं निकलते इस कारण त्याग दिये हैं। सबभर प्रायः काँसेकी थालियाँ कटोरे आदि जो फूटे न हों—भोजनके लिये प्रचलित हैं और वे शास्त्र-शुद्ध भी हैं। पिता माता आदि गुरुजन जिस पात्रमें खा चुके हों, वह पात्र जूठा नहीं माना जाता, खानेकी वस्तुओंमेंसे कौन कब खाना चाहिये, इस विषयमें भी शास्त्रमें अनेक निर्देश है, यथा—

प्राग्द्रवं पुरुषोऽश्नन् वै मध्ये च कठिनानि च।
पुनरन्ते द्रवाशी तु बलारोग्ये न मुञ्चति॥

आदिमें द्रव वस्तु, बीचमें कठिन वस्तु और अन्तमें पुनः द्रव वस्तु खाने-पर बल और स्वास्थ्य ठीक रहता है। इसके विषयमें भी लिखा है :—

अश्नीयात्तन्मना भूत्वा पूर्वन्तु मधुरं रसम्।
लवणाम्लौ तथा मध्ये कटुतिक्तादिकं तथा॥

तन्मना होकर आदिमें मधुर रस, मध्यमें लवण तथा अम्ल रस और अन्तमें कटु तथा तिक्त रस ग्रहण करना चाहिये। किन्तु ग्रन्थान्तर तथा अन्य देशादिमें

इस नियमका व्यत्यय भी देखनेमें आता है। वहाँ पहिले तिक्त रस और अन्तमें मधुर रस ग्रहण किया जाता है।

खाद्य वस्तुएँ पवित्र और सात्त्विक होनी चाहिये। इसका कारण श्रुतिमें बताया गया है।

'दध्नः सौम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स
ऊर्द्ध्वः समुदीषति तत् सर्पिर्भवति। एवमेव खलु
सौम्यान्नस्य योऽणिमा स ऊर्द्ध्वः समुद्रीषति, तन्मनो
भवति।'

'अन्नमयं हि खलु सौम्येदं मनः'

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिशुद्धौ सर्व-ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।'

जिस प्रकार दधिके मथनेपर उसका सूक्ष्म अंश ऊपर आकर घृत बनता है, उसी प्रकार अन्नके सूक्ष्मांशसे मन बनता है। मन अन्नमय ही है। आहारशुद्धिसे सत्त्वशुद्धि, सत्त्वसुद्धिसे ध्रुवा स्मृति और स्मृतिशुद्धिसे संसार ग्रन्थियोंका मोचन होता है। अतः सिद्ध हुआ कि, अन्नके सात्त्विकादि गुणानुसार मन भी सात्त्विकादि भावापन्न होगा। साधारणतः देखा जाता है कि, अन्न न खानेसे मन दुर्बल हो जाता है, चिन्ताशक्ति नष्ट होने लगती है, और अन्न खानेसे मन सबल तथा चिन्ताशक्ति बढ़ने लगती है। अतः यदि अन्न तामसिक हो, तो मन, बुद्धि प्राण और शरीर तामसिक होगा; जिससे ब्रह्मचर्यधारण और साधना आदि असम्भव हो जायगी। इसी तरह राजसिक अन्नसे भी मन और वुद्धि चञ्चल होती है, अतः पवित्र और सात्त्विक अन्न ही ग्रहण करना चाहिये। खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें पश्चिमी देशोंमें जिस प्रणालीसे विचार किया है, वह सर्वाङ्गदृष्टिपूर्ण नहीं है। उन्होंने केवल इतना ही विचार किया है कि, किस वस्तुमें कौनसा रासायनिक द्रव्य कितना है। 'यवक्षारजान' जिसमें न्यून हो, वह अखाद्य और जिसमें अधिक हो, वह खाद्य, इतना ही मोटा सिद्धान्त उन्होंने बना लिया है। कौनसी वस्तु, किस ऋतुमें, किस प्रकारके शरीरके लिये, किस प्रकारसे सेवन की जाय, जिससे शरीर और मनका स्वास्थ्य परिवर्धित हो, इसकी विधि पश्चिमी चिकित्साशास्त्रकी पोथियोंमें नहीं मिलती। उन देशोंमें शीत अधिक है, अतः एकसी ही वस्तुओंके बारहो मास सेवन करनेसे तद्देशवासियोंका काम बन जाता है; परन्तु इस देशमें छहों ऋतु एकसे ही बलवान् हैं। ऋतुभेदसे वात, पित्त

और कफकी न्यूनाधिकता होनेके कारण शारीरिक तथा मानसिक अवस्थामें कितना परिवर्तन होता है, यह जाननेकी वे अबतक चेष्टा नहीं करते। द्वितीयतः पश्चिमी देशोंकी यह निर्णयविधि बड़ी जटिल है। वहाँके प्रसिद्ध विद्वान् भी खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें अभी एकमत नहीं हैं। तृतीयतः उदरमें जाकर इन सब खाद्य द्रव्योंका किस प्रकार विश्लेषण होता है, और उससे शरीरपोषणकारी कौनसे गुण उत्पन्न होते हैं, साधारण रासायनिक विश्लेषण द्वारा उनका निरूपण नहीं हो सकता। चतुर्थतः इस देशके खाद्यद्रव्योंके साथ उस देशके खाद्यद्रव्योंका मेल नहीं जमता, इस कारण उस देशकी परीक्षाओंसे इस देशके खाद्यद्रव्योंके गुणागुणका निर्णय नहीं हो सकता। सबसे बढ़कर बात यह है कि, खाद्यद्रव्योंके साथ मनका क्या सम्बन्ध है, सो पश्चिमी लोग नहीं जानते। अतः हमारे देशके खाद्याखाद्यका विचार हमारे शास्त्रीय विधियोंके अनुसार ही होना चाहिये। श्रीभगवान् कृष्णने सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे खाद्यद्रव्योंको तीन भागोंमें विभक्त किया है। यथा—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविबद्धंनाः ।
रस्याः स्निग्धाःस्थिराः हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

सरस, स्निग्ध, सारवान् और हृदय-ग्राही आहार सात्त्विक होता है। अधिक कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण, रूक्ष और उग्र, आहार राजसिक है, और बासो, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, पर्युषित, जूठा और अपवित्र आहार तामसिक हे। सात्त्विक आहारसे आयु, बल, उत्साह, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है। और चित्तमें सत्त्व गुणवृद्धि तथा आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। राजसिक आहारसे दुःख, शोक, और रोग उत्पन्न होते हैं, और तामसिक आहारसे जड़ता, अज्ञान, कुरोग और पशुभाव बढ़ता है। अतः राजसिक और तामसिक खाद्यद्रव्योंका परित्याग कर सात्त्विक आहारका सेवन करना चाहिये। इसी कारण आर्यशास्त्रमें पियाज, लशून, आदि राजसिक तामसिक वस्तुओंका भोजन निषिद्ध है, यथा—

लशुनं गृञ्जनञ्चैव पलाण्डु करकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनां अमेध्यप्रभवानि च॥

लशुन, गाजर, पियाज, छला आदि तथा विष्ठादि अपवित्र वस्तुसे उत्पन्न शाकादि द्विजातियोंका सर्वथा अभक्ष्य है। इन वस्तुओंके खानेसे मन, बुद्धि, शरीर, प्राण, आत्मा सभी मलिन हो जाते हैं, और ब्रह्मचर्यनाश, पशुभाववृद्धि, कामवृद्धि, चित्तचाञ्चल्य आदि उत्पन्न होकर आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग एक वार ही बन्द हो जाता है। खाद्याखाद्यके विषयमें आगे और भी कहा जायगा।

पहिले ही कह चुके हैं कि, स्पर्शास्पर्शसे एकके शरीरसे दूसरेके शरीरमें रोग संक्रामित होते हैं। केवल रोग ही नहीं, किन्तु स्पर्शास्पर्शसे शारीरिक और मानसिकवृत्तियोंमें हेर फेर हो जाता है। प्रत्येक मनुष्यमें एक प्रकारकी विद्युत् शक्ति रहती है, जो मनुष्यकी प्रकृति और चरित्रके भेदसे प्रत्येकमें विभिन्न जातीय होकर स्थित है। तामसिकोंमें तमोमयी, राजसिकोंमें रजोमयी और सात्त्विकोंमें सत्त्वमयी विद्युत् विराजमान है। अन्ततः जिस वृत्तिके लोगोंके साथ रहा जाय, जिस वृत्तिके लोगोंका छुआ या दिया अन्न सेवन किया जाय, उसी प्रकारकी वृत्ति सहवासियों अथवा अन्न ग्रहण करनेवालोंमें संक्रामित होगी। भिन्न भिन्न प्रकारकी विद्युत्का प्रकृतिपरिणाम एक दूसरे पर हुए बिना न रहेगा। अत. चाहे जिसका भी हो, छुआ या दिया हुआ अन्न ग्रहण न करना चाहिये। हिन्दुशास्त्रोंमें नीच, अपवित्र, पापी और चाण्डालादिका छुआ अन्न ग्रहण करनेका निषेध है, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंको अलग अलग पंक्तियोंमें बैठकर भोजन) करनेकी जो आज्ञा है, इसका कारण भी यही है कि, प्रत्येक वर्णकी विद्युत् (प्रकृति जन्मसे ही विभिन्न प्रकारकी होती है और उसका अन्य प्रकृतिमें आक्रमण होना स्वाभाविक है। अपनेसे निम्न श्रेणीके लोगोंके साथ बैठकर भोजन करनेसे अपने उच्चगुणविशिष्ट विद्युत् मलिन हो जाती है। अथवा नाना जातिकी बिजलीके विपरीत संघर्षसे किसीका भी भोजन परिपक्व नहीं होता है। इसके अतिरिक्त अपने वर्णके लोगोंके साथ भोजन करनेके सम्बन्धमें भी शास्त्रोंमें बहुत कुछ विचार किया गया है, जैसा कि

"अप्येकपंक्तौ नाश्नीयात् संवृतः स्वजनैरपि।"

इत्यादि प्रमाणके द्वारा पहले ही बताया गया है। भोजनके समय इन नियमोंका पालन करना आवश्यक है। एक वर्णमें पंक्तिभोजनके समय वह भी नियम अवश्य रखना चाहिये कि, जितने एक साथ खाने बैठें, सब भोजनका

प्रारम्भ तथा समाप्ति एक ही साथ करके उठें। क्योंकि पंक्तिभोजनके समय सबके शारीरिक यन्त्रमें क्रियाविशेष होनेसे तथा एक साथ बैठनेके कारण सभीके भीतर एक वैद्युतिक शृङ्खला (Electric line or circle) बन जाती है। उसमेंसे जो आगे उठ जायेगा, वह यदि दुर्बल होगा, तो उसकी वैद्युतिक शक्तिको बाकी बैठनेवाले खींच लेंगे, जिससे उस पहले उठनेवालेके पेटमें भोजन पचेगा नहीं और वह दुर्बल हो जायगा। द्वितीयतः उठनेवाला यदि अधिक शक्तिशाली होगा, तो सारे बैठनेवालेकी विद्युत् शक्तिको वह खींचकर उठेगा, जिससे बाकी सबके पेटमें विकार हो सकता है। अतः पंक्तिभोजनमें साथ ही बैठने उठनेका नियम अवश्य पालना चाहिये। प्राण और पीठतत्वमें वर्णित पीठासनकी क्रियामें भी ऐसा हीं देखा गया है। उसमें जितने मनुष्य टेबलपर हाथ मिलाकर बैठते हैं, उसमेंसे किसोको अचानक हाथ अलग नहीं कर देना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेपर अकस्मात् धक्का लगकर दुर्बलता हो सकती है। द्वितीयतः यदि किसीसे अन्न लेना हो, तो सत्पात्र देखकर उससे लेना चाहिये, क्योंकि पापियोंसे अन्न ग्रहण करनेसे उसका पाप अपनेमें भी सक्रमित होगा। भीष्मपितामहने दुर्योधनका पापान्न ग्रहण किया था, इसीसे उनका ज्ञान लुप्त हो गया था और द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय वे द्रौपदीकी रक्षा नहीं कर सके थे। जब इतने बड़े महात्माकी भी पापान्नके ग्रहण करनेसे बुद्धि पलटती है, तब साधारण जीवोंकी कथा ही क्या है? सारांश यह है कि, सत्पात्रके यहाँका भोजनार्थ निमन्त्रण स्वीकार करना और सत्पात्रका ही अन्न ग्रहण करना चाहिये।

भोजनमें स्पर्शदोषकी तरह दृष्टिदोषगुणका भी विचार आर्यशास्त्रमें किया गया है। यथा—

पितृमातृसुहृद्वैद्यपुण्यकृद्धंसबर्हिणाम् ।
सारसस्य चकोरस्य भोजने दृष्टिरुत्तमा ॥

पिता, माता, बन्धु, वैद्य, पुण्यात्मा, हंस, मयूर, सारस, और चकवेकी दृष्टि भोजनमें उत्तम है। इनको दृष्टिसे अन्नका दोष दूर होता है। चकवेके विषयमें मत्स्यपुराणमें लिखा है कि, 'चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात्।' अन्नमें विष आदि दोष रहनेपर चकवे आँखें मूँद लेते हैं, जिससे विषाक्त अन्नका पता लग जाता है। दृष्टिदोषके विषयमें लिखा है—

हीनदीनक्षुधार्त्तानां पाषण्डस्त्रैणरोगिणाम् ।
कुक्कुटाहिशुनां दृष्टिर्भोजने नैव शोभना ॥

नीच, दरिद्र, भूखे, पाषण्ड, स्त्रैण, रोगी, मुर्गे, सर्प और कुत्तेकी दृष्टि भोजनमें ठीक नहीं होती है। उनकी विषदृष्टि अन्नमें संक्रमित होनेसे अजीर्ण रोग उत्पन्न होते हैं, यदि कभी इनमेंसे किसीकी दृष्टि अन्नमें पड़ जाय तो निम्नलिखित मन्त्र पढ़ कर उसकी अर्थचिन्ता करते करते भोजन करना चाहिये, यथा—

अन्नं ब्रह्मरसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः ।
इति सञ्चिन्त्य भुञ्जानं दृष्टिदोषो न बाधते ॥
अञ्जनीगर्भसम्भूतं कुमारं ब्रह्मचारिणम् ।
दृष्टिदोषविनाशाय हनुमन्तं स्मराम्यहम् ॥

अन्न ब्रह्मरूप है। अन्नरस विष्णुरूप है, भोक्ता महेश्वर है, ऐसी चिन्ता करते करते भोजन करनेपर दृष्टिदोष नहीं होता है। अञ्जनीकुमार ब्रह्मचारी-हनुमानको, दृष्टिदोषनाशार्थ—मैं स्मरण करता हूँ, यही सब भोजनके विषयके नियम हैं।

दिनमें एकबार ही भोजन करना चाहिये। यथा आपस्तम्बमें 'दिवा-पुनर्न भुञ्जीत नान्यत्र फलमूलयो.' दिनमें एकबार ही भोजन करना चाहिये। क्षुधाबोध होनेपर फलमूलादि आहार कर सकते हैं। और भी स्मृतिमें—

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिबोधितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥

दिवा और रात्रिमें दो वार भोजन ही श्रुतिसम्मत है। बीचमें भोजन नहीं करना चाहिये। इस प्रकार भोजनविधि आदि करना चाहिये। माथा लपेट कर या जूता पहिन कर खाना उचित नहीं है। यथा—

यो भुङ्क्ते वेष्टितशिरा यश्च भुङ्क्ते विदिङ्मुखः ।
सोपानत्कश्च यो भुङ्क्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम् ॥

माथा लपेट कर, निषिद्धमुख होकर या जूता पहन कर खाना आसुरी प्रकृतिका लक्षण है। दिनकी तरह रात्रिमें भी लघु (हलका) भोजन करे : रात्रिमें निद्रावस्थामें स्नायुशक्ति दुर्बल रहती है, उस समय गुरु (भारी) भोजनका ठीक परिपाक (पचन) नहीं होता। दिन या रात्रिका भोजन ऐसा

न हो, जिसमें खूब चरपरे मसाले पड़े हों और जो पचनेमें जड़ हो। जड़ भोजनसे शरीर और मन दोनों बिगड़ते हैं। अतः सहज पचनेवाले हलके पदार्थ ही भोजनार्थ प्रस्तुत किये जाँय। सन्ध्याके समय भोजन न करे; क्योंकि सन्ध्याके समय भूत-प्रेतोंकी दृष्टि अन्नपर रहती है। उनकी अन्नपर आसक्ति रहनेसे उस समय अन्न ग्रहण करनेवालोंके अन्नपरिपाकमें सन्देह रहेगा। इसी तरह अधिक रात बीतजानेपर भी भोजन न करे; क्योंकि भोजनोत्तर कमसे कम दो घण्टे जाग कर तब सोना चाहिये। ऐसा न करनेसे अन्न नहीं पचेगा। अन्नके न पचनेसे गाढ़ निद्रा नहीं लगेगी। अच्छी नींद न होनेसे नाना प्रकारके स्वप्न देख पड़ेंगे और निद्राभङ्ग होगा; जिससे स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा। भोजन करलेनेके कुछ समयके पश्चात् जलपान करना चाहिये। पीनेके जलमें सात गुण अवश्य हों। वह स्वच्छ, लघु, शीतल, सुगन्धित, स्वयं स्वादहीन, और तृष्णानिवारक हो। जलके विषयमें महर्षि यमने कहा है—

दिवार्करश्मिसस्पृष्टं रात्रौ नक्षत्रभासितैः।
सन्ध्ययोश्च तथोभाभ्यां पवित्रं जलमुच्यते॥

दिनमें सूर्यकिरण, रात्रिको चन्द्र-नक्षत्र किरण और सन्ध्याओंमें दोनों किरणों-से युक्त, वायुप्रवाहमय जल ही उत्तम है। जिस जलपर सूर्य किरण नहीं पड़ते अथवा जिस जलको वायु नहीं सोखती, वह अति स्वच्छ रहनेपर भी कफ उत्पन्न करता है। उस जलको गरम करके ठण्ढा होनेपर पिये। ऐसा सिद्धजल काश, श्वास, ज्वर, कफ, बात, आम और अजीणका नाश करता है। नारियलका जल मधुर, पाचक और पित्तशामक होता है। लाल नारियलके जलमें केवल पित्तशमनका ही गुण है। सोडावाटर, लेमनेड आदि क्षारयुक्त जल इस देशके आहार विहार और जलवायुके लिये सर्वथा अनुपयुक्त और अपथ्यकर है।

जल पीनेके विषयमें ऐसा भी भावप्रकाशमें लिखा है—

अत्यम्बुपानाच्च विपच्यतेऽन्नं, अनम्बुपानाच्च स एव दोषः।
तस्मान्नरो वह्निविबर्द्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि॥

बहुत जल पीनेसे या एकबार ही न पीनेसे अन्नका परिपाक नहीं होता है। इसलिये पाकाग्निको बढ़ानेके लिये बार-बार थोड़ा-थोड़ा जल पीना चाहिये, और भी—

आदौ वारि हरेत् पित्तं, मध्ये वारि कफापहम्।
अन्ते वारि पचेदन्नं सर्वं वार्य्यमृतोपमम्॥

भोजनके प्रथमभागमें जलपान पित्तनाशक, मध्यभागमें जलपान कफनाशक और अन्तभागमें जलपान अन्नपाचक होता है। अतः सभी जलपान अमृततुल्य है। आर्यशास्त्रमें मिताहारकी बड़ी प्रशंसा लिखी है। यथा—

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते,
आरोग्यमायुश्च बलं सुखञ्च।
अनाविलञ्चास्य भवत्यपत्यं,
न चैनमाद्यूनमिति क्षिपन्ति॥

मिताहारमें छः गुण हैं। उससे रोग नहीं होता है, आयु बढ़ती है, बल तथा सुखलाभ होता है। मिताहारीके पुत्र आलस्यपरायण नहीं होते हैं और लोग उनको औदरिक भी नहीं कहते हैं। अमिताहारके विषयमें शास्त्रमें लिखा है—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यञ्चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तं परिवर्जयेत्॥

अमिताहारसे रोग होता है, आयु घटती है, नष्ट होता है, पुण्य नष्ट होता है और यह लोकविद्विष्ट भी है, अतः अतिभोजन त्यागना चाहिये। मिताहारके लक्षणके विषयमें लिखा है—

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्भागमेकं जलेन तु।
वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्॥

उदरका दो भाग अन्नसे पूर्ण किया जाय, एक भाग जलसे पूर्ण किया जाय और वायु सञ्चारके लिये एक भाग खाली रक्खा जाय, यही मिताहारका लक्षण है।

भोजनोत्तर कर्तव्यके विषयमें लिखा है—

भुक्त्वा पाणितले घृष्ट्वा चक्षुषोर्दीयते यदि।
अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति॥
स्वर्यातिञ्च सुकन्याञ्च च्यवनं शक्रमश्विनौ।
भोजनान्ते स्मरेद् यस्तु तस्य चक्षुर्न हीयते॥

भोजनके बाद मुखप्रक्षालन करना चाहिये। जिससे मुखमें उच्छिष्ट न रहे तदनन्तर 'स्वर्याति' आदि मन्त्रपाठ करते हुए आर्द्र हस्तद्वय घर्षणपूर्वक दोनों चक्षुओंमें तीन बार लगानेपर दृष्टिशक्ति अच्छी होती है। तदनन्तर क्या करना चाहिये, उसके लिये लिखा है—

भुक्त्वा राजवदासीत यावन्न विकृतिं गतः।
ततः शतपदं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्॥
एवञ्चाधोगतञ्चान्नं सुखं तिष्ठति जीर्यति॥

भोजनके बाद प्रथमतः वीरासनमें बैठना चाहिये। पश्चात् शतपद घूमकर वामपार्श्वमें सोना चाहिये। यथा—भावप्रकाशमें—

वामदिशायामन्ने नाभेरूर्ध्वेऽस्ति जन्तूनाम्।
तस्मात्तु वामपार्श्वे शयीत भुक्तप्रपाकार्थम्॥

नाभिके ऊपर वामपार्श्वमें अन्न रहता है, इसलिये वामपार्श्वमें सोनेपर अन्नपरिपाक अच्छा होता है।

भोजनोत्तर कुछ मुखशुद्धि सेवन करना चाहिये। इससे लाल निःसरण होकर अन्न—पचन--क्रियामें सहायता होती है। साधारणतः इलायचो, अजमाद, अजवाइन, चिकनी सुपारी, लौंग आदि वस्तुएँ मुखशुद्धिके लिये उत्तम हैं। पान खाना विद्यार्थियोंके लिये निषिद्ध है; क्योंकि वह रक्तवृद्धिकर होनेपर भी कामोत्तेजक होता है। विवाहित लोगोंके लिये ताम्बूल भक्षणकी विधि है; परन्तु वह ताम्बूल बड़ी सावधानीसे बनाया जाय। क्योंकि शास्त्रमें लिखा है :—

पर्णमूले भवेद् व्याधिः पर्णाग्रे पापसम्भव।
जीर्णं पर्णं हरेदायुः शिरा बुद्धिप्रणाशिनी॥

पानके डण्टे रोग उत्पन्न करते हैं, शिरा बुद्धिनाश करती हैं, सड़ा-पान आयुक्षयकर है, अग्रभाग पापजनक है। इनको बचाकर जो ताजे पानका अंश रहे, वही स्वास्थ्यकर होता है।

भोजनके बाद कठिन परिश्रम कदापि नहीं करना चाहिये, उससे रक्त-सञ्चालन अधिक होनेपर पाकक्रियामें बाधा होती है। इसलिये लिखा है—

अनायासप्रदायिनी कुर्यात् कर्याण्यतन्द्रित.'

जिससे परिश्रम न हो, इस प्रकारके हलके काम कर सकते हैं। और भी वैद्यशास्त्रमें लिखा है—

भुक्तोपविशतस्तुन्दं शयानस्य वपुर्महत्।
आयुश्चंक्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावतः॥

भोजनके बाद बैठे रहनेसे पेट बढ़ जाता है, सोये रहनेसे शरीर अच्छा रहता है, थोड़ी देर पादचारण करनेसे आयु बढ़ती है, और खाते ही दौड़नेसे

मृत्यु आक्रमण करती है। यही सब आहारके विषयमें आर्य सदाचारसम्मत नियम हैं।

त्रिगुण परिणामरूप शरीरकी प्रकृति भी तीन प्रकारकी होती है। यथा—सत्त्वगुणसे पित्त प्रकृति, रजोगुणसे वात प्रकृति और तमोगुणसे कफ प्रकृति। अंग्रेजोमे पित्तप्रकृतिको bilious, वात प्रकृतिको nervous, और कफप्रकृतिको lymphatic कहते हैं। त्रिविध प्रकृतियुक्त मनुष्योंके अलग अलग लक्षण भी शास्त्रोंमें लिखे हैं—

कृशो रुक्षोऽल्पकेशश्च चलञ्चित्तोऽनवस्थितः।
बहुवाक्यमतः स्वप्ने वातप्रकृतिको नरः॥
अकालपलितो गौरः प्रस्वेदी कोपनो बुधः।
स्वप्नदीप्तिमतप्रेक्षो पित्तप्रकृतिरुच्यते॥
स्थिरचित्तः सुबद्धाङ्गः स्वप्नलः स्निग्धमूर्द्धजः।
स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः॥

कृश, रुक्ष, अल्पकेश, चञ्चलचित्त, अव्यवस्थित तथा स्वप्नमें बहुकथनशील पुरुष वातप्रकृतिका होता है। जिसका केश शीघ्र पक्क जाय, गौरवर्ण, शरीरमें स्वेदनिर्गम बहुत हो, क्रोधी, बुद्धिमान् और स्वप्नमें ज्योति देखनेवाला पुरुष पित्तप्रकृतिका होता है। स्थिरचित्त, दृढ़काय, निद्रालु, स्निग्धकेश और स्वप्नमें जलाशयदर्शी पुरुष कफप्रकृतिका होता है।

जब तक ये तीनों (पित्त, वात, कफ) शरीरमें समभावसे रहते हैं, तभी तक शरीर नीरोग और स्वस्थ रहता है। तीनोंमेंसे किसी एकके बढ़ने या विकृत होनेसे शरीरमें व्याधि उत्पन्न होती है। तब वात, पित्त, कफको समभावमें लानेकी चिकित्सा की जाती है। चिकित्सा और पथ्यके द्वारा वात-पित्त कफका जैसा सामञ्जस्य किया जाता है, वैसा ही साधारण अवस्थामें भी खाद्यादि द्वारा यत्न किया जाता है कि, तीनों समान भावसे रहें। प्रकृतिके प्रभावसे षड्ऋतुओंका विकाश होता है। ऋतुविपर्ययसे भी तीनों न्यूनाधिक हुआ करते हैं। अतः ऋतुके अनुसार ही खाद्याखाद्यका निर्णय करना उचित है। त्रिगुणके तारतम्यानुसार साधारणरूपसे खाद्याखाद्यका निरन्तर विचार रखना आवश्यक है। अतः मध्याह्नकृत्यप्रसङ्गमें खाद्याखाद्यका कुछ उल्लेख किया जाता है।

हेमन्त और शिशिर ऋतुमें वायु कुपित होती है। इस ऋतुमें मीठा, खट्टा और खारा आहार करना योग्य है। मैदा, ईखका रस, दूध और स्निग्ध उष्ण वीर्यवाले द्रव्य सेवन करने योग्य हैं। अति शीतल जल नहीं पीना चाहिये। उष्ण शय्यापर शयन, उष्ण गृहमें निवास और अग्निको तापना तथा धूपमें बैठना उक्त ऋतुके अनुकूल है। वसन्तमें श्लेष्मा कुपित होकर अग्नि मन्द होती है। इस ऋतुमें जठराग्नि बढ़ानेवाले पदार्थोंका सेवन और भ्रमण करनेसे ग्रीष्मकी वाधा नहीं होती। खारा, खट्टा, कडुवा और उष्ण द्रव्य न खावे। पुराने चावल, यव, काले छिलकेकी मूँगकी दाल, लघुपाक स्वादिष्ट, घृतादिसे बने हुए सरस पदार्थ और शीतल-पाचक जलका सेवन इस ऋतुके योग्य है। इस ऋतुमें व्यायाम घटा देना चाहिये। वर्षा कालमें सीड और वृष्टिके कारण जल दूषित हो जाता है तथा जठराग्नि तेजोहीन होती है, जिससे वायु, पित्त और कफ तीनों कुपित हो जाते हैं। इस ऋतुमें बहुत ही सावधानीसे भोजनादिका विचार रखना उचित है। अग्निबर्द्धक लघुपाक द्रव्य, पुराने चावल, मूँगकी दाल और स्वच्छ कुएँका अथवा आकाश (वृष्टि) का जल वर्षाकालमें हितकारी होता है। ऊँचे स्थानमें सोना आवश्यक है और अति परिश्रम, धूपमें बैठना, ठण्डी हवाका सेवन, नदीका जल पान तथा अधिक जलयुक्त द्रव्योंका ग्रहण करना निषिद्ध है। शरद ऋतुमें भी पित्त कुपित होता है। इस ऋतुमें मधुर, तीते और कसैले पदार्थ उपकारी होते हैं। पित्तप्रकोप करनेवाले द्रव्य निषिद्ध और चावल, गेहूं, अरहर, बिना छिलकेकी मूँगकी दाल, घी, दूध, ईख, आँवला, परवर, ये सब पदार्थ भक्षण करने योग्य हैं।

रसोंके गुणागुणके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें लिखा है कि, मधुर रसः—प्रीतिजनक; बलकर, वीर्य्यवर्द्धक और वातनाशक; अम्लरसः—अत्यन्त रुचिकर, रक्त–मांसवर्धक, पाचक और कफवर्द्धक; लवण रसः—रेचक, पाचक और पित्तवर्द्धक; तिक्तरसः—पित्त, कफ, चर्मरोग तथा ज्वरनाशक, दीपक; पाचक और क्रिमिनाशक; कषायरसः—शोधक, रसनाशक, वायुवृद्धिकर और श्लेष्मानाशक; कटुरसः—अग्निबर्द्धक, श्लेष्मानाशक और पित्तवृद्धिकर; उष्णरसः—पित्तवर्द्धक, वीर्य्यवर्द्धक, लघु और वातश्लेष्मादोषनाशक एवं शीतल रसः—पित्तनाशक, गुरु, कफवातकर और बलकारी होता है। अपनी प्रकृति, समय तथा ऋतुके अनुसार भिन्न भिन्न रसोंके सेवन करनेसे स्वास्थ्य अच्छा रह सकेगा।

शास्त्रोंमें गोदुग्धको बड़ी प्रशंसा की गई है। यह प्राण देनेवाला, रक्त-पित्तनाशक, वायुहारक, आयुवर्द्धक, पौष्टिक रसायन है। भैंसके दूधकी कहीं प्रशंसा पाई नहीं जाती। पशुओंमें गौ परम सात्त्विक पशु है। इससे बढ़कर कोई सात्त्विक पशु है ही नहीं। इसी लिये गोदुग्धसे सात्त्विक भाव बढते हैं। भैंस तमोगुणी पशु होनेसे उसका दूध भी, पीनेवालोंमें तमोगुण उत्पन्न करता है। जो अपना ब्रह्मचर्य्य बनाये रखना चाहते हैं, उन्हें महिष-दुग्ध छोड़ देना चाहिये और गोदुग्धका सेवन करना चाहिये। क्योंकि महिष-दुग्ध ब्रह्मचर्य्यका शत्रु है। गोदुग्धकी तरह गोघृत और गोदधिकी भी शास्त्रोंमें बड़ा प्रशंसा है। गोघृत नेत्रोंका तेज बढ़ानेवाला, बलप्रद, मधुर, शीतल और वातपित्तनाशक होता है। 'आयुर्वै घृतम्' अर्थात् घृत आयु स्वरूप है, इस वेदवचनके भाष्यकारोंने 'घृत' शब्दका अर्थ 'गो घृत' किया है। गौका दही वातनाशक, स्निग्ध, दीपक और बलवर्द्धक है। दहीका मट्ठा या कढी भी बड़ी गुणकारी है। निर्जल दही या कढ़ी पित्तनाशक, वातनाशक और कफवर्द्धक तथा मट्ठा लघु, कषाय और दीपक होता है। उसमें सैन्धव मिलानेसे वातनाशक, शर्करा मिलानेसे पित्तनाशक और त्रिफला या सोंठ और क्षार मिलानेसे वह कफ नाशक भी हो जाता है। नमक मिलाया हुआ, फटा, मृतवत्सा और बालवत्साका दूध पीना निषिद्ध है। प्रसव होनेपर दश दिनोंतककी गौको बालवत्सा कहते हैं।

दालमें मूँगकी दाल सबसे अच्छी होती है। यह मधुर, शीतल, और पित्तश्लेष्मनाशक है। मसूर या उर्दकी दाल बहुत ही हानिकारक है। इनके सेवनसे वात और कफ वढ़ता है। अरहरकी दाल कफ–पित्त–नाशक और उसका छिलका शीतल, मधुर, वातुल तथा कफ–पित्त–नाशक होता है।

शाक तरकारियोंमें परवल बहुत उत्तम गिना गया है, यह त्रिदोषनाशक, है। इसका पत्ता पित्तनाशक और जड़ कफनाशक है। बथुवाकी शाक लघु अग्निवर्द्धक और बलवर्द्धक है। ब्राह्मीकी शाक बड़ी उपकारी है। यह मेधा-आयुस्मृतिवर्द्धक, जरादोषनिवारक, कफपित्तनाशक और स्वरशक्तिवर्द्धक है। निम्ब (मीठी नीम) की शाक पित्त, कफ, व्रण, कुष्ठादि दोषोंका नाश करती है। मूली गुरु, कोष्ठबद्ध करनेवाली, त्रिदोषकारी है; किन्तु स्निग्ध बनाकर खानेसे पित्तको बढ़ानेवाली और कफ-वायुनाशक हो जाती है। पालककी

शाक कफ-पित्तनाशक, रुक्ष और वायुवर्द्धक है। चौंराई मधुर, शीतल, अजीर्णकर, पित्तनाशक और गुरु है। तिपत्तिशाकी शाक धारक, त्रिदोषनाशक एवं गात्रदाह-निवारक है। केलेका फूल कफनाशक, कृमिनाशक, कुष्ठप्लीहाज्वरहारी, दीपक और मलशोधक है। लौकी या कोंहड़ा पित्त कफनाशक और शीतल है। जमोंकन्द दीपक, कफनाशक, कोष्ठको शुद्ध करनेवाला, लघु और अर्शरोगमें उपकारी होता है। अरोई आमवातजनक और गुरु होती है।

फलोंमें अनार, आम, बेल, नारियल और निब्बू ये फल उत्तम होते हैं। केला और कटहर गुरुपाक होनेके कारण उनका अधिक सेवन न करे। अमरूद भी गुरु और रेचक होनेसे अधिक न खाना चाहिये। ईख रक्तपित्तनाशक, बलवर्द्धक, कफवर्द्धक, मधुर और स्निग्ध है। गुड़ वातपित्तनाशक, रक्तशुद्धिकर, मधुर और स्निग्ध है। हर्र और आंवला बहुत ही उपकारी हैं। इनके सेवनसे त्रिदोष दूर होते हैं।

घी, शहद और मूली एक साथ न खाय। ठण्डा भात पुनः गरम करके खाना वर्जित है। अमड़ा, निब्बू, केलेको फूल, अमरूद, नारियल, अनार आंवला या और कोई वस्तु दूधमें मिलाकर न खानी चाहिये। शहदको गरम करके न खाय, कांसेके पात्रमें दश दिन घी रक्खा रहे, तो वह न खाना चाहिये, जो मिठाई कुछ दिन पड़ी रहनेसे खट्टी हो जाय, वह खाना अनुचित है। जुआँ आदि घृणित कृमि-संसृष्ट, व्यभिचारिणी स्त्री या स्त्रैण पुरुषका, पैरोंसे कुचला या जूठा, चोरका, वेश्याका या सूतक लगा हो, उस व्यक्तिका अन्न ग्रहण न करे। बेर कुपथ्यकी वस्तु है, उसे न खाना ही अच्छा है। लहसुन, प्याज गाजर और कोबी नितान्त अखाद्य हैं। इन तामसिक फलोंको कभी न खाना चाहिये। इनसे इन्द्रियकी उत्तेजना अत्यन्त बढ़ती है, मन चञ्चल और काम परायण होता है तथा अन्तःकरण श्रीभगवान्की ओरसे हटकर विषयकी ओर आकृष्ट होता है। लहसुन, प्याज आदिकी तरह मांस, मछली, अण्डे आदिके भक्षणसे भी सत्त्वगुण नष्ट होकर रजोगुण और तमोगुण बढ़ता है तथा बुद्धि विषयासक्त, अन्ततः भ्रष्ट हो जाती है। मांसभोजी कभी सत्त्वगुणी नहीं देख पड़ेगा। मांस खानेवाले व्याघ्र आदि और तृणभोजी गौ आदि पशु इसके प्रमाण हैं। मांसाशी पशुपक्षियोंकी जैसी प्रकृति और प्रवृत्ति होती है, मांसभोजी मनुष्योंकी वैसी ही

प्रकृति और प्रवृत्ति बन जाती है। श्वान आदि मांसभोजी हैं, इसीसे अतिकामुक और अस्पृश्य हैं। जैसा भक्ष्य रहेगा, वैसी बुद्धि होगी। पशु-पक्षियोंमें देख पड़ता है कि, जिनका आहार सात्त्विक, वे शान्त, जिनका राजस, वे विलासी और जिनका तामस, वे क्रूर होते हैं। मनुष्योंको भी इन ईश्वरीय उदाहरणोंको देख अपना आहार सात्त्विक रखना उचित है। मांस खानेसे कुष्ठ, कैनसर (गलेके घाव) आदि रोग होते हैं, अतः मांस न खाना ही उचित है। मांसकी तरह मछली भी दुर्गुणकारी है। यद्यपि मछली राजसिक है, तथापि उसके खानेसे सात्त्विकताका नाश होता है। सारांश यह कि, किसी सजीव और सुख दुःखका अनुभव करनेवाले प्राणीको मारकर खानेकी इच्छा ही मनुष्यमें हिंसावृत्ति और पाशविक भाव उत्पन्न करती है, अतः जो जीवनमें आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हों, उन्हें मांस-मछली आदिका त्याग कर ही देना चाहिये। कितने लोग यह समझ बैठे हैं कि, मत्स्य मांस न खानेसे आयु घटती है, आँखें बिगड़ती हैं और अम्लपित्तादि रोग होते हैं। उनकी यह समझ निरी भ्रममूलक है। निरामिषाहारी पञ्चद्राविड़ और बङ्ग या अन्य प्रान्तोंकी विधवायें—जो मत्स्य मांस खाना छोड़ देती हैं। देखिये कैसी नीरोग, दीर्घायु और सशक्त हुआ करती हैं। खानेके पदार्थोंमें अधिक मिर्चा झोंक देना उचित नहीं है। मिर्चा अत्यन्त उष्ण गुरु और वीर्यनाशक वस्तु है। मिर्चाकी जगह मिरच छोड़ना उपकारी होगा।

इन बातोंके अतिरिक्त हमारे शास्त्रोंमें वार और तिथिभेदके अनुसार भी खाद्याखाद्यका विचार किया गया है। सूर्य, चन्द्र, मंगल, शनि आदिका आकर्षण-तारतम्य ही इस विचारके मूलमें हैं। अष्टमी, अमावास्या और पूर्णिमाको पृथ्वीपर चन्द्रके आकर्षणका प्रभाव बहुत होता है। जल तरल पदार्थ है; इस कारण उक्त तिथियोंमें समुद्रका जल उछने लगता है, जिससे ज्वार-भाटा होता है। शरीरमें भी कफ, रक्त, मस्तिष्क आदि जो जलीय पदार्थ हैं, उक्त तिथियोंमें उनका उछलना भी स्वाभाविक है। चन्द्रके इस प्रकारके आकर्षणसे ही अमावस्या और पूर्णिमाको वात-रोग और कफादिकी वृद्धि होती है, अतः इन तिथियोंमें कम खाना, नीरस शुष्क वस्तु खाना या दिन रात न खाना, कमसे कम रातको न खाना अच्छा है। उपवाससे देहका रस शुष्क होकर उसपर चन्द्रके आकर्षणका परिणाम नहीं होता और उससे रसाधिक्यसे होनेवाले कोई रोग शरीरमें उत्पन्न नहीं होते। चन्द्रमा मनका देवता होनेसे इन तिथियोंमें उसके आकर्षणका प्रभाव मनपर पड़कर वह

चञ्चल हो उठता है। उक्त तिथियोंमें उपवास कर अथवा एकभुक्त रहकर भगवान्‌में ध्यान लगानेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करनेसे मन शान्त रहेगा और आहार कम करनेसे विषयवासनायें कम होगीं।

अतः हिन्दुशास्त्रोक्त तिथियोंमें उपवास और उपसना करनेसे उन तिथियोंमें जो वातादि रोग, चित्तकी चञ्चलता और भगवद्भजनविमुखता आदि दोषोंके उद्भव होनेका भय है वह मिट जायगा। उपर्युक्त ग्रह-विज्ञानके विचारसे ही भिन्न भिन्न तिथियोंमें विभिन्न खाद्याखाद्यका निर्णय ऋषियोंने किया है यथा—चातुर्मास्यमें श्वेत सेम, परवल, नारीकी शाक, बैंगन, माघमें मूली, रविवारको लौकी, मसूर, नीम, आदी, मङ्गलवारको उर्द तथा एकादशीको भात न खाना चाहिये इत्यादि। यही संक्षेपसे शास्त्रसम्मत खाद्याखद्यका नियम हैं।

मध्याह्नकृत्यके बाद अपराह्नकृत्य प्रारम्भ होता है, उसके विषयमें शास्त्रमें लिखा है—

इतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि चाभ्यसेत्।
वृथा विवादवाक्यानि परीवादश्च वर्जयेत्॥

इतिहास पुराण तथा धर्म्मशास्त्रचर्चा द्वारा मध्याह्नोत्तर कर्म्म करना चाहिये। वृथा-कलह या परनिन्दादिमें रत नहीं होना चाहिये। और भी—

इतिहासपुराणाद्यै षष्ठसप्तमकौ नयेत्।
अष्टमे लोकयात्रा च बहिः सन्ध्या ततःपरम्॥

दिनका षष्ठ तथा सप्तम भाग इतिहास पुराणादिकी चर्चामें बिताकर अष्टम भागमें बाहर भ्रमण लौकिक व्यवहार आदिमें बितावें और तदनन्तर सायं सन्ध्या करें। आर्यशास्त्रमें मध्याह्नभोजनके बाद दिवानिद्राका निषेध किया गया है। यथा—

दिवा स्वप्नं न कुर्वीत स्त्रियञ्चैव परित्यजेत्।
आयुःक्षीणा दिवा निद्रा दिवा स्त्री पुण्यनाशिनी॥

दिवा निद्रा और दिनमें स्त्रीसम्बन्ध वर्जनीय है। दिवा निद्रासे आयु क्षीण होती है और दिवा रतिसे पुण्यनाश होता है। भोजनोत्तर वामपार्श्वमें विश्रामार्थ सोनेके विषयमें लिखा है—

'निद्रायां ये गुणाः प्रोक्तास्ते गुणा नेत्रमीलने'

भोजनोत्तर निद्रा न लेकर केवल आँखें बन्दकर विश्राम करनेसे परिपाकादिमें सुविधा हो सकती है। इस प्रकारसे मध्याह्नोत्तरकाल बिताकर—

'अहःशेषं समासीत शिष्टैरिष्टैश्च बन्धुभिः'

सन्ध्यासे कुछ पहिले भ्रमण तथा आत्मीय जनोंसे सदालाप करके सायंकाल सायंसन्ध्यादिकृत्य करना चाहिये। यही सब संक्षेपसे वर्णित मध्याह्नोत्तर कृत्य है। तदनन्तर सायंकृत्यमें सायं सन्ध्या, इष्टोपासनादि विहित है। सन्ध्या समय निषिद्ध चार कर्म हैं यथा मनुसंहितामें—

चत्वारि खलु कर्म्माणि सन्ध्याकाले विवर्जयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायञ्च चतुर्थकम्॥

सन्ध्या कालमें भोजन, रतिक्रिया, निद्रा और स्वाध्याय निषिद्ध हैं। सायं कृत्यके बाद रात्रि कृत्यमें रात्रिभोजन मुख्य है। गृहस्थको रात्रिभोजन अवश्य करना चाहिये यथा—

'रात्रावभोजनं यस्य क्षीयन्ते तस्य धातवः'

रात्रिमें भोजन न करनेसे मांसादि सप्त धातु क्षीण होते हैं। रात्रिभोजनका काल चार दण्ड रात्रिके बाद तथा एक पहर रात्रिके भीतर है। तदनन्तर शयनादि कृत्य हैं।

अब शयन तथा निद्रादि कृत्यपर विचार किया जाता है।

शरीरके अङ्ग प्रत्यङ्ग और स्नायुओंको विश्रान्ति न देनेसे वह चल नहीं सकता। निद्रावस्थामें उन्हें वैसी विश्रान्ति मिल जाती है, अतः निद्रा प्राणि मात्रके लिये आवश्यक है। पशुपक्षी भी सो जाते हैं। मनुष्योंमें भी परिश्रमके तारतम्यानुसार निद्रामें न्यूनाधिक्य हुआ करता हैं। बच्चे दिन भर खेला कूदा करते हैं, इस कारण उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग और स्नायु बहुत थक जाते हैं। उन्हें अधिक निद्रा लगना स्वाभाविक है। वृद्धावस्थामें दौड़ धूप, परिश्रम और मस्तिष्कके कार्य थोड़े होते हैं, इस कारण वृद्धोंको नींद कम आती है। विद्यार्थी और युवक जैसे परिश्रम करते हैं, वैसी उनको निद्रा भी आती है। साधारणतः छः घण्टा सोनेसे शरीरकी थकावट मिट जाती है। आवश्यकतासे अधिक सोनेसे अधिक निःश्वास व्यर्थ निकल जाते हैं, जिससे आयु क्षीण होती है। अतिनिद्रा भी एक रोग है।

किस प्रकार, किस समय, कैसी शय्यापर, कैसे घरमें सोना चाहिये, इसका भी हमारे शास्त्रोंमें विचार किया गया है। हिन्दुशास्त्रकारोंने दिनमें सोनेका बड़ा निषेध किया है। सो पहले ही कहा गया है। वेदोंमें भी लिखा

है:—'मा दिवा स्वाप्सीः' अर्थात् दिनमें नींद न लो, दिनमें सोनेसे कफ, आलस्य और जड़ता बढ़ती है। एवं आयु क्षीण होती है। पहले कहा गया है कि समस्त ब्रह्माण्डमें सूर्य्य ही प्राणस्वरूप और शक्तिका निधान है इसलिये ब्राह्ममुहूर्तसे लेकर सन्ध्या समय पर्य्यन्त जबतक सूर्य्यशक्ति पृथ्वी पर फैली हो, तबतक निद्रावस्थामें न रहकर जाग्रतभावसे सूर्य्यके साथ सम्पर्क रखना चाहिये। ऐसा करनेसे जीवके क्षुद्र प्राणमें सूर्य्यका महाप्राण सञ्चरित होकर जीव पुष्टप्राण और दीर्घायु हो सकेगा। शास्त्रकारोंने दिनमें और सन्ध्या समयमें सोना इसी विचारसे निषिद्ध माना है। ग्रीष्म ऋतुमें उष्णताधिक्यसे रातभर नींद नहीं आती और दिनमें भी बेचैनी बनी रहती है, इस कारण शास्त्रोंमें आवश्यकतानुसार कभी दिनमें थोड़ा सो ले, तो उसका निषेध नहीं किया है। अन्य ऋतुओमें तो दिवानिद्रा सर्वथा त्याज्य है।

किस दिशाकी ओर सिर करके निद्रा करनी चाहिये, इसका विचार करते हुए शास्त्र कहते हैं,—पूर्व अथवा दक्षिणकी ओर सिर करके सोना प्रशस्त है। इस शास्त्रीय आज्ञामें वैज्ञानिक रहस्य है। समस्त ब्रह्माण्डकी गति ध्रुवकी ओर होनेके कारण और ध्रुवको स्थिति उत्तर दिशामें होनेके कारण ब्रह्माण्डान्तर्गत पृथिवी ग्रहके भीतर जो विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही है, उसकी भी गति दक्षिण दिशासे उत्तरकी ओर है। इसी कारण जहाजके कम्पासके बीचका चुम्बकका काँटा सदा उत्तरकी ओर हीं रहता है। समुद्रमें दिग्ज्ञानका यही काँटा एक मात्र साधन है। यदि हम उत्तरकी ओर सिर करके सो जायँ, तो वह पार्थिव विद्युत् हमारे पैरोंसे होकर सिरकी ओर प्रवाहित होगी, जिससे शिरोव्यथा या ऐसे ही सिरके अन्य रोग उत्पन्न होंगे और स्नायुपुञ्जोंमें अस्वाभाविक उत्तेजना बढ़कर प्रकृति अस्वस्थ हो रहेगी। सब दिन परिश्रम करनेसे स्नायु और मस्तिष्क आप ही दुर्बल हो जाते हैं, तिसपर निद्रावस्थामें विद्युत्तेज यदि उलटा ग्रहण किया जाय, तो शरीर अधिक अस्वस्थ होगा इसमें सन्देह ही क्या है? यदि दक्षिणकी ओर सिर करके सोवे, तो विद्युत सिरसे पैरोंकी ओर जायगी, जो स्वाभाविक है। इससे किसी प्रकारकी पीड़ा होनेकी सम्भावना नहीं है। पश्चिमकी ओर सिर करके सोनेसे भी वही हानि है, जो उत्तरकी ओर सिर करके सोनेसे, क्योंकि जिस प्रकार पार्थिव विद्युत् दक्षिणसे उत्तरकी ओर प्रवाहित होती है, उसी प्रकार सूर्यदेवकी प्राणमयी विद्युत् शक्ति भी पूर्वसे पश्चिमकी ओर प्रवाहित होती है।

उपर्युक्त विज्ञानानुसार पश्चिमकी ओर सिर करके सोनेसे भी मस्तिष्क और स्नायुमण्डलमें पीड़ा उत्पन्न होगी, अतः पूर्व या दक्षिण सिर सोना ही उचित है। आर्यशास्त्रोंमें उत्तर अथवा पूर्वाभिमुख बैठकर पूजा पाठ, ध्यानधारणा आदि देवकार्य करनेका आदेश है, इसका कारण भी यही है कि, सौर और पार्थिव विद्युत् शक्तिका सम्बन्ध शरीरके साथ बना रहे जिससे शरीर शक्ति सम्पन्न हो।

एक बिछौनेपर अनेक लोगोंका सोना या पास पास आमने सामने सोना आरोग्यकारक नहीं है, इससे एककी नाकसे निकसे हुए श्वांस दूसरेकी नाकमें प्रविष्ट हो अनेक रोग उत्पन्न करते हैं। आर्यशास्त्रोंमें माथेके निकट जलपूर्ण घट रखकर सोनेकी विधि लिखी है यथाः—

माङ्गल्यं पूर्णकुम्भञ्च शिरःस्थाने निधापयेत्।

पश्चिमी विज्ञानवेत्ता भी इस विधिसे सहमत हैं। उनका कथन है कि, बन्द घरमें एक भरा घड़ा रखनेसे उस घरमें जो दूषित गैस होती है वह उस घड़ेके जलमें मिल जानेसे घरका वायु विशुद्ध हो जाती है। ऐसा रक्खा हुआ जल दूषित हो जाता है, अतः वह पीना न चाहिये। पीनेका जल कोठरीके बाहर रक्खा जाय। शयनगृहमें वायु और प्रकाशकी कमी न रहे, नहीं तो रोग उत्पन्न होंगे। निद्राके समय वायु या प्रकाश अधिक भी न रहे; क्योंकि निद्रा तमोगुणका कार्य है। तमोगुण अन्धकारमय होता है, अतः अन्धकारमें ही गाढ़ निद्रा हो सकती है। निद्रावस्थामें शरीरके वस्त्र कुछ शिथिल हो जाते हैं। सीधी वायु यदि शरारमें लगे तो पीड़ा होना सम्भव है, अतः बिछौनेसे वह खिड़की जिससे वायु आती हो कुछ दूर होनी चाहिये। निद्राके स्थानमें मिट्टीके तेलका या गैसका दीपक अथवा पत्थरके कोयलेकी अग्नि नहीं रखनी चाहिये। कभी कभी पत्थरके कोयलेकी अग्निसे उत्पन्न हुई गैससे मनुष्य मर भी जाते हैं। शयनगृहमें पत्र पुष्प और खाद्य द्रव्य भी न रखने चाहिये। उससे नाना प्रकारकी गन्ध निकल कर और चिउँटियाँ, मक्खियाँ, मच्छड़ आदि बढ़कर निद्रामें बाधा पड़ती है। शास्त्रमें शय्यादिके विषयमें निम्नलिखित आज्ञाएँ :—

न विशालं न वै भग्नां नासमां मलिनां न च।
न च जन्तुमयीं शय्यामधिगच्छेदनास्तृताम्॥

न शुक्रेणापवित्रे च न तृणे न च भूतले।
तुलिकायां तथा वस्त्रे शय्याभावे स्वपेद्द गृही ॥
स्वपेन्न पट्टवस्त्रे च कलङ्किकम्बले न च।
नार्द्रवासा न नग्नश्च नोत्तरापरमस्तकः ॥
धान्यगोविप्रदेवानां गुरूणां च तथोपरि।
न चापि भग्नशयने नाशुचौ नाशुचिः स्वयम् ॥
शुचौ देशे विविक्तेषु गोमयेनोपलिप्तके।
प्रागुदक्प्लवने चैव संविशेत्तु सदा बुधः ॥
त्रिदोषशमनी खट्वा तुली वातकफापहा।
भूशय्या वृंहणी वृष्या काष्ठपट्टि तु वातुला ॥

छोटे, टुटे, विषम, मलिन, जन्तुमय, आस्तरणशून्य, शुक्रशोणितादिसे अपवित्र शय्यापर नहीं सोना चाहिये। तृणपर, खाली जमीनपर, पट्ट वस्त्रपर, या मलिन कम्बलपर; आर्द्रवस्त्र होकर, नग्न होकर, उत्तर तथा पश्चिम शिर होकर नहीं सोना चाहिये। शय्याभावसे रूई या रूईके वस्त्रपर सो सकते हैं। पलंग, खटिया या चौकीपर सोना त्रिदोषनाशक हैं। कपासकी शय्या वात और कफ नाशक है, भूशय्यासे शरीर स्थूल तथा बलवृद्धि होती है। केवल काष्ठपर सोनेसे वायुवृद्धि होती है। सुशय्यापर सोना तृप्ति, पुष्टि और निद्राप्रद, श्रम और वायुनाशक एवं बलवर्द्धक है। अधिक कोमल शय्यापर सोना न चाहिये, उससे ब्रह्मचर्य रक्षामें बाधा होती है। ब्रह्मचर्य्य रक्षाके हेतु भूमिशायी होना ही शास्त्रानुमोदित है। अपवित्र बिछौनेपर स्वयं अपवित्र होकर अथवा टूटी खटियापर सोना निषिद्ध है। गोबरसे लीपे हुए और सूखे स्थानमें शयन करना चाहिये, धान्य, गौ, ब्राह्मण और देवता जहां हों, उसके ऊपरकी भूमिपर तथा गुरुजन जहाँ सोये हों उसके ऊपरके स्थानमें सोना अनुचित है। आर्यशास्त्रमें परदाररतिकी बड़ी निन्दा की गई है। यथा मनु—

न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसर्पणम् ॥
तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥

परदार संसर्गसे जितना शीघ्र आयु क्षय होता है, इतना और किसीसे नहीं।

इस लिये बुद्धिमान्, विचारवान्, स्वास्थ्य तथा दीर्घायु चाहने वाले पुरुषको कदापि परदारसेवी नहीं होना चाहिये। और भी विष्णुपुराणमें—

मृतो नरकमभ्येति हीयेतात्रापि चायुषः।
परदाररतिः पुंसामुभयत्र भयप्रदा॥
आसनं वसनं शय्या दारापत्यं कमण्डलुः।
आत्मनः शुचिरेतानि न परेषां कदाचन॥

परदार रतिसे इहलोकमें आयुः क्षय और परलोकमें नरक होता है, अतः वह सर्वथा परित्याज्य है। आसन, वस्त्र, शय्या, स्त्री, अपत्य और जलपात्र ये सब अपने ही अच्छे तथा सेवनीय होते हैं, दूसरेके नहीं सेवन करने चाहिये। स्वदारसेवाके विषयमें विस्तारित विधि आश्रम-धर्म नामक अध्यायमें पहले ही बताई गयी है। अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। शयनके पहिले श्रीभगवान्का स्मरणकर उन्हींका गुणानुवाद करते करते सो जाना चाहिये। ऐसा करनेसे सुखनिद्रा होती है और सुस्वप्न देख पड़ते हैं। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें सदाचाररूपसे प्रतिपालन करने योग्य आह्निक कृत्य बताये गये हैं, जिनके नियमित अनुष्ठान द्वारा मनुष्य निश्चय ही स्वास्थ्य, आयु तथा उन्नत धर्मके अधिकारी हो सकते हैं।

सदाचारपालनके विषयमें प्रातःकालसे शयनकालपर्य्यन्त जितनी विधियाँ ऊपर बतायी गयी हैं, उन पर मनन करनेसे स्पष्ट विदित होगा कि, सदाचारके अन्यान्य उद्देश्योंमेंसे व्यष्टि प्रकृतिको समष्टि प्रकृतिके साथ सामञ्जस्यानुसार मिलाये रखना भी एक प्रधान उद्देश्य है। सदाचारपालनसे जो स्वास्थ्य तथा दीर्घायुलाभ होता है, उसके भी मूलमें महाप्रकृतिके साथ मिलन ही प्रधान कारणस्वरूप है।

क्या हमने कभी वनके पशु या पक्षियोंको रोगग्रस्त अवस्थामें देखा है? वनके पक्षी वर्षाकालमें पानीसे बचनेके लिये न कभी सिरपर छाता लगाते और न शीतकालमें शीत-निवाणार्ण ऊनी कपड़े पहिनते या शाल दुशाले ही ओढ़ते हैं; फिर उन्हें रोग क्यों नहीं होते? वनके हरिण, व्याघ्र, सिंह आदि पशु वर्षा, शिशिर और ग्रीष्म ऋतुमें निरन्तर अनावृत रहते हैं; परन्तु कभी रुग्ण नहीं होते; इसका कारण क्या है? माताकी सन्तान माताकी ही गोदमें रहनेसे, माताकी प्रेमभरी करुणदृष्टि उसपर सदा बनी रहनेसे, मातृशक्तिकी

अमृतधारामें अवगाहन कर परितुष्ट होना सीख लेनेसे, उसे संसारमें कोई कष्ट सहन करना नहीं पड़ता। चिर जीवन उस आनन्दमयीमें अर्पण करनेसे वह आनन्दमें ही कट जाता है। जिसने हमें जन्म दिया, वह तो हमारी माता है ही, किन्तु जो सबकी जननी है, वही सर्वत्र विराजमान रहती है। उसका हास्य पुष्पोंके हास्यमें विकसित होता है, उसकी प्रेमधारा गंगाकी धारामें प्रवाहित होती है, उसकी करुणा चन्द्रकलामें प्रकाशित होती है। वही सर्वव्यापिनी माता महाप्रकृति है। उसीकी गोदमें हम और हमारे माता-पिता आदि सभी प्रतिपालित हुए हैं। वनके पशु पक्षि भी उसी महाप्रकृतिके अंकस्थ हैं। हमारी तरह वे महाप्रकृतिकी सन्तान अवश्य हैं, परन्तु उन्होंने अस्वाभाविक आचरण कर अबतक माताकी गोद छोड़ी नहीं है। वे प्रकृति-मातापर निर्भर रहना जानते हैं। महाप्रकृति छः ऋतुओंमें छः भावोंकी जो अपूर्व माधुरीका विकाश करती है, उसको अनावृतशरीर होकर भरपूर ग्रहण करना वे सीख चुके हैं। वे अपनी देहके साथ ऋतुशक्तिको पूर्णतया मिला लेते हैं, सब ऋतुओंके वेगको सह लेते हैं। इसीसे वे स्वभावतः द्वन्द्वसहिष्णु और शीत ग्रीष्म वर्षामें एकरूप होते हैं और उन्हें कभी रोगग्रस्त होना नहीं पड़ता। वचपनसे ही सब ऋतुओंके वेगको सहन करनेका अभ्यास करना, संसारमें नीरोग बने रहनेका प्रधान उपाय है। जो सदा सरदी या जलसे बचे रहनेको चेष्टा करते हैं, उन्हें थोड़ी सरदी लगने या वृष्टिमें कुछ भी ऋतुविपर्यय होनेसे नाना प्रकारके रोग हो जाते, किन्तु जिन्हें बचपनसे ऋतुतारतम्य और परिवर्तनमें उसके वेगको सहन करनेका अभ्यास है, उन्हें ऋतुओंके हेरफेरके समय कोई रोग नहीं होता। हम स्वभावतः देखते हैं कि, हमारे मुखकी त्वचा, शरीरके अन्यान्य अंगोंकी त्वचाकी अपेक्षा अधिक उज्वल और लाल रहती है इसका कारण यह है कि, हम अपने अन्यान्य अंग प्रत्यङ्गों-की तरह मुखको निरन्तर ढांके हुए नहीं रखते। मुखको हम सदा खुला रखते हैं, इससे उसकी त्वचा अन्य अङ्गोंकी अपेक्षा कोमल रहनेपर भी उसमें ऋतुओंके वेगको सहन करनेको शक्ति अधिक रहती है। इसी तरह बाल्यकालसे सब अङ्गोंको द्वन्द्वसहिष्णु बनाया जाय, तो शरीर स्वस्थ रह सकता है। माताके साथ विरोध कर सन्तान कभी सुखी नहीं रहती। माताकी छातीसे चिपककर प्राणप्रदायिनी मातृस्तन्यधाराका पान करनेसे ही सन्तान चिर अमरता प्राप्त कर सकती है। यही कारण है कि, दूरदर्शी महर्षिगणने प्राचीन

कालमें ब्रह्मचर्य्याश्रमकी सृष्टि को और उस आश्रममें बालपनसे ही बालकोंको नाना प्रकारसे महाप्रकृतिमें मिला देनेकी व्यवस्था की है। शारीरिक नानाविध तपःसाधन करना, शीत ग्रीष्मादिके वेगको सहन करनेके लिये उन्हें अनावृतअङ्ग, अनावृतपद और अनावृतमस्तक रखना, अग्निमें नित्य होम, सूर्योपस्थान, पुष्पचयन इत्यादि कार्य्य उनपर सौंपना, ये सब उपाय महाप्रकृतिके साथ मिलन करनेके ही हैं। पृथ्वीमें जो विद्युत्शक्ति है, उसके साथ पार्थिव जीवशरीरका नैसर्गिक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध शिशुकालसे ही खाली पैर रहनेका अभ्यास कर अटूट रक्खा जाय, तो पार्थिव विद्युत-परिपुष्ट मनुष्य अवश्य ही सबलकाय और नीरोग रहेगा। इसी तरह छाता के द्वारा सूयतेजका सम्बन्ध न रोककर यदि शरीर और मस्तकपर धूप सहन करनेका अभ्यास किया जाय, तो सूर्यसे आनेवाली प्राणशक्ति प्राप्त होगी, जिससे शरीर स्वस्थ और बलिष्ठ रहेगा। मनु-संहितामें इसोलिये ब्रह्मचारीको उपानच्छत्रधारण करना निषिद्ध बताया है। इसी प्रकार गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रममें भो जितने आचार बताये गये हैं, सभीके मूलमें महाप्रकृतिके साथ सामञ्जस्यका विज्ञान रक्खा गया है। कालप्रभावसे ये सब स्वास्थ्य-सम्बन्धीय नैसर्गिक विधियाँ लुप्तप्राय हो गयी हैं। इसीसे आजकलके मनुष्य प्रायः रुग्ण रहकर समस्त जीवन दुःखमें काटते हैं। उनका यौवन, वार्धक्य सभी रोगमय रहता है और उनकी सन्तान भी रुग्ण और दुर्बल होती है। अतः बचपनसे महाप्रकृतिके साथ मिलना सीखना चाहिये, जिससे माताका प्रेम और माताका प्राण प्राप्त होकर जीवन आनन्दमें बीतेगा। शिक्षाके अभावसे और सम्मानके अनुरोधसे आजकल माता-पिता अनेक वार उक्त तथ्यका अनुसरण नहीं करने पाते। धनी माता-पिताके बच्चे प्रकृतिमाताकी गोदमें रहते हुए 'बड़े बापके बड़े बेटे' बन जाते हैं। उनके हाथ पैर होते हुए भी माता-पिता उन्हें पङ्गु बना देते हैं। उनमें चलनेकी शक्ति नहीं, गाड़ी चाहिये, थोड़ा बोझ उठानेको शक्ति नहीं, मजदूर चाहिये, अपना काम करनेको शक्ति नहीं, नौकर चाहिये, सारांश, जो सबके लिये सहल, वह उनके लिये कष्टकर और जो स्वाभाविक, वह उन्हें लज्जाजनक बोध होता है वह सरल शिशु, महाप्रकृतिके आदरका धन, धुलिधूसरित होकर माताकी छातीपर लोटपोट करता, धूप, पानी और हवाका मनमाना सेवन करता और निर्लज्ज नग्न होकर तांडवनृत्य करता हुआ अपने शरीर मन और प्राणको परिपुष्ट बनाता रहता है; परन्तु धनी

माता-पिता धनके मदसे कृत्रिम लोकलज्जाके अनुसार सङ्कोचके वशीभूत होकर महाप्रकृतिके उस सरल शिशुको बाल्यजीवनके सरल सुखसे वञ्चित रखकर चिर-दु:खी और चिररोगी बना देते हैं। बच्चेको जूता, कुरता, मोजा, पजामा, आदि पहिरा देनेसे उसे इस बनठनके लिये अकारण सावधानता रखनी पड़ती है। उसका वह फुल्लहृदय माताके साथ मिल नहीं सकता। उसका जीवन बचपनसे ही कृत्रि-मतामय हो जाता है। 'यह कण्ड़ा फटा, धूलसे यह कुरता मैला हो गया, पेड़पर चढ़ने—कबड्डी खेलनेसे धोती फट गई, कपड़ेमें कहांसे स्याहीके दाग लगा आया, इत्यादि तिरस्कारयुक्त ताड़नासे उसके बाल्यकालोचित सब खेल ही नष्ट कर दिये जाते हैं। थोड़ा जाड़ा पड़ते ही आपादमस्तक गरम कपड़ोंसे उसे आवृत कर उसके जीवनको 'किम्भूत किमाकार' बना दिया जाता है। यह सब आचारका आत्याचार है। इन सब अज्ञानमय अत्याचारोंसे बालकोंको बचाना चाहिये। ऐसा करनेसे आनन्दमय शिशु, आनन्दमयीके साथ अकृत्रिमभावसे मिलकर अपने शैशवकालको सुखमय, यौवनकालको जीवनसंग्राममें विजयी और वार्धक्यको मुनिवृत्तिके योग्य बनानेमें स्वाभाविकरूपसे समर्थ होगे और महाप्रकृतिके मधुर मिलनसे मधुमय आध्यात्मिक जीवन लाभ कर निरधन्य हो सकेंगे। महाप्रकृतिकी स्वाभाविक गति ब्रह्मकी ओर है। जीव अपने अहङ्कारसे व्यष्टि प्रकृतिको महाप्रकृतिसे पृथक् करके ही बन्धनप्राप्त तथा रोगग्रस्त हो जाता है। सदाचार जीवकी व्यष्टि प्रकृतिको धीरे-धीरे समष्टि प्रकृतिके साथ मिला देता है। इसलिये सदाचार धर्म है। और इसी धर्मके पालन द्वारा स्थूल शरीरकी स्वास्थ्यसिद्धिके साथ ही साथ जीवके सूक्ष्म शरीर भी आध्यात्मिक उन्नतिको अवश्य ही लाभ करते हैं, जिसका अन्तिम परिणाम व्यष्टि प्रकृतिका महाप्रकृतिमें मिलकर ब्रह्मसमुद्रमें विलीन हो जाना है।

सदाचारकी विधियोंमें महाप्रकृतिके साथ मधुर मिलनसम्बन्ध रहनेके कारण ही सदाचारकी समस्त विधियां विज्ञानशास्त्र (Science) की सम्पूर्ण अनुकूल हैं, क्योंकि जो शास्त्र महाप्रकृतिके नैसर्गिक नियमोंको (Law of nature) बताता है उसीको विज्ञान शास्त्र कहते हैं। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, हमारे चतुराश्रम धर्मकी तरह वर्ण-धर्मके भीतर भी विज्ञानशास्त्रानुकूल ही समस्त विधियोंका निर्देश किया गया है। आर्य्यशास्त्रमें जो चार वर्णके पृथक्-पृथक् पंक्ति भोजन बतलाये गये हैं अथवा अन्य जातिके साथ एक पक्तिमें भोजनका निषेध किया गया है, इसका

कारण गूढ़विज्ञानात्मक है। आजकल जो ऐसा समझते हैं कि, उच्च वर्णके लोग घृणा भावके कारण निम्नवर्णके साथ भोजनादि व्यवहार नहीं रखते हैं, वे सर्वथा भ्रान्त हैं। क्योंकि जिस आर्य शास्त्रमें भोजनसे पहले घरपर आये हुए चण्डालको भी विना जाति पूछे नारायण समझकर भोजन करानेके बाद तब स्वयं भोजन करना हरेक गृहस्थके लिये परम-पवित्र अवश्य अनुष्ठेय नृयज्ञरूपसे बताया गया है, उस आर्यशास्त्रमें वर्णधर्मकी प्रतिष्ठा घृणा या द्वेषपर नहीं हो सकती है। इसके मूलमें गूढ़ विज्ञान है सो यह है। प्रत्येक नर नारीमें अपने-अपने वर्णके अनुसार पृथक्-पृथक् शक्ति होती है। वह शक्ति स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंमें व्याप्त रहती हैं। इस शक्तिके पृथक् बनाये रखनेसे ही प्रत्येक वर्ण अपने जातिगत संस्कारके अनुसार अपने वर्णमें पूर्ण उन्नति लाभ कर सकता है। अन्यथा एक शक्तिके साथ अन्य शक्तिका संघर्ष होनेसे दोनों ही शक्ति दुर्बल होकर कोई भी पूर्णोन्नति नहीं कर पाती। यही कारण है कि योगी तपस्वी महात्मा या सन्यासीको गुरु आसन भोजन आदि पृथक् रखनेकी आज्ञा देते हैं। क्योंकि योगी योग द्वारा जो शक्ति लाभ करते हैं उसके पृथक्रूपसे संचित रखनेपर ही उस शक्तिकी सहायतासे समय-पर दूसरेके आत्मा तथा शरीरादिका कल्याण योगी कर सकते हैं। नहीं तो जहां-जहां अपनी शक्तिका हीनशक्ति या पृथक् गुणमयी शक्तिके साथ संघर्ष या सम्मेलन द्वारा योगीकी शक्ति बिगड़ जाती है, वहां पुनः उस शक्तिके द्वारा एतादृश जगत्-कल्याण नहीं हो सकता है। उसी प्रकार ब्राह्मण वर्णमें जो नैसर्गिक शक्ति है, सो ज्ञान प्रधान तपोमूलक है, ब्राह्मणके लिये धनसंग्रह धर्म नहीं है, तपोधन होना ही धर्म है, अपमानका प्रतिशोध न लेकर सहनशील तथा क्षमाशील होना ही धर्म है। किन्तु वैश्यवर्णमें वाणिज्यादि द्वारा प्रचुर धनसंग्रह करना धर्म है, क्षत्रियवर्णमें अपमान सहन न करके शत्रुके प्रति हिंसा करना धर्म है और शूद्र वर्णमें कलाकौशलमें उन्नत होकर देश तथा जातिको स्थूल सुख पहुँचाना धर्म है। इस कारण ब्राह्मण यदि अपनी जातिमें रोटी बेटीका सम्बन्ध न करके वैश्य क्षत्रियादिके साथ करेगा, तो वैश्यके साथ मिलनेसे धन लालसा बढ़ जायगी, जिससे ब्राह्मण तपोधन, ज्ञानधन होकर जगत्को आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर ले जानेमें असमर्थ हो जायगें, क्षत्रियके साथ अधिक मिलनेसे क्षमा, दया, आदि वृत्तिको खोकर जिघांसादि क्षत्रिय-वृत्तियां बलवती हो जायंगी, अन्य पक्षमें वैश्यादि भी ब्राह्मणके साथ इस प्रकार मिलनेके कारण वाणिज्य आदिमें रतिको भूलकर अकिञ्चन बनते जायंगे, जिससे देश भिखारियों-

से भर जायंगा। क्षत्रिय क्षमाशील ब्राह्मणोंसे मिलकर देशके लिये शत्रुसे लड़ना ही भूल जायंगे, जिससे देश विदेशीके हाथमें चला जायगा, शूद्र भी ब्राह्मणसे अधिक मिलकर कला कौशलमें पारदर्शिताका अभिमान भूल जायंगे। इस प्रकार शक्ति-संघर्ष द्वारा नैसर्गिक कर्मोंमें बहुत ही रूपान्तर होकर कोई भी वर्ण अपनी जातिगत उन्नतिको पूर्णतया सिद्ध नहीं कर सकेंगे, आर्य जातिके भीतर न पूरे ब्राह्मण ही मिलेंगे, न पूरे क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र ही रहेंगे। सभी जातियां कर्त्तव्यभ्रष्ट होकर दीन दशाग्रस्त हो जायँगी, यही कारण है कि प्रत्येक वर्णको अपनी नैसर्गिक जातिगत संस्कार तथा मौलिक शक्तिको पुष्ट तथा पूर्ण बनाकर अपनी जातिमें आदर्श पुरुष (Specialist) बनानेके लिये ही दूरदर्शी पूज्यचरण महर्षियोंने दैनन्दिन सदाचारके भीतर पंक्तिभोजन तथा विवाहादि विधियोंका वर्ण बिभेदानुसार पृथक्-पृथक् होना ही ठीक है, ऐसा अनुशासन बताया है। अतः यही सिद्धान्त विज्ञानानुकूल स्थिरीकृत हुआ कि, चार वर्णमें पृथक्-पृथक् पंक्तिभोजन तथा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापन घृणा या द्वेषजन्य नहीं है, प्रत्युत अपने अपने वर्णमें पूर्ण पुरूष बनकर समाज देश तथा जातिको सर्वाङ्गीण पुष्टि साधन करना ही इसका लक्ष्य है। इसी प्रकार अन्यान्य आचारोंके मूलमें भी विज्ञानकी दृढ़ भित्ति देखी जा सकती है। दृष्टान्तरूपसे नीचे कुछ आचारके उल्लेख किये जाते हैं।

शास्त्रमें लिखा है—'पञ्चार्द्रो भोजनं कुर्यात्' अर्थात् हाथ, पांव और मुख धोकर तब भोजन करना चाहिये। इसके सिवाय 'एकवस्त्रो न भुञ्जीत' एक वस्त्र होकर भोजन नहीं करना चाहिये, किन्तु रेशमी उत्तरीयके द्वारा शरीर आवृत करके भोजन करना चाहिये ऐसा भी लिखा है। इस प्रकार आचार बतानेका तात्पर्य यह है कि, भोजनके समय पाकयन्त्रमें क्रिया उत्पन्न होकर जो शक्तिका उद्भव होता है, उसके शरीरमें ही बने रहनेसे परिपाक-क्रिया अच्छी होती है। हाथ पांव आदि शक्ति निकल जानेके स्थान हैं। इसलिये इन सबके आर्द्र करनेसे तथा वस्त्र ओढ़े रहनेसे भीतरकी गर्मी तथा शक्ति भीतर ही बनी रहती है। बाहरके साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता है, जिससे परिपाक-क्रिया अच्छी होकर स्वास्थ्य रक्षा और आयु वृद्धि होती है, यही कारण है कि, श्रीभगवान् मनुजीने—'आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्' अर्थात् आर्द्र पाद होकर भोजन करनेसे दीर्घायु लाभ होता है ऐसा लिखा है। उसी प्रकार—

'न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः'

दोनों हाथोसे सिर खुजलाना नहीं चाहिये, ऐसा जो मनु महाराजने लिखा है उसका भी तात्पर्य यह है कि, हाथ तथा सिर और केश सभी वैद्युतिक शक्तिके प्रवेश तथा निर्गमके स्थान हैं। इसलिये इनको एक साथ मिलाकर घर्षणके द्वारा शक्तिक्षयकी आशङ्का रहती है और भी मनुजीने लिखा है कि—

'उपानहो च वस्त्रं च धृतमन्यैर्न धारयेत्'

जुते या वस्त्र दूसरेके पहने हुए नहीं पहनने चाहिये। शरीरकी सारी व्याधि स्वेद आदिके द्वारा जुते तथा वस्त्रमें सक्रामित होती हैं। इस कारण दूसरेके पहने हुए इन सबको व्यवहारमें नहीं लाना चाहिये, और भी—

'नक्षत्राणि न निर्दिशेत्'

वृक्षपरके फल या नक्षत्रोंको अँगुलिसे निर्देश नहीं करना चाहिये। क्योंकि अँगुलिके द्वारा विद्युत् शक्तिका प्रवेश तथा निर्गम होता है। इसका फल यह होगा कि, वृक्षका कच्चा फल अपने शरीरसे निर्गत विद्युत् शक्तिके तेज जल जायगा, पकेगा नहीं और नक्षत्रमें अधिक वैद्युतिक शक्ति होनेसे अपनी शक्ति आकृष्ट हो जायगी, जिससे अपनेमें दुर्बलता हो जायगी। वृद्ध तथा पूज्योंसे शक्तिसंग्रह करनेके विषयमें श्रीभगवान् मनुने कहा है—

ऊर्द्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति युनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपादयेत्॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य बर्द्धन्त आयुर्विद्यायशोबलम्॥

स्वल्पशक्ति मनुष्यके पास अधिक शक्तिसम्पन्न गुरु आदिके आनेसे स्वल्पशक्ति मनुष्यका प्राण ऊपरकी ओर उछलने लगता है। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि गुरुशक्ति सदा ही लघुशक्तिको आकर्षण करती है। इस कारण गुरुके सामने आनेसे शिष्यको या आचार्यके सामने आनेसे विद्यार्थीको अथवा किसी पूज्य पुरुषके सामने आनेसे कनिष्ठका कर्तव्य है कि, उसके सामने कभी बैठा न रहे। क्योंकि बैठे रहनेसे पूज्य पुरुष खड़े रह कर उसकी शक्तिको अधिक आकर्षण करेंगे। यदि लघुशक्ति शिष्यादि भी खड़ा हो जायगा, तो दोनोंके खड़े होनेपर कथञ्चित् शक्तिसामाञ्जस्य (Parallelism of Force) द्वारा कनिष्ठकी शक्ति अधिक आकृष्ट नहीं होगी। तदनन्तर प्रणामविधिके अनुसार दक्षिण हस्तसे गुरुका

दक्षिण चरण, वाम हस्तसे गुरुका वाम चरण स्पर्श तथा सिर उनके चरणोंके बीचमें रखनेसे अपनी शक्तिहीनताके बदले गुरुकी ही शक्ति प्रणाम द्वारा शिष्यके भीतर आ जायगी। जिससे गुरुमें जो आयु, विद्या, यश और बल, ये चार वस्तु अधिक है, सो शिष्यको अनायास प्राप्त हो जायगी। यही श्रीभगवान् मनु कथित प्रणामकी महिमा है। इस प्रकारसे आचाराध्यायमें मनु आदि महर्षियोंने जितने प्रकारके नियमोंके विधान किये हैं, सभीके मूलमें वैज्ञानिक तथ्य निहित हैं, जिनके धीर बुद्धिसे विचार करनेपर अवश्य ही विचारवान्, श्रद्धावान् पुरुष अनुभव कर सकते हैं। यही आर्यशास्त्र वर्णित सदाचारका कथञ्चित् दिग्दर्शन है, जिसके प्रथम धर्म तथा परमधर्मरूपसे पालन करनेपर अवश्य ही आर्यजाति अपनी जातीयता तथा आर्य-नामको अक्षुण्ण रख कर परमकल्याणकी अधिकारिणी बन सकेगी, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

सप्तम काण्डकी प्रथम शाखा समाप्त हुई।



षोड़श संस्कार।



आर्य शास्त्रमें अस्वाभाविक संस्कार द्वारा बन्धन तथा स्वाभाविक संस्कार द्वारा मोक्ष माना गया है। प्रकृत विषय 'षोड़श संस्कार' इसी स्वाभाविक संस्कारके ही अन्तर्गत है। षोड़श कलापुष्ट चन्द्रदेवकी पूर्णताके सदृश स्वाभाविक षोड़श संस्कार द्वारा पूर्णता लाभ करके जीव जीवत्व परिहार द्वारा ब्रह्मत्व पदपर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। इसी कारण आर्य शास्त्रमें संस्कारोंकी भूरि भूरि प्रशंसा की गई है। महर्षि अश्वलायनने लिखा है—

अतः परं द्विजातीनां संस्कृतिर्नियतोच्यते।
संस्काररहिता ये तु तेषां जन्म निरर्थकम्॥

द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंके लिये नियत संस्कारोंके अनुष्ठान न करनेसे द्विज-जन्मग्रहण निरर्थक होता है। महर्षि अङ्गिराने कहा है—

स्वे स्वे गृह्ये यथा प्रोक्तास्तथा संस्कृतयोऽखिलाः।
कर्त्तव्या भूतिकामेन नान्यथा सिद्धिमृच्छति॥

अभ्युदय चाहनेवाले द्विजगणको स्वकीय गृहविधिके अनुसार संस्कारोंका आचरण अवश्य करना चाहिये, अन्यथा सिद्धिलाभ नहीं होता है। और भी—

चित्रं क्रमाद् यथानेकैरंगैरून्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

लेखनीके बार बार फेरनेसे जिस प्रकार चित्र सर्वाङ्ग सम्पूर्ण होता है, उसी प्रकार विधिपूर्वक संस्कारोंके अनुष्ठान द्वारा ब्राह्मण गुण विकसित होता है। श्रीभगवान् मनुजीने कहा—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥
गार्भैर्होमैर्जातिकर्म चौड़मौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चनो द्विजानामपमृज्यते॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

वेदोक्त गर्भाधानादि पुण्यकर्म द्वारा द्विजगणका शरीरसंस्कार करना चाहिये, जो कि इहलोक तथा परलोकमें पवित्रकारी है। गर्भ-समयके तीनों संस्कारोंमें तथा जातकर्म, चूड़ाकर्म और उपनयनादि संस्कारोंमें अनुष्ठित होमोंसे बीज तथा गर्भवासजन्य प्राप्त अपवित्रता नष्ट हो जाती है और वेदमन्त्रोंके प्रभावसे अन्तःकरणमें शुभ संस्कारोंका उदय होता है। वेदारम्भ संस्कार द्वारा प्राप्त वेदोंके स्वाध्याय, व्रत तथा होमोंसे, त्रयी विद्याके ज्ञानसे, यागानुष्ठानसे, विवाह द्वारा सन्तानोत्पत्तिसे और पञ्च महायज्ञ तथा अग्निष्टोमादि यज्ञोंसे द्विजशरीर ब्रह्मप्राप्तियोग्य बनाया जाता है। इस प्रकार संस्कारोंका साधारण फल मन्वादि स्मृतिकारोंने बताया है। इनके पृथक्-पृथक् फल स्मृति संग्रहमें विशेष रूपसे बताये गये हैं। यथा—

निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकञ्चापमृज्यते।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम्॥
गर्भाद् भवेच्चपुंसूतेः पुंस्त्वस्य प्रतिपादनम्।
निषेकफलवज्ज्ञेयं फलं सीमन्तकर्मणः॥

गर्भाम्बुपानजो दोषो जातात् सर्वोऽपि नश्यति।
आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा॥
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः।
सूर्यावलोकनादायुरभिवृद्धिर्भवेद् ध्रुवा॥

निष्क्रमादायुःश्रीवृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः।
अन्नाशनान्मातृगर्भमलाशादपि शुध्यति॥
बलायुर्वर्चोवृद्धिश्च चूड़ाकर्मफलं स्मृतम्।
उपनीतेः फलं त्वेतद् द्विजतासिद्धि पूर्विका॥

वेदाधीत्यधिकारस्य सिद्धिर्ऋषिभिरीरिता।
पत्न्यासहाग्निहोत्रादि तस्य स्वर्गः फलं स्फुटम्॥
ब्राह्माद्युद्वाहसम्भूतः पितॄणां तारकः सुतः।
विवाहस्य फलं त्वेतद् व्याख्यातं परमर्षिभिः॥

गर्भाधान संस्कारसे बीज तथा गर्भ सम्बन्धीय समस्त मलिनता नष्ट हो जाती है और क्षेत्ररूपी स्त्रीका संस्कार भी इसका फल है। गर्भके अनन्तर कन्या-शरीर न बनकर पुत्रशरीर बनना पुंसवन संस्कारका फल है। सीमान्तोन्नयन और गर्भाधानका फल एक ही प्रकार है। गर्भमें माताके आहार रसके पीनेका सब दोष जातकर्म संस्कारसे नष्ट हो जाता है। आयु तथा तेजकी वृद्धि और नाम व्यवहारकी सिद्धि नामकरण संस्कारका फल है। निष्क्रमणमें सूर्यनारायणका समन्त्रक दर्शन करनेसे आयुकी वृद्धि होती है और इस संस्कार द्वारा आयु तथा लक्ष्मीकी भी वृद्धि मानी गई है। माताके गर्भमें मलिनता भक्षणका जो दोष लगता है वह अन्नप्राशन द्वारा शुद्ध-हो जाता है। बल, आयु और तेजकी वृद्धि होना चूड़ाकर्म संस्कारका फल है। द्विजत्वसिद्धिपूर्वक वेदाध्ययनका अधिकारी होना उपनयनका फल है। विवाहके अनन्तर सपत्नीक अग्निहोत्रादि यागानुष्ठान द्वारा स्वर्गलाभ होता है और ब्राह्मादि उत्तम विवाहके फलसे सुपुत्र उत्पन्न होकर पितरोंका त्राण करता है यह सब विवाहका फल है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें संस्कारोंकी परममहिमा बताई गई है।

इस प्रकार संस्कारकार्यमें अधिकार किसका है ?

इस प्रश्नके उत्तरमें महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा है—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकादिश्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥

चार वर्णोंमेंसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन द्विज कहलाते हैं। गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त समस्त क्रिया इनकी वैदिकविधिसे समन्त्रक होती है। शूद्रवर्णकी समस्त क्रिया अमन्त्रक होती है। यथा यमसंहितामें—

शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः।

शूद्रवर्णके भी ये सब संस्कार बिना वैदिक मन्त्रके होने चाहिये। वेदमें अधिकार न होनेके कारण उनके लिये केवल उपनयन संस्कारका निषेध है।

संस्कार कितने हैं, इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें मतभेद पाये जाते हैं। कहींपर ४० संस्कार, कहींपर २५ और कहीं १६ संस्कार बताये गये हैं। गौतम-स्मृतिमें ४० संस्कारोंका वर्णन है यथा—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जात-कर्म नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, चारों वेदानुसार चार वेदारम्भ, केशान्त, समावर्त्तन, विवाह, पञ्चमहायज्ञ, अष्टकाश्राद्ध, पार्वणश्राद्ध, श्रावणी कर्म, आग्रहायणी कर्म, चैत्री कर्म, आश्वयुजी कर्म, अग्न्याधेय या श्रौताधान

कर्म, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास याग, चातुर्मास्य याग, आग्रयण, निरूढ़ पशुयाग, सौत्रामणी याग, अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम, उपाकर्म, उत्सर्ग और पितृमेध। इनमेंसे पञ्चमहायज्ञादि सात कर्म पकाये हुए अन्नसे होनेके कारण पाकयज्ञ कहलाते हैं। अग्न्याधेयादि सात कर्म दुग्ध, घृत तथा पुरोडाशादि हवियोंसे होनेके कारण हविर्यज्ञ कहलाते हैं और अग्निष्टोम आदि सात कर्म सोमलतासे होनेके कारण सप्त सोमयाग कहलाते हैं। इस प्रकारके महर्षि गौतमजीने ४० संस्कारोंके वर्णन किये हैं। महर्षि अङ्गिराने इनमेंसे छांट-छुटकर २५ संस्कारोंका वर्णन किया है। उनमें चौथा विष्णुवलिकर्म है, केशान्तको छोड़कर विवाहतक गौतमोक्त संस्कारोंके तुल्य हैं, पाकयज्ञोंमें चैत्रीकर्मको छोड़कर पूर्वोक्त पञ्चमहायज्ञादि छः लिये हैं। हविर्यज्ञोंमेंसे छः एक आग्रयण, दो उपाकर्म और उत्सर्ग ये सब पचीस संस्कार कहाते हैं, इनमें हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ सभी छूटे हैं। एक आग्रयणेष्टि जो लिया है वह गृह्यसूत्रोक्त नवान्नेष्टि है। इससे श्रौतकर्म सभी छूटे हैं। येही महर्षि अङ्गिरोक्त २५ संस्कार हैं। इसी प्रकार व्यासस्मृतिमें १६ संस्कार कहे गये हैं। यथा—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडशस्मृताः।
नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जंक्रियाः स्त्रियः।
विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश॥

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह, आवसथ्याधान और श्रौताधान ये सोलह संस्कार हैं। इनमेंसे कर्णवेधपर्यन्त नौ संस्कार द्विजकन्याओंके वेदमन्त्र छोड़ स्मार्तमन्त्रोंसे होने चाहिये और दशम अर्थात् विवाह संस्कार वेदमन्त्रोंसे होना चाहिये। कर्णवेधपर्यन्त नौ और दसवाँ विवाह ये दस संस्कार शूद्रोंके वेदमन्त्र छोड़ केवल स्मार्तमन्त्रसे होने चाहिये। किन्तु इस प्रकार षोडश संस्कारके विषयमें भी महर्षियोंके मतभेद हैं। यथा महर्षि भरद्वाजने कर्ममीमांसाके सूत्रोंमें लिखा है—

आधानम्, पुंसवनम्, सीमन्तोन्नयनम् ।
जातकर्म, नामकरणम्, अन्नप्राशनम्, चौलम्, उपनयनम् ॥
ब्रह्मव्रतम्, वेदव्रतम्, समावर्त्तनम्, उद्वाहः ।
अग्न्याधानम्, दीक्षा, महाव्रतम्, सन्न्यासः ॥

येही मीमांसादर्शनके अनुसार षोड़श संस्कार हैं। इनमें प्रथम ८ संस्कार प्रवृत्ति सम्बन्धीय और दूसरे ८ संस्कार निवृत्ति सम्बन्धीय हैं। क्योंकि श्रीभगवान् मनुजीने 'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' इत्यादि शब्दोंके द्वारा संस्कारका लक्ष्य जीवशरीरको ब्रह्मत्वलाभ योग्य बनाना कहा है और यह ब्रह्मत्वप्राप्ति 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इत्यादि वेदमन्त्रोंके द्वारा निवृत्तिकी पराकाष्ठामें ही होना सम्भव है, इस कारण मीमांसादर्शनोक्त षोड़श संस्कारविभाग जो कि, प्रवृत्तिनिरोध और निवृत्ति पोषणके विचारसे किया गया है वही जीवात्माकी पूर्णता प्राप्तिके लिये समीचीन जान पड़ता है। और इसी कारण प्रकृत प्रबन्धमें मीमांसादर्शनीय सिद्धान्तके अनुसार ही षोड़श संस्कारोंका दिग्दर्शन कराया जायगा। इनमें महाव्रत, संन्यास आदि परमनिवृत्तिमूलक कुछ संस्कारोंके वर्णन होनेसे द्विजोंमेंसे पूर्णनिवृत्तिमें जिन वर्णोंका अधिकार है उन्हींके लिये इनकी उपयोगिता समझनी चाहिये। अब नीचे षोड़श संस्कारोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है—

(१) प्रथम संस्कारका नाम गर्भाधान है। इसके उद्देश्यके विषयमें पहले ही कहा गया है कि गर्भस्थ बालकके बीज तथा गर्भ वासादि जन्म मलिनताकी निवृत्ति तथा क्षेत्रशुद्धिविधान इसका उद्देश्य है। इसके सिवाय गर्भाधान संस्कारका और एक अतिमहान् उद्देश्य है। सन्तान पिता-माताके आत्मा, हृदय तथा शरीरसे उत्पन्न होती है, इसका कारण पिता-माताके स्थूल सूक्ष्म शरीरमें जो दोष होंगे, सन्तानमें भी वे दोष अवश्य संक्रमित होंगे। इसी तथ्यको निश्चित करके गर्भग्रहण योग्यता तथा उपयुक्त कालके निर्णयपूर्वक सन्तानके जन्मके समय पिता-माताका मन या शरीर जिससे पशुभाव युक्त न होकर सात्त्विक देवभावके द्वारा भावित हो सके इसी लिये गर्भाधान संस्कारका शास्त्रीय विधान हैं। श्रीभगवान्ने भी गीतामें कहा है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ !

मनुष्योंमें धर्मसे अविरुद्ध काम श्रीभगवान्की विभूति है, क्योंकि उसी पुण्यमयी शक्ति द्वारा संसारमें कुल जाति-देश तथा जगदुद्धारकारी विभूतिका

प्राक्टय होता है। पिता-माता यदि धर्मभावसे भावित होकर केवल धार्मिक प्रजोत्पत्तिके लक्ष्यसे कामक्रियाका अनुष्ठान करेंगे तभी वह काम धर्माविरुद्ध होगा और उसीसे ऐसी सुसन्तानकी उत्पत्ति होगी। गर्भाधान क्रियाके समय पिता-माताके चित्तमें जिस प्रकार भावका उदय होता है, सन्तानका स्थूल सूक्ष्म सभी शरीर उसी भावसे गठित्त हो जाता है। कामभावके द्वारा कामुक सन्तान उत्पन्न होती है, वीरभाव, वीरविभूतियोंका स्मरण तथा वीरताधिष्ठात्री देवता-ओंके चिन्तन द्वारा वीर सन्तान उत्पन्न होती है, धर्माधिष्ठात्री देवताके चिन्तन द्वारा धार्मिक सन्तान उत्पन्न होती है, बलाधिष्ठात्री देवताके चिन्तन द्वारा वली-यान् सन्तान उत्पन्न होती है, इत्यादि। इसी कारण आर्य शास्त्रका सिद्धान्त है कि, पिता-माता गर्भाधानके समय अपनेको देवभावसे भावित करें, पति अपनेको प्रजापतिका अंश समझे, पत्नी अपनेको वसुमतीकी रूप समझें और देवताओंका चिन्तनपूर्वक गर्भाधान कृत्यको करें। सो किस विधिसे करना होता है, नीचे संक्षेपसे बताया जाता है।

आश्रमधर्म नामक पूर्ववर्त्ती अध्यायमें पहले ही कहा गया है कि, स्त्रीके ऋतु-स्नानोनन्तर युग्म दिनमें गर्भाधानसे पुत्र तथा अयुग्म दिनमें गर्भाधानसे कन्याकी उत्पत्ति होती है। तदनुसार ज्योतिष शास्त्रकी सहायतासे शुभ नक्षत्रादि युक्त शुभ दिन देखकर चौथे, छठें, आठवें आदि युग्म दिनोंमेंसे किसी दिनमें पुत्र प्रार्थीको तथा पाँचवें, सातवें आदि अयुग्म दिनोंमेंसे किसी दिनमें कन्या प्रार्थीको गर्भाधान करना चाहिये। इसके पूर्वाह्न कृत्यमें प्रथमतः आचमन प्राणायामादिपूर्वक सङ्कल्प-मन्त्रके द्वारा सुसन्तानोत्पत्तिके लिये तथा बीज और गर्भदोष निवृत्तिके लिये सङ्कल्प करना और सूर्यास्तके समय सूर्यनारायणका दर्शन करना पतिका कर्तव्य होता है। मध्याह्नके बाद गणेशपूजन, स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन, मातृकापूजन, नान्दीश्राद्ध और वृद्धिश्राद्ध करने होते हैं। गणेश पूजनादि सिद्धिसूचक माङ्गलिक कार्य है। वंशवृद्धिके साथ गर्भाधान संस्कारका सम्बन्ध रहनेसे वंशप्रवर्त्तक नित्यनैमित्तिक पितरोंका इसमें स्वतः सम्बन्ध है। वे सब पितर नान्दीमुख कहलाते हैं। इस कारण उनके सम्बर्द्धनार्थ नान्दीश्राद्ध तथा वृद्धिसूचक वृद्धिश्राद्ध करने योग्य हैं। तदनन्तर—

ॐ आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्। परिवृङ्ग्धि हरसामाऽभिमंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः (शु. य. १३-४१) इस

मन्त्रको पढ़कर पति-पत्नी सूर्यदर्शन तथा सूर्यप्रणाम करें। तत्पश्चात् सायं-काल सन्ध्योपासनादिके बाद भोजनोत्तर एक प्रहर रात्रि बीत जानेपर पति-पत्नी दोनों शुद्ध वस्त्र पहनकर प्रदीपसे आलोकित शयनागारमें प्रवेश करें। वहाँ पूर्वसिर शयनको हुई पत्नीके नाभिदेशमें दक्षिण हस्त रखकर उत्तराभिमुख पति निम्नलिखित मन्त्रका पाठ करें। यथा—

ॐ पूषा भगं सविता मे ददातु रुद्रः कल्पयतु ललामगुम्। ॐ विष्णु र्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। (ऋ. अ ८ अ. २; व, ४२)

पोषणकारी सूर्य तथा रुद्रदेव योनियोंकी कल्पना करें। विष्णु गर्भ-ग्रहण स्थानको प्रदान करें, देवशिल्पी त्वष्टा रूप संमिश्रण करें। अव्यर्थ सिञ्चन-कारी प्रजापति सिञ्चन करें। विधाता गर्भ संगठन करें। तदनन्तर पति पूर्वाभिमुख बैठकर पत्नीकी ओर देखते हुए निम्नलिखित मन्त्रको पढ़े—

ॐ गर्भं धेहि सिनीवालि! गर्भं धेहि पृथुष्टुके! गर्भंते अश्विनी देवावा-धत्तां पुष्करस्रजौ। तेजो वैश्वानरो दद्यादयन्ब्रह्मानुमन्त्रयेत्। ब्रह्मा गर्भं दधातु ते॥

चन्द्रकलाकी अधिष्ठात्री देवी सिनीवाली गर्भाधान करें, सरस्वतीदेवी गर्भाधान करें, कमलमाली अश्विनीकुमार द्वय जिनके अधिष्ठानसे सन्तान सर्वथा देवकृपा-सम्पन्न-, विनीत, सत्वगुण युक्त तथा सम्पत्तिसम्पन्न होती है-गर्भाधान करें, वैश्वानर तेजो-दान करें, ब्रह्मा अनुमन्त्रित करें तथा गर्भदान करें। तदन्तर शुक्ल यजुर्वेदोक्त—'ॐ गायत्रेणत्वाछन्दसा मन्थामि' और 'ॐ रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियं' इत्यादि मन्त्र पढ़कर संयोगकी आज्ञा है। संयोगानन्तर—

ॐ यत्तेसुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम्॥ इस मन्त्रोको पढ़-कर बैठी हुई पत्नीके हृदयदेशको स्पर्श करना चाहिये। और ऐसा ही हृदयस्पर्श प्रत्येक ऋतुसमागममें करना होता है। तदन्तर "मैं इस गर्भाधान कार्यकी पूर्तिके लिये यथाशक्ति ब्राह्मणभोजन कराऊँगा, इससे कर्माङ्ग देवता प्रसन्न होवें" ऐसा संकल्प करके ब्राह्मणोंको दक्षिणा देकर उनसे आशीर्वाद ग्रहण पूर्वक 'यान्तु मातृ-गणाः सर्वे' इस प्रकार मन्त्र पढ़कर षोडशमातृका विसर्जन करें। यही संक्षेपसे गर्भा-धान संस्कारका वर्णन है।

(२) द्वितीय संस्कारका नाम पुंसवन है। यह संस्कार तथा परवर्ती सीमन्तोन्नयन संस्कार गर्भरक्षाके लिये उपयोगी हैं । इस कारण गर्भावस्था-में ही ये दो संस्कार किये जाते हैं। मानवी गर्भके विनष्ट होनेके दो समय अतिप्रबल होते हैं, यथा गर्भधारणके अनन्तर तीसरे महिनेसे लेकर चौथे महीनेके बीचमें और दूसरा छठे महीनेसे लेकर आठवें महीनेके बीचमें। अतः इन दोनों समयोंमें विशेष सावधानताके साथ गर्भिणीकी गर्भरक्षाकी आवश्य-कता होती है । इसीलिये शिशुके गर्भमें रहते समय इन दोनों संस्कारोंका विधान हैं। पुंसवन संस्कार सीमन्तोन्नयनसे पहले किया जाता है । इसका समय गर्भ ग्रहणसे तीसरे महीनेके दस दिनके भीतर है। पुंसवनका अर्थ है, पुरुष सन्तानको उत्पन्न करना। गर्भाशयमें स्थित गर्भसे पुत्र होगा या कन्या होगी, इसका निश्चय चौथे महीने तक नहीं होता; क्योंकि साधारणतः चौथे महीनेके पहले स्त्री या पुरुषका चिह्न नहीं होता। इस कारण स्त्री या पुरुषका चिह्न प्रकट होनेसे पहले पुंसवन संस्कारका विधान है । साधारणतः सभी देशकी स्त्रियां कन्याकी अपेक्षा पुत्रका अधिक गौरव करती हैं, विशेषतः भारत-की स्त्रियां पुत्रसन्तानकी बहुत ही इच्छा करती हैं, इस कारण पितरोंके तृप्त्यर्थं वृद्धि श्राद्ध तथा मांगलिक हवनादि समाप्त करके जब पति मन्त्रपाठ-पूर्वक गर्भिणीसे कहता है कि—"मित्रावरुण नामक दोनों देवता पुरुष हैं, अश्विनीकुमार नामक दोनों देवता पुरुष हैं, और अग्नि वायु ये भी दोनों पुरुष हैं, तुम्हारे गर्भमें भी पुरुषका आविर्भाव हुआ है" तब गर्भिणीका हृदय आनन्द-से प्रफुल्लित हो उठता है। इस आनन्दसे उस समयका अत्यन्त वमन आदिसे उत्पन्न अवसाद और भीति तथा आलस्य आदिसे उत्पन्न विषाद मिट जाता है । पुंसवनमें वटाङ्कुर रसादिको गर्भिणीकी नासिकामें लगाकर सुंघानेकी जो व्यवस्था है, उससे योनिदोष-नाश तथा गर्भरक्षाकी शक्ति प्राप्त होती है। ऐसा सुश्रुतादि आयुर्वेद शास्त्रमें बताया गया है । अब पुंसवन संस्कारकी विधि बताई जाती है। यह संस्कार पत्नीका न होकर जब गर्भका संस्कार है, तो प्रति गर्भकालमें यह करने योग्य है। पुष्य, पुनर्वसु, मृगशिरा, हस्त, मूल, और श्रवण इनमेंसे किसी नक्षत्रसे युक्त चन्द्रमा हो, उस दिन गर्भिणी स्त्रीको उपवास, स्नान, कराके नये शुद्ध दो वस्त्र पहना कर पूर्वाभिमुख उपवेशन करावें और तदनन्तर स्नानशुद्ध पुरुष आचमन प्राणायामादि करता हुआ यह सङ्कल्प पढ़े कि, "मैं मेरी इस पत्नीके उत्पन्न होनेवाले गर्भके बीज और गर्भ सम्बन्धीय

मलिनतादि दोषोंकी निवृत्तिके लिये तथा पुरुषसन्तानोत्पत्ति और परमात्माकी प्रीतिके अर्थ यह पुंसवन कर्मको करूँगा और उसकी निर्विघ्न समाप्तिके हेतु गणपति-पूजन, स्वस्तिपुण्याहवाचन तथा नान्दीश्राद्ध करूँगा।" ऐसा संकल्प करके गणपतिपूजनादिके अनन्तर पुण्याहवाचनकी समाप्तिमें 'प्रजापतिः प्रीयताम्' ऐसा कहें। तत्पश्चात् रात्रिमें बट वृक्षकी जटा, बटशाखाङ्कुर, कुशाका अग्रभाग और सोमलता (अभावमें गुर्च या ब्राह्मी) इनको ठण्डे जलसे पीस छान कर निकाले हुए रसको पत्नीके दहिने नासाच्छिद्रमें निम्नलिखित मन्त्रको पढ़ते हुए देवें—

ओं हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
ओं अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥

यदि वीर्यवान् पुत्रकी अभिलाषा हो, तो पत्नीके अङ्कमें जलसे भरे मट्टीके पात्रको धरके पति अपनी अनामिकाके अग्रभागसे पत्नीके उदरको स्पर्श करता हुआ—

ओं सुपर्णोऽसि गरुत्मां स्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ।
स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नामते तनूर्वामदेव्यं—
यज्ञा यज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं
गच्छ स्वः पत। शु० य० अ० १२–४

इस मन्त्रको पढ़े। तत्पश्चात् कर्माङ्गपूर्त्तिके लिये दस ब्राह्मण भोजनका संकल्प करके ब्राह्मणोंको दक्षिणा देकर उनसे आशीर्वाद लेकर यान्तु 'मातृगणाः सर्वे' ऐसा कहकर मातृगणका विसर्जन करें। यही संक्षेपसे पुंसवन संस्कार-विधि है।

(३) तृतीय संस्कारका नाम सीमन्तोन्नयन है। इसका भी प्रयोजन गर्भ-रक्षा करना है। कोई कोई आचार्य इसे गर्भस्थबालकका संस्कार मानकर प्रति गर्भमें करनेकी आज्ञा देते हैं। किन्तु पारस्कराचार्यके मतानुसार प्रथम गर्भमें करना ही यथेष्ट है। महर्षि देवल तथा हारीतकी भी यही राय है। गर्भ-ग्रहणके बाद छठे या आठवें महीनेमें यह संस्कार किया जाता है। इसमें मुख्य कृत्य गर्भिणीके सीमन्तको उखाड़ देता है। सीमन्तके कुछ केश उखाड़

देनेके बाद गर्भिणी स्त्रीको शृङ्गार या सुगन्धादि सेवन नहीं करना चाहिये और पुष्पमाल्यादि धारण तथा पतिसहवास भी नहीं करना चाहिये।

अन्यान्य संस्कारोंमें करणीय पूर्वकृत्योंकी तरह इस संस्कारमें भी संकल्प, स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन, गणेशपूजन, वृद्धिश्राद्ध आदि किये जाते हैं। इसके सिवाय मण्डप बनाकर वेदिमें पञ्चभूसंस्कारपूर्वक बहुत कुछ कृत्य करनेकी विधि है। तदनन्तर सीमन्तोन्नयन कार्य किया जाता है। उसमें देवदारुके पट्टपर कोमल आसन बिछाकर प्रथमतः गर्भिणीको बैठाना होता है। तदनन्तर दो फल और सुवर्णसे युक्त उदुम्बर शाखा, तेरह तेरह कुशोंकी तीन पिञ्जुली, तीन स्थानमें श्वेतसहीका एक कांटा, पीत सूतसे युक्त एक लौह तकुआ और तीक्ष्णाग्रप्रादेश परिमित एक अश्वत्थ शङ्कु—इन पांच वस्तुओंको एकत्रित करके उसके द्वारा पति पत्नीके केशोंका विनयन अर्थात् दाहिने बायें दोनों ओर केशोंको—

'ओं भूर्भुवः सुवः राकामहं सुहवां सु० मुक्थ्यम्। यास्ते राके रराणा'

इस मन्त्रसे हटाया करें। तदनन्तर—

ॐअयमूर्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव।

अर्थात् ऊर्जस्वल उदुम्बर वृक्षका तरह यह स्त्री भी सन्तानवती होवे ऐसा मन्त्र पढ़कर पत्नीके केशोंके बेणीमें बांध देवे। तदनन्तर वीणावादक दो पुरुष वीणा बजाते हुए—

सोम एव नोराजेमामानुषी प्रजाः।
अविमुक्तचक्रऽआसीरंसतीरे तुभ्यमसौ॥

इस मन्त्रका गान करें। तदनन्तर इस किये हुए सीमन्तोन्नयन संस्कारकी अङ्गपूर्तिके लिये दस ब्राह्मण भोजन कराऊँगा, उससे कर्माङ्ग देवता प्रसन्न हों ऐसा सङ्कल्प करके समागत ब्राह्मणोंका दक्षिणादि द्वारा सत्कारकरणानन्तर मातृकाविसर्जन करना चाहिये। तत्पश्चात् स्रुवाके मूल द्वारा कुण्डोंमेंसे भस्म लेकर 'ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः' इस मन्त्रसे ललाटमें 'कश्यपस्य त्र्यायुषं' इस मन्त्रसे ग्रीवा-देशमें, 'ओं यद्देवेषु त्र्यायुषम्' इस मन्त्रसे दक्षिण बाहुके मूलमें और 'ओं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्' इस मन्त्रसे हृदयमें भस्म लगावें, और इसी क्रमसे गर्भिणीका भी करें। इसके बाद संकल्पानुसार दस ब्राह्मणोंका भोजन करानेसे यह कृत्य समाप्त होता है।

(४) चतुर्थ संस्कारका नाम जातकर्म है। सन्तानके भूमिष्ठ होते ही इसका कृत्य होता है। भूमिष्ठ होनेके १२ घड़ी या सोलह घड़ीके बाद नाड़ीच्छेदन होता है, इस कारण नाड़ीच्छेदनके पहले ही जातकर्मके सब कार्य्य कर लेने चाहिये, क्योंकि नाड़ीच्छेदनके पश्चात् अशौच लगनेपर वैदिक कृत्य करना निषिद्ध है। जातकर्म रात्रिके समय संकल्पात्मक नान्दीश्राद्ध सुवर्णसे ही करना चाहिये। इसमें गणेशपूजन, स्वस्तिपुण्याहवाचन, मातृकापूजन आदि क्रिया पूर्व नियमानुसार ही होती है। इसके सिवाय आयुष्यमन्त्रजप, मेधाजननादि क्रिया विशेष है। प्रथम नाल काटनेसे पहले मेधाजनन संस्कार किया जाता है। उसकी विधि यह है—दहिने हाथकी अनामिका अंगुलिके अग्रभागमें सुवर्ण लगाकर सुवर्णसहित अंगुलीसे मधु और घृत मिलाकर सद्योजात शिशुकी जिह्वामें लगाना होता है। उस समय—ओं भूस्त्वयि दधामि। ओं भुवस्त्वयि दधामि। ओं स्वस्त्वयि दधामि। ओं भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि। यह मन्त्र पढ़ना होता है। इसीको मेधाजनन संस्कार कहा जाता है। विना मेधाके भविष्यत् जीवनमें बालक उन्नति नहीं कर सकेगा, अतः इसमें मेधाके लिये देवताओंसे प्रार्थना है। सुवर्णसे घिसे हुए घृत और मधुको सन्तानकी जिह्वापर लगानेमें अनेक गुण हैं। सुवर्ण वायुदोषको शान्त करता है। मूत्रको साफ करता है और रक्तकी उर्द्ध्वगतिके दोषको शान्त करता है। घृत शरीरमें तापको बढ़ाता है, बलकी रक्षा करता है, और खुलासा दस्त लाता है। मधु मुखमें 'लार' का सञ्चार करता है। पित्तकोषकी क्रियाको बढ़ाता है और कफदोषको दूर करता है। अर्थात् यह क्रिया वायुदोषकी शान्तिका, गलनालिका, उदर और आंतोंके सरस बनानेका, तथा मलमूत्र निकलने और कफके कम करनेकी क्रिया है। प्रसवकी यन्त्रणाके कारण सद्योजात शिशुके रक्तकी गति ऊपरको हो जाती है, उसके शरीरमें कफका दोष अधिक हो जाता है और उसकी आंतोंमें एक प्रकारका काला काला मल सञ्चित रहता है, वही मल न निकलनेसे अनेक प्रकारकी पीड़ाएँ उपजती हैं, इसलिये डाक्टर लोग भी सद्योजात शिशुके लिये मधुमिश्रित रेड़ीके तेलकी व्यवस्था करते हैं। किन्तु सुवर्णसे मधुमिश्रित घृत एरण्डतेलकी अपेक्षा अधिक उपकारी होता है। इसलिये आर्य शास्त्रमें ऐसी व्यवस्था है। इस संस्कारके द्वारा उपपातक अर्थात् पितृ मातृ शरीरज कई एक दोषोंका भी नाश होता है ऐसा आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है।

मेधाजनन क्रियाके अनन्तर आयुष्यकरण क्रिया की जाती है। उसमें शिशुके दक्षिण कर्ण अथवा नाभिके समीप मुख करके—

'ओं अग्निरायुष्मानस वनस्पतिभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुष्मन्तं करोमि।'

इत्यादि आठ मन्त्र तीन वार पढ़कर—

'ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥'

इस मंत्रको तीन वार पढ़ें। तदनन्तर पुत्रकी पूर्ण आयु चाहता हुआ पिता शिशुका हृदय स्पर्श करता हुआ—

'ओं—दिवस्पदि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परिजातवेदाः'

इत्यादि ग्यारह मंत्रोंका पाठ करे। तदनन्तर शिशुकी चारों ओर ब्राह्मणोंको बीठाकर कुछ कृत्य करने होते हैं और शिशुकी माताके द्वारा स्तन्य-पान कालमें कुछ क्रियाएँकी जाती हैं। इन क्रियाओंके करनेपर कुछ आहुति आदि द्वारा जातकर्म संस्कार समाप्त होता है।

(५) पञ्चम संस्कारका नाम नामकरण है। सन्तानके उत्पन्न होनेके अनन्तर दस रात्रियां बीतनेपर उसका नामकरण संस्कार करना होता है। प्रथम दस रात्रि छोड़ देनेका तात्पर्य यह है कि, सूतिका गृहमें जितने शिशु मरते हैं, उनमेंसे अधिकांश प्रमथ दस दिनके भीतर ही मर जाते हैं। नामकरण द्वारा सन्तानके प्रति पिता-माताका अधिक ममत्व उत्पन्न हो जाता है, जिससे सन्तान-वियोगका दुःख भी अधिक लगता है। इसी कारण प्रथम दस दिन छोड़ देनेकी आज्ञा शास्त्रमें की गई है। नाम करणमें—

माङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्, क्षत्रियस्य बलान्वितम्।

अर्थात् ब्राह्मण-शिशुका नाम मङ्गलसूचक क्षत्रियशिशुका नाम बलसूचक, वैश्यशिशुका नाम ऐश्वर्यसूचक आदि जैसा रखना होता है उसका मनुसंहितोक्त प्रमाण पहले ही दिया जा चुका है। अब नाम करणकी संक्षिप्त विधि बताई जाती है।

भद्रा, वैधृति, व्यतीपात, ग्रहण, संक्रान्ति, अमावस्या या श्राद्धके दिन नामकरण नहीं करना चाहिये। यदि जातकमंके समय नान्दीश्राद्ध हो चुका हो, तो नामकरणमें करनेका आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि इन दोनों कृत्योंमें एक ही वार नान्दीश्राद्ध करनेकी विधि है। नामकरण संस्कारमें प्रथम बालक-

का पिता स्नानादि क्रिया सम्पन्न करके यह सङ्कल्प करे कि, "मेरे इस बालकके बीज तथा गर्भवासजन्य मलिनताकी निवृत्तिके अनन्तर आयुवृद्धि तथा परमात्माकी प्रसन्नताके लिये मैं यह नामकरण संस्कार करता हूँ।" तदनन्दर प्रथम गणेशपूजन, स्वस्तिपुण्याहवाचन, मातृकापूजन और नान्दीश्राद्ध क्रमसे करें और पुण्याहवाचनके अन्तमें 'प्रजापतिः प्रीयताम्' कहे। नामकरणका अधिकार प्राप्त करनेके लिये प्रथम तीन ब्राह्मणोंको भोजन कराकर तदनन्तर नामाधिष्ठात्री देवताका विधिवत् पूजन करना होता है। इसमें 'मनोजूति' आदि-मन्त्रोंसे प्रतिष्ठा तथा 'श्रीश्चते' आदि मन्त्रोंसे षोडशोपचार पूजा की जाती है। तदनन्तर दक्षिणकी ओर बैठी हुई माताकी गोदमें स्थित बालकके दक्षिण कर्णके समीप मुख ले जाकर—'हे कुमार !

त्वं नक्षत्रनाम्ना चन्द्रकान्तोऽसि, त्वं व्यवहारनाम्ना भानुदत्तोऽसि'

इस प्रकार पिताके कहनेके बाद ब्राह्मण लोग 'मनोजूति' आदि मन्त्र पाठ कर 'नाम सुप्रतिष्ठितमस्तु' कह कर नामकी सुप्रतिष्ठा करें। तदनन्तर पिता प्रतिनिधि स्वरूप बालकके द्वारा ब्राह्मणोंको अभिवादन करावे। इसके बाद—'वेदोऽसि येन त्वं देव वेद' इत्यादि मन्त्र पढ़कर ब्राह्मणगण बालको आशीर्वाद करें। तदनन्तर नामकर्ता देवता और ब्राह्मणोंको नमस्कार कर दस ब्राह्मण भोजन करावे और उनको दक्षिणा देनेके बाद उनसे आशीर्वाद—लेकर मातृका विसर्जन करें। कहीं कहीं—"तुम कौन हो, तुम्हारीं क्या जाति है ? तुम अमृत हो। हे अमृत ! तुम सूर्यसम्बन्धीय मासमें प्रवेश करो। हे अमृत ! सूर्य तुमको दिनसे दिनमें प्राप्त करावें। पक्ष पूर्ण मासमें प्राप्त करावें। दिन और रात्रि पक्षमें प्राप्त करावें। पक्ष पूर्ण मासमें प्राप्त करावें। मास ऋतुमें प्रवेश करावे। ऋतु सम्वत्सरमें और सम्वत्सर शतवर्षकी सीमातक पहुचावें।" इस प्रकार मन्त्र द्वारा आत्माके अमृतत्व सूचित करनेका विधान भी देखनेमें आता है। यही संक्षेपसे नामकरण संस्कार है।

(६) षष्ठ संस्कारका नाम अन्नप्राशन है। पुत्र हो तो छठे या आठवें महीनेमें और कन्या हो तो पांचवें या सातवें महीनेमें यह संस्कार करना होता है। है। इसके द्वारा खाद्य पदार्थके निर्दिष्ट हो जानेसे अन्नसंकरता दोष निवृत्त हो जाता है। देवल स्मृतिमें भी लिखा है—

षष्ठे मास्यष्टमे वाऽथ पुंसां स्त्रीणां च पञ्चमे।
सप्तमे मासि वा कार्यं नवान्नप्राशनं शुभम्॥

छठे या आठवें महीनेमें पुत्रका और पांचवें या सातवें महीनेमें कन्याका शुभ नवान्नप्राशन कार्य करना चाहिये। इससे मातृगर्भमें मलिनता भक्षणजन्य दोषोंकी निवृत्ति, इन्द्रिय-आयु-बलकी स्थिरता, ब्रह्मवर्चसकी सिद्धि और बीज-गर्भसम्बद्ध मलिनताका नाश होता है। इस कारण अन्नप्राशन संस्कारमें पिताको ऐसा ही संकल्प करना होता है। इसमें निर्विघ्न कृत्यके अर्थ गणेश-पूजनादि तथा पुण्याहवाचनके अन्तमें 'सविता प्रीयताम्' ऐसा कहना होता है। तदनन्तर वेदी निर्माण, पञ्चभू-संस्कार, ब्रह्मावरण आदि यथाविधि करके हवनादि अनेक कृत्य करने होते हैं। अन्तिम हवनका मन्त्र यथा—

ओं देवा जातु विदो जातुं वित्त्वा जातुमित।
मनसस्पत इमं देवयज्ञं स्वाहा वातेधाः स्वाहा॥

तदनन्तर मधुर लवणादि षड्रस तथा उत्तम अन्नपाक करके सुपात्रमें परोस कर स्नानशुद्ध वस्त्राभूषणयुक्त बालकके मुखमें 'ओ अन्नतेऽन्नस्य नोदेह्यनमीवस्य शुष्मिणः' आदि मन्त्र पढ़कर अन्न देना पिताका कर्त्तव्य होता है। 'अन्न ही सकल जीवोंका रक्षक है, अन्नपति सूर्यदेव अन्नदान तथा मंगलदान करें' इत्यादि-इत्यादि भावार्थवोधक मन्त्र भी किसी-किसी मतानुसार पढ़े जाते हैं। तदनन्तर जीविका-परीक्षार्थ निम्नलिखित कार्य करना होता है, जैसा कि महर्षि मार्कण्डेयने कहा है—

देवाग्रतोऽथ विन्यस्य शिल्पभाण्डानि सर्वशः।
अस्त्राणि चैव शस्त्राणि ततः पश्येत्तु लक्षणम्॥
प्रथमं यत् स्पृशेद् बालस्ततो भाण्डं स्वयं तदा।
जीविका तस्य बालस्य तेनैव तु भविष्यति॥

बालकको भूमिपर बैठाकर उसके आगे पुस्तक, शस्त्र, वस्त्रादि शिल्प वस्तु रखना चाहिये। बालक स्वेच्छासे इनमेंसे जो वस्तु प्रथम ग्रहण करेगा, वही उसकी भविष्यत् जीविका होगी—ऐसा जानना चाहिये। तदनन्तर बालकका हाथ मुख धोकर स्वयं आचमन करके फल पुष्पोंसहित घीसे स्रुवाको भर कर खड़ा हो—

ओं मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आजातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः स्वाहा॥

इस मन्त्रसे पूर्णाहुति देनी चाहिये। पुनः बैठकर स्रुवमूलके द्वारा भस्म

लेकर दक्षिण हस्तकी अनामिका द्वारा—'ओं त्र्यायुषम् जमदग्नेः' इस मन्त्रसे ललाटमें, 'ओं कश्यपस्य त्र्यायुषम्' इस मन्त्रसे कण्ठमें, 'ओं यद्देवेषु त्र्यायुषम्' इस मन्त्रसे दक्षिण बाहुके मूलमें और 'ओं—तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्' इस मन्त्रसे हृदयमें भस्म लगावें। और इसी क्रमसे बालकका भी करना चाहिये। तदनन्तर ब्राह्मणोंको दक्षिणा देकर उनसे आशीर्वाद ले, संकल्पपूर्वक दस ब्राह्मणोंको भोजन कराना होता है और इसके बाद मातृका-विसर्जन तथा अग्नि-विसर्जन करनेसे अन्नप्राशन कृत्य समाप्त होता है।

(७) सप्तम संस्कारका नाम चूड़ाकरण है। इसमें अनुष्ठेय प्रधान कार्य शिशुका केशमुण्डन है। गर्भावस्थामें जो केश उत्पन्न होते हैं, उन सबको दूर कर चूड़ाकरणके द्वारा शिशुको शिक्षा तथा संस्कारका पात्र बनाया जाता है। इसी कारण यह कहा गया है कि चूड़ाकरणके द्वारा अपात्रीकरण दोषका निवारण होता है। इसके कालके विषयमें महर्षि वृहस्पतिने कहा है—

तृतीयेऽब्दे शिशोर्गर्भाज्जन्मतो वा विशेषतः।
पञ्चमे सप्तमे वाऽपि स्त्रियाः पुंसोऽथ वा समम्॥

गर्भसे तृतीय वर्षमें अथवा जन्मसे तृतीय वर्षमें तथा पञ्चम या सप्तम वर्षमें चूड़ाकरण कृत्य करना होता है। महर्षि नारदने लिखा है—

जन्मतस्तु तृतीये चेच्छ्रेष्ठमिच्छन्ति पण्डिताः।
पञ्चमे सप्तमे वर्षे जन्मतो मध्यमं भवेत्॥
अधमं गर्भतः स्यात्तु दशमैकादशेऽपि वा॥

जन्मसे तृतीय वर्षमें चूड़ाकरणका पक्ष उत्तम, पञ्चम या सप्तम वर्षका पक्ष मध्यम और गर्भसे दशम या एकादश वर्षका पक्ष अधम है। इन वचनोंके अनुसार यथासम्भव उत्तम पक्षमें ही चूड़ाकरण कार्य करना चाहिये। अब चूड़ाकरणकी संक्षिप्त विधि बताई जाती है।

शुभ मुहूर्त्तमें यज्ञवेदी बनाकर चूड़ाकर्म करना चाहिये। प्रथम माता बालकको स्नान कराकर शुद्ध वस्त्र पहनाके गोदमें लेकर अग्निसे पश्चिमकी ओर बैठे। तदनन्तर सङ्कल्प, गणेशपूजन, पुण्याहवाचन आदिके अन्तमें 'प्रजापतिः प्रीयताम्' कहे। पश्चात् चूड़ाकरणाधिकार सिद्धिके लिये संकल्पपूर्वक तीन ब्राह्मणोंको भोजन कराकर विधिके अनुसार होम करें। इस प्रकारसे हवन तथा अन्यान्य प्राथमिक कृत्य होनेके बाद पूर्वाभिमुख बैठे बालकके

सिरके दक्षिण पश्चिम तथा उत्तरमें तीनों ओर पहिलेसे बांधे हुए वालोंके तीन जूड़ाओंमेंसे दहिने जूड़ाको—

ओं—सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दतु ते तनुम् ।
दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे ॥

इस मन्त्रको पढ़कर घृतादि मिलाये जलसे भिगोवे । तदनन्तर दहिने भागक जूड़ा बांधे केशोंके तीन भाग करें । उन एक एक भागमें तीन तीन स्थानोंमें श्वेत सेहीके कांटेसे प्रथम वालोंको अलग अलग करके तीन भाग करे । तदनन्तर सत्ताइस कुशोंमेंसे तीन कुश लेकर उन कुशोंके अग्रभागको दहिने केशोंके तीन भागोंमेंसे पहिले भागके मूलमें—'ओं ओषधे त्रायस्व' मन्त्र पढ़कर लगावे । तदनन्दर 'ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा माहिंसीः' ।

इस मन्त्रको पढ़कर लोहेका छुरा हाथमें लेकर—'ओं-निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय' ।

इस मन्त्रसे केशोंमें छुरा लगाकर—'ओं-येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् तेन ब्राह्मणो वपतेदमस्यायुष्यं जरदष्टिर्यथावत्'

इस मन्त्रको पढ़कर दहिने केशोंके तीन भागोंमेंसे पश्चिम भागको कुशोंसहित काटे । तदनन्तर सिरके पश्चिम भागके जुड़ामें पूर्ववत् उसी मन्त्रसे केशोंका भिगोना तथा बिना मन्त्र पढ़े सेहीके कांटेसे केशोंका तीन भाग करना, केशोंके मूलमें लगे वालोंसे ढपे तीन कुशोंको रखना, छुराका हाथमें लेना और केशोंमें लगाना उक्त मन्त्रोंसे करे । तदनन्तर उत्तर भागके केशोंके लिये भी पूर्ववत् सब कृत्य करके काटनेके समय—

ओं—येन भूरश्चरा दिवं ज्योक्च पश्चाद्धि सूर्यम् । तेन तेन ते वयामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये ।

इस मन्त्रसे कांटे । पश्चात् इन केशोंको भी कुशसहित गोबरपर धरे जैसा कि, पहिले करना होता है । तदनन्तर शेष और केशोंके लिये भी ऐसे ही करना होता है । तदनन्तर सब सिरको भिगोकर तीन वार प्रक्षिण क्रमसे केशोंके अनुकूल—

ओं—यत् क्षुरेण मज्जयता सुपेशसा वप्त्रा वा वपति केशांश्छिन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषीः ।

इस मन्त्रसे छुरोंको सब ओर घुमाकर 'ॐ अक्षिणवन् परिवप' ऐसा कह कर नाईको छुरा देवे। और नापित कुलधकर्मानुसार शिखा रखकर बाकी सब वाल बनावे। इन केशोंको नये वस्त्रसे लपेट कर बालककी माता दही—दूध-सहित गोबरके पिण्डपर धरे। तदनन्तर पूर्वके तुल्य 'मूर्द्धानं' आदि मन्त्रसे आहुति देकर। श्रुवाद्वारा भस्म ले, दहिने हाथकी, अनामिका अङ्गुलिके अग्रभागसे पूर्वकी तरह 'त्र्यायुषं' आदि मन्त्रोंसे भस्म लगावें और बालकके भी अङ्गोंपर इसी तरहसे पूर्ववत् करे। पश्चात् उन गोबरसहित केशोंको गोशालामें या नदी किनारे या अन्य तालाब आदिके किनारे गाड़ देवें। इसके बाद संस्कार करने वाला पुरुष अपने गुरुको गौका मूल्य दक्षिणा देकर मातृकाविसर्जन-पूर्वक दस ब्राह्मण भोजन करावे। इतनेमें यह कृत्य समाप्त होता है।

(८) अष्टम संस्कारका नाम उपनयन है। द्विजातिके बालक इसी संसारके द्वारा ज्ञानशिक्षाके उद्देश्यसे शिक्षक आचार्यके समीप उपनीत होते हैं, इसलिये इसका नाम उपनयन है। द्विजगण इसी संस्कारके द्वारा द्विजत्व प्राप्त करते हैं, यथा याज्ञवल्क्य स्मृतिमें—

मातुरग्रे विजननं द्वितीयं मौंजिबन्धनात्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंका प्रथम जन्म मातृगर्भसे और द्वितीय जन्म उपनयन संस्कार द्वारा होता है, इसलिये वे द्विज कहलाते हैं। उपनयन कालके विषयमें गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्रमें लिखा है—

'वसन्ते ब्राह्मणं ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम्, गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणं गर्भैकादशे राजन्यं गर्भद्वादशे वैश्यम्।

वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण बालकका, ग्रीष्म ऋतुमें क्षत्रिय बालकका और शरद ऋतुमें वैश्य बालकका उपनयन कराना चाहिये। गर्भसे आठवें वर्षमें ब्राह्मण बालकका, ग्यारहवें वर्षमें क्षत्रियबालकका और बारहवें वर्षमें वैश्य बालकका उपनयन होना चाहिये। शूद्र वर्णका इस संस्कारमें अधिकार नहीं है।

उपनयन अच्छे आचार्यके द्वारा कराना होता है, उसके लक्षण शास्त्रमें निम्नलिखित रूपसे बताये गये हैं, यथा धर्मसूत्रमें—

'यस्माद्धर्मानचिनोति स आचार्यः'।

जिनसे धर्मोपदेश यथा शास्त्र प्राप्त हो वेही आचार्य शब्दवाच्य हैं।

महर्षि बृहस्पतिने भी कहा है—

आचिनोति च शास्त्राणि आधारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्तु तमाचार्यं प्रचक्षते॥

जो वेदादि शास्त्रका उपदेश करें, शिष्यको आचारवान् बनावें तथा स्वयं आचारशील हों उन्हींको आचार्य कहते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने भी कहा है—

उपनीय ददद् वेदमाचार्यः स उदाहृतः।

द्विजबालकका उपनयन कराकर वेदकी शिक्षा देनेवाला आचार्य कहलाता है। इस प्रकार आचार्यपद यदि पिता पितामहादि ग्रहण कर सकें तो अच्छा ही है। यथा वृद्धगर्ग—

पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः।
उपनायेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः॥
पितैवोपनयेत् पुत्रं तदभावे पितुः पिता।
तदभावे पितुर्भ्राता तदभावे तु सोदरः॥

पिता, पितामह, पितृव्य, ज्ञाति या ज्येष्ठभ्राता ये सब श्रेष्ठानुक्रमसे पर-पर उपनेता हो सकते हैं। पिताहीको पुत्रका उपनयन करना चाहिये, उनकी अयोग्यता या अभावमें पितामह कर सकते हैं, उनके अभावमें पितृव्य और उनके भी अभावमें सहोदर ज्येष्ठ भ्राता कर सकते हैं। यदि इनमेंसे कोई भी आचार्य बननेकी योग्यता न रखता हो, तो महर्षि शौनक कहते हैं—

कुमारस्योपनयनं श्रुताभिजनवृत्तवान्।
तपसा धूतनिःशेषपाप्मा कुर्याद्द्विजोत्तमः॥

कुलीन, श्रुतिशास्त्रज्ञ, सदाचारसम्पन्न, तपःप्रभावसे निष्पाप ब्राह्मण द्विजकुमारका उपनयन करा सकते हैं। अब इस प्रकार योग्य ब्राह्मण आचार्य द्वारा उपनयन संस्कार कार्य कैसे अनुष्ठित होना चाहिये उसकी संक्षेप विधि क्रमशः नीचे बतायी जाती है।

उपनयनके पूर्व दिन यजमान तथा यजमान पत्नी बालकके साथ मंगल स्नान करके प्रथमतः संकल्प, गोदान और ब्राह्मण द्वारा गायत्री जप करावे, तदनन्तर गणपतिपूजन, स्वस्तिपुण्याहवाचन, मातृकापूजन और नान्दीश्राद्धादि विधिपूर्वक करने होते हैं। उसके बाद उपनयनके दिन प्रथमतः बालकका क्षौर कर्म कराकर स्नानानन्तर आचार्यके पास लाना होता है। वहाँपर ब्राह्मणोंके द्वारा

'आब्रह्मन्' इत्यादि मन्त्रोंसे आशीर्वाद हो जानेके बाद आचार्य अपनी दक्षिण दिशामें स्थित बालकसे 'ब्रह्मचार्यसानि' इस वाक्यको कहलावे और स्वयं 'ओं येनेन्द्राय वृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम्। तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे।' इस मन्त्रको पढ़कर बालकको कटिसूत्र तथा कौपिनादि वस्त्र पहनावे, ब्राह्मण ब्रह्मचारीको शणके, क्षत्रियको अतसीके, और वैश्यको ऊनके वस्त्र देने होते हैं और वेही वस्त्र ब्रह्मचर्याश्रममें रहते हैं। तदन्दर आचमन कराके आचार्य ओं-इयं-दुरुक्तं परिवाधमाना वर्णं पवित्रं पुनतीम आगात्। इत्यादि मन्त्रसे ब्रह्मचारीके जितने प्रवर हो उतनी गांठवाली मूंज आदिकी मेखलाको ब्रह्मचारीके कटि भागमें प्रदक्षिण क्रमसे तीन बार लपेटकर बांधे और तत्पश्चात् देशाचारानुकूल यज्ञोपवीतका एक-एक जोड़ा और अन्नादि दक्षिणा सहित चौबीस जलपात्र संकल्प करके ब्राह्मणोंको देवे। इसके बाद निम्नलिखित प्रकारसे यज्ञोपवीतका संस्कार करे। प्रथम 'आपोहिष्ठा।' आदि तीन मन्त्रोंसे उपवीत पर जलसेवन करके 'ब्रह्मजज्ञानं' इत्यादि तीन मन्त्र पढ़ता हुआ उसपर अङ्गुष्ठ घुमावे, पुनः नौ तन्तुओंमें ओंकारादि नौ देवताओंका विन्यास करके यज्ञोपवीतको देखता हुआ दस बार 'तत्सवितुः' आदि गायत्री मन्त्र पढ़े, और उपयाम मन्त्र पढ़कर सूर्यनारायणको उपवीत दिखावे। तब आचार्य अपने हाथसे ब्रह्मचारीको यज्ञोपवीत देवे और बालक यज्ञोपवीतको अपने हाथमें लेकर—

ओं—यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनापनह्यामि॥

इस मन्त्रको पढ़कर यज्ञोपवीतको पहने। तत्पश्चात् चीरेदार कपासका वस्त्र 'ओं युवा सुवासाः' आदि मन्त्र पढ़ते हुए यज्ञोपवीतके तुल्य ब्रह्मचारीको धारण कराना होता है। तदनन्तर आचार्य ब्रह्मचारीको ऊपरसे ओढ़नेके लिये मृगचर्म देवे और—

'ओं मित्रस्य चक्षुर्धरुणं वलीयस्तेजो यशस्विस्थविरं समिद्धम् अनाहनस्य वसनं जरिष्णु परीदं वाज्यजिनं दधेऽहम्॥'

इस मन्त्रसे ब्राह्मणादिके बालक मृग आदिके चर्मको धारण करे। तदनन्तर आचार्य ब्रह्मचारीको विल्व या पलाशादिका दण्ड देवे और वह ब्रह्मचारी

'ओं यो मे दण्ड:' इत्यादि मन्त्रको पढ़कर आचार्यके हाथसे दण्डको लेवे। दण्ड लेनेके बाद आचार्य अपनी अञ्जलिको जलसे भरकर ब्रह्मचारीकी अञ्जलीको उसी जलसे 'आपोहिष्ठा' आदि तीन मन्त्रोंसे तीन बार भरे और आचार्यके पठित प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें शिष्य सूर्यनारायणको अपने अञ्जलिजलसे तीन बार अर्घ देवे। तदनन्तर 'सूर्यमुदीक्षस्व' कहकर आचार्य ब्रह्मचारीको सूर्य देखने को कहे और ब्रह्मचारी—

'ओं—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात्' इत्यादि मन्त्र पढ़ता हुआ सूर्यनारायणका दर्शन करे। तब आचार्य बालकके दहिने कन्धेके ऊपरसे हाथ लेजाकर—

ओं—मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तंतेऽस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

इस मन्त्रसे उसके हृदयका स्पर्श करे। फिर आचार्य बालकके दहिने हाथको अंगुष्ठसहित पकड़कर कहे–को नामासि–और ब्रह्मचारी-अमुकशर्माऽहं भो:—ऐसा प्रत्युत्तर देवे। इसी प्रकार तीन बार दोनों उक्त प्रकारसे कहें। फिर ब्रह्मचारीसे आचार्य कहे—'कस्य ब्रह्मचार्य्यसि' उस पर 'भवत:' ऐसा उत्तर बालक कहे। तब आचार्य—'ओं–इन्द्रस्ये ब्रह्मचार्य्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासौ—इस मन्त्रको पढ़े। मन्त्रके अन्तमें 'आचार्यस्तव देवशर्मन्' इत्यादि प्रकार असौके स्थानमें शर्माद्यन्त ब्रह्मचारीका नाम लेवे। तदनन्तर आचार्य—

ओं—प्रजापतये त्वा परिददामि। ओं—देवाय त्वा सवित्रे परिददामि।

इत्यादि मन्त्रोंसे हाथ जोड़े हुए बालकको पूर्वादि दिशाओंमें उपस्थान करावें, मन्त्रोंको आचार्य स्वयं पढ़ें। पश्चात् कुमार बालक अग्निकी प्रदक्षिणा क्रमसे पर्युक्षण करके आचार्यसे उत्तरमें बैठकर पुष्प चन्दन ताम्बूल और वस्त्रोंको लेकर 'ओं अद्य' इत्यादि मन्त्रसे ब्रह्माका वरण करे और पुष्पादि ब्रह्माके हाथमें देवे। ब्रह्मा पुष्पादिको लेकर 'वृतोऽस्मि' कहे। इसके बाद उपनयन संस्कारमें अनेक कृत्य किये जाते हैं, जो विस्तारभयसे यहाँपर नहीं दिया गया, वे सब संस्कारसम्बन्धीय ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य हैं। संस्कारकी समाप्ति होनेपर आचार्यके लिये ब्रह्मचारीको—तुम ब्रह्मचारी हो, अबसे तुम वेदोक्त कर्म करनेके अधिकारी हुए हो, तुम स्नान, सन्ध्योपासन, वेदाध्ययन, भिक्षाचर्यादि अपने शास्त्रोक्त कर्म करोगे, तुम दिनमें नहीं सोया करोगे इत्यादि इत्यादि उपदेश देनेका और ब्रह्मचारीके लिये प्रतिज्ञापूर्वक उन सबको स्वीकार करनेका नियम है। इसके बाद आचार्य ब्रह्मचारी-

को सावित्री मन्त्रका उपदेश देते हैं। इसमें आचार्य प्रथमावृत्तिमें प्रणव और व्याहृतियोंसहित एक एक पादका उपदेश करते हैं। द्वितीयावृत्तिमें ऊपर लिखे अनुसार प्रथम आधी ऋचाके साथ प्रणव व्याहृति लगाकर कहलावे, द्वितीयतः ऐसे ही तृतीयपादका उच्चारण करावे और तृतीयावृत्तिमें प्रणव व्याहृतियोंसहित पूरे मन्त्रका उच्चारण आचार्य करावे, शिष्य साथ साथ कहता जावे। ऐसा तीन बार कहलाकर आचार्य और शिष्य दोनों–'ओं स्वस्तिः' कहें। इसके अनन्तर कुछ हवनादि कृत्य किये जाते हैं। और सबके अन्तमें प्रथमतः ईश्वर, देवता, वैश्वानर तथा सूर्यनारायणको अभिवादन करके पश्चात् आचार्यको और तदनन्तर क्रमशः माता-पिता तथा अन्यान्य मान्य स्त्री-पुरुषोंको अभिवादन करनेकी विधि है। इसके पश्चात् भिक्षापात्र लेकर ब्रह्मचारी ब्राह्मण हो तो 'भवति ! भिक्षां देहि' क्षत्रिय हो तो 'भिक्षां भवति ! देहि' और वैश्य हो तो 'भिक्षां देहि भवति !' ऐसा कह कर गृहस्थ स्त्रियोंसे भिक्षा मांग लावे और आचार्यके आगे उस भिक्षान्नको धरकर उनकी आज्ञानुसार भोजन करे। भोजनकालसे लेकर सूर्यास्त होने तक मौन रहे, उपनयन संस्कार समयके अग्निको ब्रह्मचारी तीन दिन अवश्य रक्खें, बुतने न देवें। यही सब संक्षिप्त उपनयन विधि है।

उपनयन संस्कार बहुत ही गूढ़ रहस्यमय है। इसमें ब्रह्मज्ञानके मूलस्वरूप ब्रह्मचर्यलाभ, सत्यज्ञान तथा सदाचार–लाभ, सत्शिक्षा-लाभ और आध्यात्मिक उन्नतिका सारा तत्त्व भरा हुआ है। नीचे संक्षेपसे इस तत्त्वका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

प्रथम अग्निदेवता, वायुदेवता, सूर्यदेवता, चन्द्रदेवता और इन्द्रदेवतासे सत्य वचन, सत्य सिद्धि, अध्ययन समृद्धि, तथा सदाचार लाभके लिये प्रार्थना और प्रतिज्ञा की जाती है। तदनन्तर आचार्य शिष्यके प्रति दृष्टिपात करते हुए कहते हैं—'हे पञ्चदेव ! तुम इस सुन्दर माणवकको मुझसे मिला दो। हम दोनों विना किसी विघ्नके परस्पर मिल सकें। गुरु शिष्यका सम्मिलित होना ही शिक्षाका प्रथम तथा प्रधान अनुष्ठान है, इस कारण ऐसा विधान है। तदनन्तर माणवक आचार्यसे कहता है– मैं ब्रह्मचारी–अर्थात् मैथुनरहित हुआ हूँ। मुझे उपनीत कीजिये, अपने समीप ग्रहण कीजिये, तदनन्तर दोनों अपने अपने हाथोंमें तृप्तिसूचक जलाञ्जलि भरकर और आचार्य शिष्यको अपने साथ मिलानेके लिये प्रार्थना कर दोनों ही अञ्जलिके जलको एक ही

स्थानमें छोड़ देते हैं। जल जैसे जलके साथ मिल जाता है ऐसा ही मानों गुरु-शिष्यका मिलन हो गया। फिर आचार्य अपने दहिने हाथसे शिष्यके दहिने हाथको पकड़ते हैं। शिष्य समझता है उसके हाथको जगत प्रसविता सूर्य, स्वास्थ विधायक अश्विनी कुमार और पोषणकारी पूषण देवताने ही अपने हाथमें लिया है। ऐसी दशामें आचार्य ही उसके लिये जनक, स्वास्थ्यविधायक और पोषक हैं यह स्पष्ट होगा। फिर आचार्य कहते हैं—'अग्नि, सविता और अर्यमाने पहले ही हस्तधारण कर तुम्हें ग्रहण किया है। अग्निदेव ही तुम्हारे आचार्य हैं, तुम मेरे अति प्रियकारो मित्र हो। इस समय सूर्यके आवर्तनके अनुरूप तुम मेरी प्रदक्षिणा करते हो, शिष्य जब आचार्यकी प्रदक्षिण करके उपस्थित होता है, तब आचार्य उसकी नाभिको स्पर्श कर कहता है—'हे नाभि! तू विस्रष्ट न होना अर्थात् स्थिर रहना। हे अन्तक! इस ब्रह्मचारीको मैंने तुमको सौंपा है। (नाभिके ऊपरी भाग को छूकर) हे वायो! (बाम भागको छूकर) हे सूर्य! (वक्षः स्थलको छूकर) हे अग्नि! (दक्षिण अङ्गको छूकर) हे प्रजापति! यह मेरा मैं तुमको सौंपता हूँ, यह जरा मरणादि किसी दोषको न प्राप्त हो। फिर आचार्य कहते हैं—तुम ब्रह्मचारी हुए हो, हवनके लिये लकड़ी लाओगे, मन्त्रोच्चारणपूर्वक जलपान करोगे, गुरु शुश्रूषा करोगे, दिनमें शयन न करोगे इत्यादि इत्यादि। ब्रह्मचारोको इन सबके पालनको स्वीकार करना होता है। तदनन्तर ब्रह्मचारी—यथार्थ-ब्रह्मचारीका वेषधारण करता है। अर्थात् अङ्गोंके बलय आदि अलङ्कारोंको त्यागकर मेखला, यज्ञोपवीत, अजिन धारण करके गायत्री पाठको ग्रहण करता है। गायत्री पाठके उपरान्त भिक्षाचर्या, गुरुको भिक्षान्न समर्पण और गुरु आज्ञासे स्वयं भोजन आदि कर्तव्य विहित है।

ऊपरके सभी कृत्य गूढ़रहस्यमय हैं। (१) जलमें जल मिलनेकी तरह गुरु शिष्यका मधुमय सम्मिलन कैसा मधुर तथा शिष्यके लिये सर्वोन्नति-प्रद है। (२) गुरुने शिष्यका हाथ पकड़कर कैसे सुन्दररूपसे जनकत्व, स्वास्थ्यविधायकत्व तथा पोषकत्वका परिचय दिया। (३) किन्तु गुरु अपनेमें इन सब अधिकारोंको स्वीकार करने पर भी स्वयं अभिमानी नहीं हुए, शिष्यके यथार्थ गुरु अग्निदेव हैं, सो स्पष्ट कह दिया और शिष्यको अपना प्रियकारी मित्र समझा। गुरुका हृदय शिष्यके प्रति जैसा होना चाहिये अर्थात् मिलनसार, पितृतुल्य तथा निरभिमान मित्रभावापन्न सो ही प्रकट हुआ। तदनन्तर शिष्य

का कर्तव्य जो गुरुका ही आवर्त्तन अथवा अनुवर्त्तन करते रहना है, सो तत्कर्तृक सूर्यावर्त्तन द्वारा प्रकाशित हुआ। और यह भी प्रकाशित हुआ कि, शिष्य जैसे वेदोदय सूर्यके स्थानापन्न है वैसे ही गुरु भी सूर्यके आवर्त्तनीय विश्वमूर्त्ति परमेश्वरके रूप हैं। उसी विश्वरूप गुरुने शिष्यके शरीरमें विश्वके स्थापनमें प्रवृत्त होकर नाभिदेशमें यमको, नाभिके ऊर्द्ध्वभागमें वायुको, वामभागमें सूर्यको, मध्यभागमें अग्निको और दक्षिण भागमें प्रजापतिको स्थापन किया अर्थात् शिष्यके देहमें ही समस्त ब्रह्मदेह हुआ और ऐसा होनेसे ही उपनयन संस्कार पूर्ण हो गया। उसी समय माणवक पूर्ण ब्रह्मचारी हुआ और ब्रह्मचारीका वेष धारण कर शास्त्रविहित अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो गया। जो संस्कार क्षुद्रदेहको विश्वदेह बनाकर जीवत्वको शिवत्वकी ओर ले जानेमें परम सहायक बनता है, वह कितना महान् तथा रहस्यमय है, सो बुद्धिमान्गण अवश्य ही समझ सकेंगे।

शास्त्रमें यज्ञोपवीत निर्माण तथा धारणविधि निम्नलिखित रूपसे बतायी गयी है, यथा—

पृष्ठवंशेचनाभ्यां च धृतं यद्विन्दते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातिलम्बं न चोच्छ्रितम्॥
कार्पासक्षौमगोवालशाणवल्कतृणादिनाम्।
सदा सम्भवतो धार्यमुपवीतं द्विजातिभिः॥
शुचौ देशे शुचिः सूत्रं संहताङ्गुलिमूलके।
आवेष्ट्य षण्णवत्या तत् त्रिगुणीकृत्य यत्नतः॥
अब्लिंगकैस्त्रिभिः सम्यक् प्रक्षाल्योर्ध्ववृतं च तत्॥
अप्रदक्षिणमावृत्तं सावित्र्या त्रिगुणीकृतम्॥
अधः प्रदक्षिणावृत्तं समं स्यान्नवसूत्रकम्।
त्रिरावेष्ट्य दृढं बध्वा ब्रह्मविष्णुशिवान्नमेत्॥
यज्ञोपवीतं परममिति मन्त्रेण धारयेत्।
सूत्रं सलोमकं चेत् स्यात् ततः कृत्वा विलोमकम्॥
सावित्र्या दशकृत्वोऽद्भिर्मन्त्रिताभिस्तदुक्षयेत्॥
विछिन्नं वाप्यधोयातं भुक्त्वा निर्मितमुत्सृजेत्॥
स्तनादूर्द्ध्वमधोनाभेर्न धार्यं तत् कथञ्चन॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानिमन्त्रवत् ॥

बायें कन्धेसे पीछे पीठके बीचसे आगे नाभिस्थलमें धारण किया जो कटि-भागतक पहुँचे ऐसा यज्ञोपवीत पहनना चाहिये, किन्तु इससे अधिक लम्बा या ऊँचा न हो। कपास, अतसी, गौके बाल, शण, वक्कल और तृणादि इनमेंसे जिसका मिलना सम्भव हो, उसीका यज्ञोपवीत द्विजगण बनाकर पहनें, सब मिलें तो कपासका ब्राह्मण, शणका क्षत्रिय और ऊनका वैश्य पहिने। शुद्ध स्थानमें स्वयं शुद्ध हुआ सब अगुलियोंके मूलोंको मिलाकर छानवे बार सूतको लपेटकर तिगुना करके 'आपोहिष्ठा' इत्यादि तीन मन्त्रोंसे उस त्रिगुण सूतका सम्यक प्रक्षालन कर बायीं ओरसे ऊपरको ऐंठे, फिर नौतार करके सावित्रीमन्त्रसे प्रदक्षिण ऐंठे। ऐसे नव सूतके एक डोरेको तिगुनाकर गांठ लगाके उत्पत्ति स्थिति प्रलयकर्त्ता ब्रह्मा विष्णु महेश्वरको नमस्कार करे और तदन्तर 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' मन्त्रसे धारण करें। यज्ञोपवीत सूत्रमें किसीके बाल लग गये हों तो उन बालोंको निकालकर गायत्रीमन्त्रसे जलको पढ़ते हुए दसबार उसका सेचनकर पवित्र करे। टूट गया हो या नाभिसे नीचेके भागमें आगया हो तो यज्ञोपवीत त्यागकर नया बनाया विधिपूर्वक पहिने, स्तनोंसे ऊपर कण्ठाग्रमें अथवा नाभिसे नीचे यज्ञोपवीतको कभी न धारण करे। मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत और कमण्डलु इनके नष्ट भ्रष्ट हो जानेपर ब्रह्मचारी इन्हें जलमें डालकर मन्त्रपूर्वक नूतन मेखलादि धारण करें।

यज्ञोपवीतमें जो नव तन्तु और तीन दण्ड होते हैं, उनके भी अतिगूढ़ तात्पर्य हैं। यथा—

ओंकारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च।
तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवता ॥
पञ्चमे पितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च ॥
सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवताः।
ब्रह्मणोत्पादितं सूत्रं विष्णुना त्रिगुणीकृतम् ॥
रुद्रेण दत्तो ग्रन्थिर्वै सावित्र्या चाभिमन्त्रितम् ॥

यज्ञोपवीतके नौ तन्तुओंमें नौ देवताओंका अधिष्ठान है। उनके नौ पृथक् पृथक् गुणोंके साथ यज्ञोपवीत धारण द्वारा द्विजबालक भूषित हो सकते हैं। प्रथम देवता ओंकार-गुण ब्राह्मज्ञान, द्वितीय देवता अग्नि-गुण तेज, तृतीय देवता अनन्त-गुण धैर्य्य, चतुर्थ देवता चन्द्र-गुण सर्वप्रियता, पञ्चम देवता पितृगण-गुण स्नेहशीलता, षष्ठ देवता प्रजापति-गुण प्रजापालन, सप्तम देवता वायु-गुण बलशालिता, अष्टम देवता सूर्य-गुण प्रकाश और नवम देवता सर्वदेवता-गुण, सात्त्विकता। नवतन्तुयुक्त यज्ञोपवीत धारण द्वारा इन देवताओंका नित्य स्मरण तथा हृदयमें गुणाधान होता है। इसी कारण नवतन्तु धारण विधि है। ब्रह्माने यज्ञसूत्रको बनाया है, विष्णुने त्रिगुणित किया है, रुद्रने ग्रन्थि दी है और सावित्री देवीने अभिमन्त्रित किया है, ग्रन्थि देते समय इनके स्मरण द्वारा भी शक्तिलाभ तथा ज्ञानलाभ होता है। इसके सिवाय तीन दण्डके द्वारा कायदण्ड, वाग्दण्ड और मनोदण्ड, इन तीनों दण्ड अर्थात् संयमकी विधि बतायी गयी है। कायसंयमके द्वारा ब्रह्मचर्य्यधारण, तपस्यादि, वाक्-संयम द्वारा वृथावाक्य या मिथ्यावाक्यपरिहार और मनःसंयम द्वारा विषयोंसे मनको हटाना यही सब यज्ञोपवीतधारी द्विजमात्रका कर्तव्य है। इस प्रकार उपनयनसंस्कार द्वारा द्विजगणको महान् लाभ होते हैं।

(९) उपनयनके बाद नवम संस्कार ब्रह्मव्रत कहलाता है। इसमें उपनीत अर्थात् आचार्य्यगृहमें आचार्यान्तिवासी द्विज ब्रह्मचर्यव्रतको ग्रहण करके ब्रह्म अर्थात् परमात्माके पथमें अग्रसर होनेके लिये प्रतिज्ञा तथा पुरुषार्थ करते हैं, इसी लिये इस संस्कारका नाम ब्रह्मव्रत है। इसमें ब्रह्मचारीका प्रधान कर्तव्य आचार्य्यसेवा तथा ब्रह्मचर्य्य-धारण है। बिना गुरुसेवाके कोई भी विद्या फलीभूत नहीं होती है, इसलिये आर्य्यशास्त्रमें गुरुसेवाकी इतनी महिमा बताई गयी है, यथा सनत् सुजातमें—

आर्य्ययोनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
विहाय देहं परमं यान्ति सत्यम्॥

आचार्यके समीप जाकर उनकी सेवा द्वारा जो ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, वे इहलोकमें सुपण्डित तथा मरणान्तर परम पदको प्राप्त होते हैं। और भी

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत।
आचार्यतस्तु यज्जन्म तत्सत्यम् वै तथामृतम् ॥

पिता-माता केवल स्थूल शरीरको उत्पन्न करते हैं, किन्तु आचार्यके द्वारा जो आध्यात्मिक देह उत्पन्न होता है, वही सत्य तथा अमृत है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में भी कहा है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

परमात्मा तथा गुरुमें जिसकी पूरी भक्ति है, उसीके हृदयमें तत्त्व ज्ञानका स्फुरण हो सकता है। इस प्रकार आचार्यके चरणोमें रहकर जो ब्रह्मव्रत पालन किया जाता है, शास्त्रमें उसके चार पाद कहे गये हैं। यथा सनत सुजातमें—

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥

भीतर-बाहर शुचिता अवलम्बन करके शिष्यवृत्ति द्वारा आचार्यसे ज विद्यार्जन करना है यही ब्रह्मव्रतका प्रथम पाद है।

यथा नित्यं गुरौ वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथा चरेत्।
तत् पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥

गुरुके समान गुरुपत्नी तथा गुरुपुत्रमें भी सद्वृत्तिका पालन करना ब्रह्मव्रतका द्वितीय पाद है।

आचार्येणात्मकृतं विजानन्,
ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः,
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्य्यस्य पादः ॥

आचार्यके द्वारा अपने प्रति उपकारको समझकर तथा उनके द्वारा प्राप्तो वेदविद्यासे अपनेको सम्मानित जानकर, जो हृदयकी हृष्टता और कृतार्थता है, वही ब्रह्मव्रतका तृतीय पाद है।

आचार्याय प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा चतुर्थः पाद उच्यते ॥

प्राण, धन, मन, वाणी तथा कर्मके द्वारा आचार्यका प्रियानुष्ठान ही ब्रह्मव्रतका चतुर्थ पाद है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें ब्रह्मव्रतके चार पाद बताये गये हैं।

ऊपर कथित चार पादोंकी पूर्तिके लिये आर्यशास्त्रमें ब्रह्मव्रतसंस्कारके भीतर उपनीत ब्रह्मचारीके कर्त्तव्यरूपसे अनेक उपदेश किये गये हैं। अब नीचे उनमेंसे कुछ-कुछ उपदेश उद्धृत किये जाते हैं। महर्षि यमने कहा है—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं च सर्वदा।
कौपीनं कटिसूत्रं च ब्रह्मचारी तु धारयेत्॥
अग्नीन्धनं भैक्षचर्य्यामधः शय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्त्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः॥

उपनीत ब्रह्मचारी मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कौपीन और कटिसूत्र सदा धारण करें और इस प्रकारसे समावर्त्तनकालपर्यन्त अग्निसेवा; भिक्षाचर्या, भूमिशय्या और गुरुका हितानुष्ठान करें।

श्रीभगवान् मनुने कहा है—

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचर्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम्॥

वेदयज्ञशील तथा वर्णाश्रमोचित कर्ममें निष्ठावान् सदाचारसम्पन्न द्विजगणके गृहमें ही ब्रह्मचारी भिक्षाटन करें। महर्षि यमने कहा हैं—

आहारमात्रादधिकं न क्वचिद्भैक्षमाहरेत्।
युज्यते स हि दोषेण कामतोऽधिकमाहरन्॥

आहारके लिये जितना प्रयोजन हो उससे अधिक भिक्षान्न संग्रह नहीं करना चाहिये। इच्छाके वशवर्त्ती होकर अधिक संग्रहकारी ब्रह्मचारीको दोष लगता है। महर्षि दक्षने कहा है—

न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कथंचन।
एतैः सर्वैः सुनिष्णातो यतिर्भवति नान्यथा॥

ब्रह्मचारीको स्त्रियोंके विषयमें न चिन्ता करनी चाहिये, न बोलना चाहिये और न सुनना चाहिये। ऐसा होनेसे ही यति हो सकता है, अन्यथा नहीं।

महर्षि प्रचेतसने कहा है—

तांम्बूलाभ्यञ्जने चैव कांस्यपात्रे च भोजनम्।
यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्जयेत् ॥

ताम्बूलसेवन, तैलमर्दन, कांसेके पात्रमें भोजन यति, ब्रह्मचारी तथा विधवा स्त्रीको त्याग देना चाहिये।

महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा है—

मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टशुक्लस्त्रीप्राणिहिंसनम्।
भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादि वर्जयेत् ॥

मद्यपान, मांसभक्षण, नेत्रोंमें अञ्जनधारण, निष्ठुर भाषण, स्त्रीसेवन, प्राणि-हिंसन, उदयास्तकालीन सूर्यदर्शन, अश्लीलवाक्य कथन, और परनिन्दा ब्रह्मचारीको नहीं करना चाहिये।

महर्षि पराशरने कहा--

गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः।
अरण्ये निर्जले देशे भवति ब्रह्मराक्षसः ॥

गुरुके साथ अपमानजनक हुंकार तुंकारसे बोलनेपर तथा ब्राह्मणको उसी प्रकारसे वादमें परास्त करनेपर ब्रह्मचारीको जलहीन जङ्गलमें ब्रह्मराक्षसयोनिको प्राप्त करनी पड़ती है।

महर्षि यमने कहा है—

यथाऽन्नं विषसंयुक्तं विषं चान्नेन संयुतम्।
तादृशं स्यादशुश्रूषाब्रह्माधीतं न संशयः ॥

विष मिला हुआ अन्न हो, अथवा विषमें अन्न मिला हुआ हो, वह जिस प्रकार अखाद्य होता है, उसी प्रकार गुरुसेवाहीन वेदविद्या निष्फल होती है।

यही सब संक्षेपसे वर्णित ब्रह्मव्रतकी विधियां हैं। इसका विस्तारित वर्णन आश्रमधर्म नामक प्रबन्धमें पहले ही किया गया है, इस कारण पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

(१०) षोड़श संस्कारोंमें दशम संस्कारका नाम वेदव्रत है। इसको वेदारम्भ संस्कार भी कहते हैं। ज्योतिषोक्त शुभ दिनमें अपनी शाखाका आरम्भ करके इस संस्कारका अनुष्ठान होता है। महर्षि वशिष्ठने कहा है—

पारम्पर्यागतो येषां वेदः सपरिवृंहणः।
यच्छाखाकर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं तथा ॥

जिस कुलमें जो शाखा तथा गृहसूत्र व्यवहार परम्परासे चला आता है, उस कुलमें उसी शाखासे वेदारम्भ होना चाहिये। महर्षि पराशरने कहा है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं धर्मशास्त्रस्य चैव हि।
अजानतोऽर्थं तद्व्यर्थं तुषाणां कण्डनं यथा॥

साङ्गवेद तथा धर्मशास्त्रोंको अर्थसहित पढ़ना चाहिये। अर्थ न समझकर पाठमात्र पढ़ना भूसी कूटनेके समान निष्फल है। अब नीचे संक्षेपसे वेदारम्भ-विधि कही जाती है।

यज्ञोपवीतके ही दिन अथवा उससे तीन दिन पश्चात् आचमन, प्राणायाम तथा गणेश आदिका पूजन करके 'ऋग्वेद या यजुर्वेदके अध्ययनव्रतकी आज्ञा मैं आज शिष्यको करूँगा' ऐसा संकल्पपूर्वक पञ्चभूसंस्कार करके समुद्भव नामक लौकिक अग्निको सम्मुख स्थापित करे। तब ब्रह्मचारीको बुलाकर अग्निसे पश्चिम और अपनेसे उत्तरमें पूर्वाभिमुख बैठाके ब्रह्मवरणादि आज्य भागान्त चरुवर्ज कर्म करके यजुर्वेदका प्रारम्भ करे, वहां अन्तरिक्ष और वायुके लिये दो आहुति देकर ब्रह्मादिके नामसे नौ आहुति देवे। यदि ऋग्वेदका आरम्भ करना हो, तो पृथ्वी और अग्निके लिये दो आहुति देकर ब्रह्मादिकी नौ आहुति देवे। यदि सामवेदका आरम्भ करना हो, तो आज्यभागोंके अन्तमें दिव् और सूर्यके लिये दो आहुति देके ब्रह्मादिकी नौ आहुति देवे। यदि अथर्ववेदका आरम्भ करना हो, तो आज्यभागोंके अन्तमें दिशा और चन्द्रमाके नामसे दो आहुति देकर तब ब्रह्मादिके नामसे नौ आहुति देवे। यदि एकतन्त्रसे सब वेदोंके पढ़नेका आरम्भ करना अभीष्ट हो, तो आज्याभागोंके पश्चात् क्रमसे प्रत्येक ऋगादि वेदकी दो दो आहुति देकर ब्रह्मादिकी नौ आहुति देवे। तदनन्तर महाव्याहृतियोंसे लेकर स्विष्टकृत्पर्यन्त दशाहुतियोंका होम करे। फिर संस्रवप्राशन करके पूर्णपात्र या धनदक्षिणोंमेंसे एक सङ्कल्प पूर्वक ब्रह्माको देवे। ब्रह्मा 'ओं स्वस्ति' कह कर स्वीकार करें। तब 'सुमित्रियान आप' इत्यादि मन्त्रसे पवित्रों द्वारा प्रणीताके जलको अपने शिरमें छिड़कके दुर्मित्रियास्तस्मै सन्त, इत्यादि मन्त्रसे प्रणीताके शेष जलको ईशानकोणमें ढरका देवे। तदनन्तर वेदिकी सब ओर जिस क्रमसे कुश बिछाये थे उसी क्रमसे उठाकर घीसे अभिधारण करके—ओं देवा गातुविदो गातुं वित्वा, इत्यादि मन्त्र द्वारा हाथसे ही त्यागान्तमें होमकर देवे। प्रथम प्रणवका तदनन्तर

महाव्याहृतियों सहित सावित्री-गायत्री मन्त्रका उच्चारण करके वेदाध्ययनका प्रारम्भ करना चाहिये। प्रारम्भसे पहिले सङ्कल्पपूर्वक-'ॐ वेदोऽसि येन त्वं देव वेद' इत्यादि और ॐ श्रीश्चते लक्ष्मीश्च, इत्यादि-इन दो मन्त्रों द्वारा वेद सरस्वतीका पुस्तकपर षोड़शोपचार पूजन करे। तदनन्तर पश्चिमाभिमुख सम्मुखमें बैठे हुए, पादस्पर्शपूर्वक गुरुको देखते हुए हाथ जोड़े, ब्रह्मचारीको आचार्य वेद पढ़ाना प्रारम्भ करें, प्रथम आदिमें प्रणव, तदनन्तर व्याहृति तथा अन्तमें केवल प्रणव ऐसे गायत्रीमन्त्रका उच्चारण करके पश्चात् एक दो तीन या चारों वेदोंके पढ़ानेका प्रारम्भ करे। उस उस शाखाके पार्षद सूत्रोंके विधानानुसार उस उसको पढ़ें। शुक्लयजु वाजसनेयी शाखाकी इस पद्धतिके अनुसार उन लोगोंको 'ओं इषेत्वोर्जेत्वा' का प्रथम आरम्भ करके आगे क्रमशः ऋग्वेदादिको प्रारम्भ करना चाहिये कि, जिनके कुलोंमें इसी शाखाकी पद्धत्यनुसार उपनयनादि कर्म पूर्वसे होते आये हों। तब आचार्य कहे—'ओं स्वस्ति' इति ब्रूहि, ब्रह्मचारी 'ओं स्वस्ति' कहे। तदनन्तर आचार्य खड़े होकर घीसे भरे फल फूलोंसहित स्रुवाको ब्रह्मचारीके दहिने हाथमें पकड़वाके 'ओं मूर्द्धानं दिवो अरतिं इत्यादि मन्त्रसे पूर्णाहुति दिलावे। तदनन्तर बैठ कर स्रुवाके मूल द्वारा भस्म लेके दाहिने हाथकी अनामिका—अङ्गुलीके अग्रभागसे अपने ललाटादि अङ्गमें भस्म लगावे। तदनन्तर मातृगणका विसर्जन करके ब्राह्मण भोजन कराना उचित है। यही आर्य-शास्त्रविहित वेदव्रत या वेदारम्भ संस्कारका विधान है।

अब वेदव्रतकालीन शास्त्रोल्लिखित कुछ कर्त्तव्योंके निर्देश किये जाते हैं। शास्त्रमें वेदपाठ तथा अर्थसहित वेदाभ्यासकी भूरि भूरि प्रशंसा पाई जाती है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा है—

वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः।
यं यं क्रतुमधीयीत तस्य तस्याऽऽप्नुयात् फलम्॥

वेद ही द्विजातिका परम मुक्तिदायक शास्त्र है। प्रतिशाखाके पाठसे अमोघ फलकी उत्पत्ति होती है। स्मृतिसारसमुच्चयमें लिखा है—

वेदो यस्य शरीरस्थो न स पापेन लिप्यते।
वेदात्मा स तु विज्ञेयः शरीरैः किं प्रयोजनम्॥
वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः।
तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः॥

यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपूरुषम् ।
स वै दुर्ब्राह्मणो नाम सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं यच्चान्यत्कर्म वैदिकम् ।
अनधीतस्य विप्रस्य सर्वं भवति निष्फलम् ॥
अनधीतो द्विजो यस्तु शास्त्राणि तु बहून्यपि ।
शृणोत्याब्रह्मणो नाशं नरकं स प्रपद्यते ॥
नाधीतवेदो यो विप्र आचारेभ्यः प्रवर्त्तते ।
नाऽऽचारफलमाप्नोति यथा शूद्रस्तथैव सः ॥
अनधीतस्य विप्रस्य पुत्रो वाऽध्ययनान्वितः ।
शूद्रपुत्रः स विज्ञेयो न वेदफलमश्नुते ॥

जिसके शरीरमें वेद है वह पापसे लिप्त नहीं होता है, वह वेदात्मा है, उसके शरीरका क्या प्रयोजन है ? वेदके जितने अक्षर द्विज पढ़े, उतना हरि-नाम ही उसने कीर्त्तन किया इसमें सन्देह नहीं। जिस कुलमें तीन पुरुषतक-वेदपाठ नहीं हुआ या कोई वेदयज्ञ उत्पन्न नहीं हुए, उसको कर्महीन कुब्राह्मण कुल जानना चाहिये। वेदस्वाध्यायविहीन ब्राह्मणका नित्य, नैमित्तिक, काम्य सभी कर्म्म निष्फल होता है। जो द्विज अन्यान्य अनेक शास्त्र पढ़नेपर भी वेदका स्वाध्याय नहीं करता है, उसको अधोगति मिलती है। वेदपाठ न करके जो विप्र आचारका अनुष्ठान करता है, उसको उस अनुष्ठानका फल नहीं मिलता है, वह शूद्रतुल्य ही है। यदि पिता वेदपठित न हो और पुत्र वेदपाठशील हो, तो वह शूद्रपुत्रतुल्य है और उसको वेदपाठका फल नहीं मिलता है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें वेदपाठकी परममहिमा वर्णित की है श्रीभगवान् मनुने भी लिखा है—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥

वेदका अनभ्यास, सदाचारका त्याग, आलस्य और अन्नदोषसे ब्राह्मणको अकालमृत्युके ग्रासमें जाना पड़ता है। वृहन्नारदीयपुराणमें लिखा है—

शब्दब्रह्ममयो विष्णुर्वेदः साक्षाद्धरिः स्मृतः ।
वेदाध्यायी तु यो विप्रः सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥

विष्णु शब्द ब्रह्ममय और वेद साक्षात् भगवान् विष्णुरूप है। इस

लिये वेदपाठी विप्रकी सफल कामनाओंकी पूर्त्ति होती हैं। वेदाभ्यास क्या वस्तु है, इस विषयमें लिखा है—

वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः।
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा॥

प्रथम वेदकी आवृत्ति, तदनन्तर उसपर विचार, आयत्तीकरण, वैदिकमन्त्रजप और शिष्योंको वेद शिक्षादान—ये पांच प्रकारके वेदाभ्यास कहलाते हैं। बाराह पुराणमें लिखा है—

स्वशाखां प्रथमं यस्तु पठित्वाऽन्यां पठेद् यदि।
प्रत्यक्षरं तु लभते गायत्र्या द्विगुणं फलम्॥

प्रथम अपनी शाखाको पढ़कर पश्चात् अन्य शाखा जो पढ़ता है, उसको प्रति अक्षर गायत्रीका द्विगुण फल मिलता है। महर्षि वशिष्ठजीने कहा है—

यः स्वशाखां परित्यज्य परशाखां समाश्रयेत्।
स शूद्रवद्बहिः कार्यः सर्वकर्मसु साधुभिः॥

जो अपनी शाखाको परित्याग करके परशाखाका स्वाध्याय करता है, उसका सभी कृत्यमें वहिष्कार कर देना चाहिये। इस प्रकार महिमान्वित वेदपाठका प्रारम्भ कब होना चाहिये इसके लिये स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

रविवारे तु पूर्वाह्णे विद्यारम्भो विधीयते।
चन्द्रवारेऽपहाह्णे तु विद्यागुर्वी विधीयते॥
सर्ववेदांश्च शास्त्राणि चाभ्यसेत् सूर्यवासरे।
कामशास्त्रं महातन्त्रं रोगघ्नं वैष्णवं तथा॥
अनध्यायाः प्रदोषाश्च षष्ठीरिक्तास्तथैव च।
वर्जनीयाः प्रयत्नेन विद्यारम्भे तु सर्वदा॥

रविवार पूर्वाह्णमें और सोमवार अपराह्णमें विद्यारम्भ होना उचित है, सफल वेद तथा कामशास्त्र, मन्त्रशास्त्र भियकशास्त्र, पूजादि शास्त्रका प्रारम्भ रविवारही-को होना चाहिये। अनध्यायकी तिथियां, प्रदोष, षष्टी और रिक्ता ये सब विद्यारम्भमें वर्जनीय हैं।

अब संक्षेपसे वेदव्रतीका कर्तव्य बताया जाता है।

श्रीभगवान् मनुजीने लिखा है—

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः ।
कृतब्रह्माञ्जलिश्चैव लघुवासा जितेन्द्रियः ॥

वेदपाठके समय शिष्यको साधारण वस्त्रधारी तथा जितेन्द्रिय होकर आचमनके बाद उत्तरमुखमें ब्रह्माञ्जलि बांधकर आचार्यके समीप बैठना चाहिये । और भी—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।

पाठके आरम्भ तथा अवसानमें आचार्यका यथाविधि पादस्पर्श करना चाहिये । और भी—

ओंकारं प्रथमं कृत्वा ततो ब्रह्म प्रवर्त्तयेत् ।
ओंकारञ्च पुनः कृत्वा भूमिं स्पृष्ट्वा समापयेत् ॥

प्रथम ओंकार उच्चारण करके वेदपाठ प्रारम्भ करना चाहिये और अन्तमें ओंकार उच्चारण करके भूमिस्पर्श कर पाठ समाप्त करना चाहिये । महर्षि व्यासने कहा है—

मेखलाजिनदण्डानां धारणैर्ब्रह्मचारिभिः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सर्वज्ञानाद्द्विजातिभिः ॥

ब्रह्मचारियोंको मेखला अजिन तथा दण्डको धारण करते हुए समस्त वेदविद्या ग्रहण करनी चाहिये । इससे विशेष ज्ञान लाभ होता है । महर्षि नारदने कहा है—

अहेरिवेक्षणाद्भीतः सौहित्यान्नरकादिव ।
राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति ॥
द्यूतं पुस्तकशुश्रूषा नाटकासक्तिरेव च ।
स्त्रियस्तन्द्रा च निद्रा च विद्याविघ्नकराणि षट् ॥

जो ब्रह्मचारी सर्पकी तरह रमणी आदिके देखनेसे डरे, पापसे नरककी तरह डरे और स्त्रियोंसे राक्षसीकी तरह डरे वही विद्यालाभ कर सकता है । अक्षक्रीड़ा, अभ्यासहीन पुस्तकसेवनमात्र, नाटक तथा स्त्रियोंमें आसक्ति, आलस्य और निद्रा ये छः विद्याविघ्नकारी हैं । और भी स्मृति में—

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ ।
राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः ॥

जो विद्या केवल पुस्तक पढ़कर प्राप्त होती है, किन्तु गुरुसान्निध्यमें प्राप्त

नहीं होती है, वह अपूर्ण होनेके कारण स्त्रियोंके जारगर्भके सदृश सभामें चमत्कार नहीं दिखा सकती है। और भी—

शुश्रूषारहिता विद्या यद्यपि मेधागुणैः समुपयाति।
वन्ध्येव यौवनवती न तस्य विद्या सफला भवति॥

गुरुसेवाहीन विद्या मेधागुणसे युक्त होनेपर भी बन्ध्या स्त्रीकी तरह फलवती नहीं होती है। आपत्कालमें विद्यालाभके विषयमें मनुजीने कहा है—

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।
अनुव्रज्यादिशुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः॥

ब्राह्मण आपत्कालमें क्षत्रिय या वैश्यसे भी विद्या लाभकर सकते हैं। इस दशामें अध्ययन समाप्तिपर्यन्त अनुगमन आदि मात्र गुरुसेवा होगी। महर्षि पराशरने कहा है:—

अग्निकार्यात् परिभ्रष्टाः सन्ध्योपासनवर्जिताः।
वेदांश्चैवानधीयानाः सर्वे ते वृषलाः स्मृताः॥

अग्निसेवा, सन्ध्योपासना तथा वेदपाठविहीन ब्राह्मण शूद्रतुल्य है। अतः ब्रह्मचारीको वेदव्रतावस्थामें नित्य हवन, सन्ध्योपासन तथा वेदपाठ करना चाहिये। यही सब संक्षेपसे वर्णित वेदव्रतोंका कर्त्तव्य है।

वेदपाठमें कई एक अनध्याय दिन माने जाते हैं, जिनमें वेदपाठ करनेसे विद्यानाश, मेधानाश आदि अनेक हानियाँ शास्त्रोंमें बताई गई हैं। वृहन्नारदीय पुराणमें लिखा है :—

अनध्यायेच्चाधीतानां प्रजां प्रज्ञां यशः श्रियम्।
आयुष्यं बलमारोग्यं निकृन्तति यमः स्वयम्॥
अनध्याये तु योऽधीते तं विद्याद् ब्रह्मघातकम्।
न तेन सह भाषेत न तेन सह संविशेत्॥

अनध्यायमें पढ़नेवालोंके यश, श्री, प्रज्ञा, प्रजा, आयु, बल, आरोग्य सभी यम नष्ट करते हैं। जो अनध्यायमें पढ़ता है उसको वेदघाती जानना चाहिये, उसके साथ भाषण या सहवास नहीं करना चाहिये। अब ऐसे अनध्याय कौन कौन हैं, सो मनु-संहितासे उद्धृत किये जाते हैं :—

इमान् नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत्।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम्॥

नीहारे वाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः ।
अमावस्याचतुर्द्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥
अमावस्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
ब्रह्माष्टका पौर्णमास्यौ तस्मात् ताः परिवर्जयेत् ॥
कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांशुसमूहने ।
एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥
विद्युत् स्तनितवर्षेषु महोल्कानाञ्च संप्लवे ।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥
निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषाञ्चोपसर्जने ।
एतानाकालिकान् विद्यादनध्यायानृतावपि ॥
अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥
उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने ।
उच्छिष्ट श्राद्धभुक् चैव मनसापि न चिन्तयेत् ॥
प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् ।
त्र्यहं न कीर्त्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥
उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् ।
अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥
नाधीयीताश्वमारूढ़ो न वृक्षं न च हस्तिनम् ।
न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥
पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥
द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।
स्वाध्यायाभूमिञ्चाशुद्धामात्मानञ्चाशुचिं द्विजः ॥

वेदाध्यापक गुरु और वेदपाठी शिष्य इनको निम्नलिखित अनध्यायोंको अवश्य मानना चाहिये । कोहर, वाणका शब्द, अमावस्या चतुर्दशी, पौर्णमासी, अष्टमी और प्रातः सायं सन्ध्याकाल—इनमें स्वाध्याय नहीं करना चाहिये । अमावस्यापाठमें गुरुका नाश, चतुर्दशीमें शिष्यका

नाश, अष्टमी और पौर्णमासीमें वेदविस्मरण होता है। अतः इन तिथियोंमें वेदपाठ सर्वथा वर्जनीय है। वर्षाके दिनोंमें यदि रात्रिके समय उत्कट वायुप्रवाह हो या दिनमें धूलिका प्रवाह होने लगे, तो अनध्याय जानना चाहिये। विद्युत् तथा मेघगर्जनके साथ वर्षा या उल्कापात होनेपर उस समयसे दूसरे दिन उस समयतक अनध्याय जानना चाहिये। अस्वाभाविक शब्दके साथ भूकम्प होनेपर अथवा चन्द्रसूर्यादि ज्योतिः पदार्थपर किसी प्रकार उपसर्ग आजानेपर आकालिक अनध्याय हो जाता है। शवयुक्त स्थानमें अधार्मिक जनोंके पास, रोदन शब्द होनेपर तथा बहुजन समागममें अनध्याय जानना चाहिये। जलके भीतर, मध्यरात्रिमें, विष्ठामूत्र त्यागके समय, उच्छिष्ट मुखसे या श्राद्धभोजनान्तर मनसे भी वेदचिन्तन नहीं करना चाहिये। विद्वान् ब्राह्मण श्राद्धमें निमन्त्रण ग्रहण करनेपर तीन दिन वेदाध्ययन न करे। राजाका पुत्र होनेपर अथवा चन्द्रसूर्यपर राहु ग्रास होनेपर तीन दिन वेदका अनध्याय होता है। उपाकर्म या उत्सर्ग नामक कर्मके अनन्तर त्रिरात्र अनध्याय होता है। मार्गशीर्ष पौर्णमासीके बाद अष्टका नामक जो तीन कृष्णाष्टमी है उसमें अहोरात्र अनध्याय तथा ऋतुके अवसान दिनमें भी अनध्याय जानना चाहिये। अश्व, वृक्ष, हस्ती, नाव, गर्दभ, ऊँट या शकटादि यानपर चढ़कर तथा ऊषर देशमें रहते समय वेदाध्ययन नहीं करना चाहिये। गो आदि पशु, भेक, विड़ाल, श्वान, सर्प, नकुल अथवा मूषिक इनमेंसे कोई भी यदि वेदपाठके समय गुरु और शिष्यके बीचमेंसे चला जाय तो एक अहोरात्र अनध्याय होता है। स्वाध्यायके स्थानका अशुचि रहना तथा स्वयं अशुचि रहना ये दोनों अनध्यायके नित्य कारण हैं, अतः द्विजगणको यत्नपूर्वक इन अनध्याय हेतुओंको नहीं आने देना चाहिये। इस प्रकारसे श्रीभगवान् मनुने अनध्यायके और भी अनेक समय निर्देश किये हैं। मनुजीकी तरह अन्यान्य स्मृतिकारोंने भी अनध्याय-लक्षण अनेक बताये हैं। यथा हारीतसंहितामें—

प्रतिपत्सु चतुर्दश्यामष्टम्यां पर्वणोर्द्वयोः।
श्वोऽनध्यायेऽद्य शर्वर्यां नाधीयीत कदाचन॥

दोनों प्रतिपदा, चतुर्दशी तथा अष्टमीमें कदापि वेदपाठ नहीं करना चाहिये। जिस दिन अनध्याय होनेवाला है, उसके पूर्वदिन रात्रिकालमें कदापि वेदपाठ नहीं करना चाहिये। ऐसा भी वाक्य मिलता है—

प्रतिपल्लेशमात्रेण कलामात्रेण चाष्टमी ।
दिनं दूषयते सर्वं सुरा गव्यघटं यथा ॥

जिस प्रकार दुग्धपूर्ण पात्र किञ्चिन्मात्र सुरासे भी दूषित हो जाता है, उसी प्रकार कलामात्र अष्टमी अथवा लेशमात्र प्रतिपदा भी समस्त दिनको दूषित करती है। आर्ष रामायणमें हनूमानका वाक्य श्रीरामके प्रति है—

'सा स्वभावेन तन्वङ्गी त्वद्वियोगाद् विकर्शिता ।
प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता ॥'

सीता स्वभावतः ही कृशाङ्गी हैं, अब तुम्हारे वियोगमें और कृशा हो गई हैं, जैसे कि प्रतिपदामें वेदपाठशील विद्यार्थीकी विद्या क्षीण हो जाती है। गुरुशिष्यके बीचमें जीव - जन्तुओंके आजानेपर अनध्यायके विषयमें स्मृत्यर्थसारमें लिखा है—

'आरण्यमार्जारदर्पनकुलपञ्जनखादेरन्तरागमने त्रिरात्रम् । आरण्यश्वश्रृगालवानरादेर्द्वादशरात्रम्, खरवराहोष्ट्रचण्डालसूतिकोदक्यादेर्मासम् । शशमेषश्वपाकादेः षण्मासं, गजसारससिंहव्याघ्रमहापातकिकृतघ्नादेरब्दम् ।'

जङ्गली बिल्ली, सर्प, नकुल और पञ्चनख पशुओंके बीचमें आजानेपर तीन रात अनध्याय होता है। जङ्गली श्वान, शृगाल, वानरके आनेपर बारह रात, और गर्दभ, शूकर, चण्डाल, सूतकवाले तथा रजस्वला स्त्रीके आजानेपर एक मास अनध्याय होता है। शश, मेष, श्वपाकादिके आजानेपर छः मास और हाथी, सारस, सिंह, व्याघ्र, महापापी तथा कृतघ्नादिके आजानेपर एक वर्ष भर अनध्याय होता है। इस प्रकारसे साधारण अनध्यायोंका निर्देश करके कुछ अपवादविधिका भी निर्देश आर्यशास्त्रमें किया गया है। यथा मनुसंहितामें—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नित्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥

शिक्षा–कल्प आदि वेदाङ्ग, नित्यानुष्ठेय स्वाध्याय तथा होममन्त्रमें अनध्याय दिनमें भी स्वाध्याय हो सकता है। बृहन्नारदीयपुराणमें लिखा है :—

चतुर्दश्यष्टमीपर्वप्रतिपद्वर्जितेषु च।
वेदाङ्गन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चाभ्ययेत्॥

चतुर्दशी, अटमी और प्रतिपदाको छोड़कर अन्य तिथियोंमें वेदांग, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्रोंका स्वाध्याय हो सकता है। कूर्मपुराणमें भी लिखा है—

नैत्यके नास्त्यनध्यायः सन्ध्योपासन एव च।
उपाकर्मणि कर्मान्ते होममन्त्रेषु चैव हि॥
अनध्यायस्तु नाङ्गेषु नेतिहासपुराणयोः।
न धर्मशास्त्रेष्वन्येषु पर्वाण्येतानि वर्जयेत्॥
अधीयीत सदा सर्वां ब्रह्मविद्यां समाहितः।
सावित्रीं शतरुद्रीयं वेदान्तांश्च विशेषतः॥

नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है, सन्ध्योपासना, उपाकर्म या होममन्त्र पाठमें भी अनध्याय नहीं माना जाता है। वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण या धर्मशास्त्रपाठमें भी अनध्याय नहीं है। अन्यत्र इन पर्वोंका वर्जन होना चाहिये। ब्रह्मविद्या, वेदान्त गायत्री तथा शतरुद्रीपाठमें कदापि अनध्याय नहीं होता है। यही सब अनध्याय प्रकरणमे अपवादविधि हैं। इस प्रकारसे वेदादि शास्त्रोंको आज्ञाके अनुसार वेदव्रत संस्कारका पूर्ण परिपालन होनेपर ब्रह्मचारीवेदव्रती अखिलशास्त्रपारंगत तथा इहलोकमें परम कल्याणका अकिारी हो सकता है।

शास्त्रमें वेदपाठके विषयमें इतने अनध्याय क्यों माने गये हैं, इसके वैज्ञानिक तथ्यपर विचार करनेसे साधारणतः तीन मुख्य हेतु जान पड़ते हैं। यथा—चन्द्रादि ग्रहोपग्रहोंका आकर्षण, उत्तम या अवम शकुन तथा शारीरिक या मानसिक अशुचिता। वेद श्रीभगवान्का वाक्य है, इस कारण आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक विविध शक्ति वैदिक मन्त्रोंमें पूर्णरूपसे विद्यमान है। अत. देशकाल या स्वाध्यायकारो छात्रकी शारीरिक मानसिक स्थिति जबतक उसके अनुकूल न हो तबतक वेदपाठ, और स्वरादि हस्तचालनादिके साथ वेदमन्त्रोच्चारण करनेसे नाना प्रकार आधि व्याधि या दैवी विपत्तियाँ हो सकती हैं। इसी कारण आर्यशास्त्रमें ऊपर लिखित निषेध वताये गये हैं। अष्टमी, पूर्णिमा अमावास्या या उसके आसपासकी तिथियोंमें सूर्यचन्द्रादि ग्रहोंका आकर्षण और तज्जन्य शारीरिक मानसिक

प्रतिकूलता प्रत्यक्ष सिद्ध है। श्वान, शृगाल, गर्दभ, हस्ती आदि जन्तुओंके साथ अपशकुनका विशेष सम्बन्ध शकुनशास्त्रसे स्पष्ट है और तज्जन्य दैवी असुविधायें सभी मनुष्योंपर होनी भी शास्त्रसिद्ध है। राहुग्रासादिजन्य सूतक, प्रेतश्राद्ध आदि भोजनजन्य तपोनाश और अशुचिता, कृतघ्न, पापी आदिके सान्निध्यजन्य अपवित्रता इत्यादि सब शारीरिक मानसिक अशुचिताके दृष्टान्त हैं। अतः इन सब आधिभौतिक तथा आधिदैविक बाधाओंके समय त्रिविधशक्तिपूर्ण वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण करना हानिजनक होनेसे शास्त्रोंमें अनध्यायका निर्देश किया गया है। वेदान्तादि शास्त्रोंके साथ आध्यात्मिक सम्बन्धको प्रधानता और दैवीशक्ति सम्पर्ककी न्यूनता रहनेसे उसके स्वाध्याय अनध्यायमें विधिनिषेधका इतना प्राबल्य नहीं माना गया है। यही अनाध्याय-निर्देशके मूलमें वैज्ञानिक तथ्य है।

(११) ग्यारहवें संस्कारका नाम समावर्त्तन है। आचार्यगृहमें विद्या समाप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रवेशार्थ गृहप्रत्यागमनके समय समावर्तन संस्कारका अनुष्ठान होता है। श्रुतिमें लिखा है—

'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'

आचार्यको दक्षिणारूपसे यथेप्सित धन देकर प्रजातन्तुकी रक्षाके लिए स्नातक द्विजको गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये। जो विद्या आचार्यसे मिलती है, धन द्वारा उसका परिशोध तो हो नहीं सकता है जैसा कि हारीत महर्षिने लिखा है—

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये नियोजयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वाऽप्यनृणी भवेत्॥

जो एक भी अक्षर गुरु शिष्यको प्रदान करते हैं, पृथ्वीमें ऐसा कोई धन नहीं है, जिसको देकर शिष्य उस ऋणसे उऋण हो सकता है। तथापि लौकिक विधिके अनुसार व्रतसमाप्तिरूपसे गुरुदक्षिणा देनेकी आज्ञा है। कूर्मपुराणमें भी लिखा है।

वेदान् वेदांस्तथा वेदौ वेदं वाऽपि समाहितः।
अधीत्य चाधिगम्यार्थं ततः स्नायाद्द्विजोत्तमः॥

समाहितचित्त होकर चार वेद, तीन वेद, दो वेद या एक वेद पढ़कर तथा उसमें जानने योग्य विषयोंको जानकर पश्चात् द्विजको समावर्त्तन स्नान करना चाहिये। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने लिखा है—

वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्॥

अक्षुण्ण ब्रह्मचर्य्यके साथ अपने व्रतको पालन करके अथवा वेदपाठ समाप्त करके किम्वा दोनोंका ही पार लगाकर स्नातक द्विज गृहस्थाश्रममें आवे और सुलक्षणा स्त्रीका पाणिग्रहण करे। यही सब समावर्त्तनके विषयमें शास्त्रीय प्रमाण हैं। अब संक्षेपसे समावर्त्तनविधि बताई जाती है।

प्रथमतः नित्यकर्म-समाप्तिके बाद आचार्य पत्नी तथा ब्रह्मचारीके साथ शुभासनपर बैठकर आचमन प्राणायाम करके देशकालकीर्त्तनके अन्तमें समावर्त्तनकृत्यके लिये सङ्कल्प करें। तदनन्तर गणपतिपूजन, पुण्याहवाचन आदि सहायक कृत्योंकी समाप्तिके बाद ब्रह्मचारी आचार्यसे समावर्त्तनके लिये आज्ञा लेते हैं। इसके बाद यज्ञमण्डपमें आचार्यके समीप पञ्चभूसंस्कार, ब्रह्मावरण होमादि अनेक कृत्य शास्त्रानुसार किये जाते हैं। तदनन्तर आधारकी दो और आज्यभागकी दो आहुति देनी होती हैं। इस प्रकार आज्यभागोंके पश्चात् अपनी वेदशाखारम्भकी आहुति दी जाती है। तदनन्तर ब्रह्माके अन्वारम्भ करनेपर महाव्याहृतियोंसे लेकर स्विष्टकृत् पर्य्यन्त दस आहुतियोंका हवन करना होता है। इसके बाद और भी कई एक हवन, अभिषेक, मन्त्रसे जलसेचन आदि कृत्य होते हैं। तदनन्तर—

ओं उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय। अथावयायमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम।

इस मन्त्रको पढ़कर शिरके द्वारा मेखलाको निकाल लेना होता है। तदनन्तर ब्रह्मचारी दण्ड और कृष्णाजिनको विना मन्त्र भूमिपर धरके अन्य वस्त्र पहन कर तथा एक कंधेपर डालकर—

'ओं उद्यन् भ्राजिष्णुभृरिन्द्रोमरुद्भिरस्थात्' इत्यादि मन्त्र पढ़कर सूर्यका उपस्थान करें। तदनन्तर थोड़ा दही या तिलको खाकर जटा और नखोंको नाईसे छेदन करानेके बाद स्नान आचमनान्तमें बारह अङ्गुलप्रमाण गूलरकी दतौन—

'ओं अन्नाद्याय व्यूहध्वं सोमो राजाऽयमागमत्। स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च' मन्त्र पढ़कर करें। क्षत्रिय स्नातक हो, तो दस अङ्गुलका और वैश्य स्नातक हो तो आठ अंगुलकी दतौन करे। तब दतौनको छोड़ कुल्ला तथा आचमन करके सुगन्धित द्रव्यसे उबटना करे, फिर उष्णोदकसे स्नान करके दो बार आचमनानन्तर घृत-चन्दन-केशरको—'ओं प्राणापानौ मे तर्पय। ओं चक्षुर्मे तर्पय। ओं श्रोत्रं मे तर्पय' इन तीन मन्त्रोंसे नासिका, चक्षु और कानोंमें लगावें। तदनन्तर 'ओं पितरः शुन्धध्वम्' मन्त्रसे पितृतर्पण करना होता है। और—

'ओं सुचक्षा अहमक्षीभ्यां' इत्यादि मन्त्रका जप करना होता है। इसके बाद—'ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि। शतं च जीवामि' इत्यादि मन्त्रसे शुद्ध श्वेत वस्त्रको धारण करना होता है। तदनन्तर 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' मन्त्रसे दो यज्ञोपवीत धारण करें। फिर आचमन करके 'ओं यशसा मा द्यावा पृथिवी यशसेन्द्रा वृहस्पती। यशो भगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यताम्॥' इस मन्त्रसे दुपट्टा ओढ़े। तदनन्तर—'ओं-या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै कामाये-न्द्रियाय' इत्यादि मन्त्रसे पुष्पमाला हाथमें लेकर—'ओं यद् यशोऽप्सरसामिन्द्रश्च-कार विपुलं पृथु' इस मन्त्रसे कण्ठमें धारण करे। फिर 'युवा सुवासाः परिवीत आगात्' आदि मन्त्रसे पगड़ी बाँधे। तब 'ओं अलङ्करणमसि योऽलङ्कारणं भूयात्' इस मन्त्रको दो बार पढ़कर प्रथम दहिने तदनन्तर बांयें कानमें सुवर्ण कुण्डल पहिने। फिर 'ओं वृहस्पतेश्चदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि' इस मन्त्रसे छाता, 'ओं प्रतिष्ठेस्थो विश्वतो मा पातम्' इस मन्त्रसे जूता और 'ओं विश्वाम्भो' आदि मन्त्रसे बांसकी छड़ी धारण करे। तदनन्तर स्नातकको गृहस्थाश्रममें पालन योग्य कुछ उपदेश आचार्यके करनेके बाद स्नातक आचार्यको दक्षिणा देवें। फिर आचार्य खड़े होकर 'ओं मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्याः' इत्यादि मन्त्रसे स्नातकके दक्षिणहस्त-स्पृष्ट श्रुवा द्वारा पूर्णाहुति देवे। तदनन्तर यज्ञीय भस्म ललाटादि स्थानोंमें आचार्य स्वयं धारण करें और स्नातकको भी धारण करावें। अन्तमें आचार्यादि मान्य लोगोंके पूजन, उनसे आशीर्वाद ग्रहण, गणपति तथा मातृगणके विसर्जन और यथाशक्ति ब्राह्मणभोजन द्वारा समावर्त्तन संस्कार समाप्त हो जाता है।

(१२) बारहवें संस्कारका नाम विवाह है। इसके विषयमें 'नारीधर्म'

तथा आश्रमधर्म नामक अध्यायोंमें पहले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है। तथापि प्रसङ्गानुरोधसे और कुछ कहा जाता है। उद्वाहसंस्कारमें जो कुछ वैदिक कृत्य किये जाते हैं उनका विस्तारित वर्णन यहाँपर करना निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। इस कारण समस्त विधियोंका वर्णन न करके उनमें अन्तर्निहित भावोंका वर्णन किया जाता है। उन भावोंपर संयम करनेसे विचारवान् मनुष्यमात्र ही समझ सकेंगे कि, अन्य देशीय विवाहपद्धतिके साथ आर्यजातीय विवाहपद्धतिका आकाश पाताल जैसा अन्तर है। अर्थात् अन्यदेशीय विवाह केवल स्थूल इन्द्रियसेवाके लिये स्त्रीपुरुषका स्वल्पकाल स्थायी लौकिक सम्बन्ध मात्र है, किन्तु आर्य जातीय विवाह दम्पतिके आत्मा, मन, प्राण, शरीर सभीके पारस्परिक प्रगाढ़ आध्यात्मिक सम्बन्ध द्वारा दोनोंहीके मोक्षलाभार्थ चिरस्थायी प्रयत्न है। दृष्टान्तरूपसे अन्य देशीय विवाह रीतिके कुछ दिग्दर्शन कराये जाते हैं।

(१) एक आसनपर बैठकर एक पात्रसे स्त्रीपुरुष दोनोंके भोजन करनेसेही ब्रह्मदेशीय लोग उनके पति पत्नीभावको स्वीकृत करते हैं, एक नीबू या अन्य किसी फलको काटकर उसका आधा भाग पति पत्नीके मुखमें और दूसरा आधा भाग पत्नी पतिके मुखमें खिलानेके लिये देनेसे ही चीन और जापानके लोग उनका विवाह हो जाना स्वीकृत करते हैं।

(२) मुसलमानोंमें भी एक आसनपर बैठकर एक पात्रसे पति और पत्नी परस्पर एक दूसरेको खानेकी सामग्री खिलाते हैं और तभी विवाहकार्य सम्पन्न समझा जाता है। किन्तु मुसलमानोंमें कन्याकी स्वीकृति ही विवाहका मूलमन्त्र है।

(३) ख्रीष्टानोंमें भी स्वीकृति, पुरोहितका मन्त्र पढ़ना और मुखमें मुख लगाना—इन्हींके द्वारा वैवाहिक सम्बन्धका प्रकाश होता है। अतः स्त्री-पुरुषका परस्पर उच्छिष्ट भोजनरूप एक अति क्षुद्र व्यापार ही अन्य जातियोंमें विवाहका प्रधान अङ्ग समझा जाता है, ऐसा सिद्ध हुआ। इसके साथ आर्यजातीय शुभ विवाहका धर्मजगत्में कैसा महान् प्रभेद है, सो पूर्व अध्यायोंके वर्णनसे तथा निम्नलिखित दिग्दर्शनसे अनायास ही मालूम हो जायगा।

उद्वाह संस्कारमें अन्यान्य कृत्योंके अनन्तर कन्यादान सङ्कल्पके समय समस्त देवताओंसे आशीर्वाद लेकर विवाहकार्यको शुभभावमय बनाया जाता है यथा—

ब्रह्मा देवपतिः शिवः पशुपतिः सूर्यो ग्रहाणां पतिः,
शक्रो देवपतिर्हविर्हुतपतिः स्कन्दश्च सेनापतिः ॥
विष्णुर्यज्ञपतिर्यमः पितृपतिः शक्तिः पतीनां पतिः,
सर्वे ते पतयः सुमेरुसहिताः कुर्वन्तु वो मङ्गलम् ॥

इस प्रकार मङ्गलसूचक ब्रह्मादि देवताओंके नामोच्चारणके बाद दश-महादान किये जाते हैं, जिनके भीतर भी विशेष पवित्रता तथा आस्तिकता पायी जाती है यथा सुवर्णदानमें—

हिरण्यगर्भसंभूतं सौवर्णं चांगुलीयकम् ।
सर्वप्रदं प्रयच्छामि प्रीणातु कमलापतिः ॥

यह कमलापति विष्णुके प्रीत्यर्थ स्वर्णदान है । तदनन्तर धेनुदानमें—

यज्ञसाधनभूता या विश्वस्याघौघनाशिनी ।
विश्वरूपधरो देवः प्रीयतामनया गवा ॥

गोमाता यज्ञकी साधनरूपिणी तथा संसारकी पापनाशिनी है । विश्वरूपधारी देवताके प्रीत्यर्थ इनका दान होता है । तदनन्तर पृथिवीदानमें—

सर्वेषामाश्रया देवी वराहेण समुद्धृता ।
अनन्तशस्यफलदा अतः शान्ति प्रयच्छ मे ॥

वसुमती देवी वराह भगवान्के द्वारा उद्धृता, सकलजीवोंकी आश्रयदात्री तथा अनन्तशस्यफलदायिनी है । उनके दान द्वारा देवीसे शान्ति मांगी जाती है, यही सब विवाहविधिमें दान माहात्म्य है । तदनन्तर वर कन्या दोनोंके एक आसनपर बैठकर एक साथ आज्याहुति देते समय जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनके भी बड़े ही पवित्र तथा महान् भाव हैं यथा—

(१) देवताओंमें श्रेष्ठ अग्नि यहाँ आगमन करें । वह इस कन्याके भविष्यत् सन्तानोंको मृत्युभयसे बचावें और आवरण देवता ऐसी आज्ञा करें कि, यह स्त्री पुत्रसम्बन्धीय व्यसनसे पीड़ित न हो ।

(२) गार्हपत्य अग्नि इसकी रक्षा करते रहें, इसके पुत्र वृद्धावस्था पर्यन्त जीवित रहें, यह जीवित पुत्रवती होकर पतिके साथ निवास करे, और सत्पुत्रजनित आनन्दका उपभोग करें ।

(३) हे कन्ये ! द्युलोक तेरे पृष्ठ देशकी रक्षा करें, वायु और अश्विनी-

कुमार दोनों ऊरुओंकी रक्षा करें, सूर्यदेव तेरे दुधमुँहे पुत्रोंकी रक्षा करें, इत्यादि।

इस प्रकार आज्याहुतिके बाद लाजाहुति दी जाती है, जिसमें पत्नीकी ओरसे पतिके शतायु होनेकी प्रार्थना और पतिकी ओरसे अभिन्न दाम्पत्य प्रेमकी प्रार्थना है। लाजाहुतिके साथ साथ जो लौकिक गाथा कहनेकी विधि है, वह भी अपूर्व रसपूर्ण है। यथा—

राघवेन्द्रे यथा सीता विनता कश्यपे यथा।
पावके च यथा स्वाहा तथा त्वं मयि भर्त्तरि॥
सुदक्षिणा दिलीपेषु वसुदेवे च देवकी।
लोपामुद्रा यथाऽगस्त्ये तथा त्वं मयि भर्त्तरि॥
अत्रौ यथाऽनसूया च जमदग्नौ च रेणुका।
श्रीकृष्णे रुक्मिणी यद्वत्तथा त्वं मयि भर्त्तरि॥ इत्यादि।

जिस प्रकार रामके प्रति सीताका, कश्यपके प्रति विनताका, अग्निके प्रति स्वाहाका, दिलीपके प्रति सुदक्षिणाका, वसुदेवके प्रति देवकीका, अगस्त्यके प्रति लोपामुद्राका, अत्रिके प्रति अनसूयाका, जमदग्निके प्रति रेणुकाका और श्रीकृष्णके प्रति रुक्मिणीका पवित्र भाव है, ऐसा ही वरकन्यामें मधुर पवित्र दाम्पत्य भावके लिये यह प्रार्थना है।

लाजाहुतिके समाप्त होनेपर सप्तपदी गमन होता है। पति एक एक वाक्य कहता है और कन्या एक एक वार पदनिक्षेप करती हुई कुछ कहती है। ये सब वाक्य निम्नलिखित हैं, वरके कहने योग्य वाक्य यथा—ओं एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु। ओं द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु। ओं-त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु। ओं-चत्वारि मायो भवाय विष्णुस्त्वा नयतु। ओं-पंच पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु। ओं-षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु। ओं-सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु॥

हे कन्ये! विष्णुने अन्नलाभके लिये एक पद, बललाभके लिये द्वितीय पद, पञ्चमहायज्ञादि नित्यकर्मके लिये तृतीय पद, सौख्यके लिये चतुर्थ पद, पशुलाभके लिये पञ्चम पद, धनरक्षाके लिये षष्ठ पद, और ऋत्विक् लाभके लिये सप्तम पदका अतिक्रमण कराया। इस समय प्रति पदक्षेपमें कन्या एक एक श्लोक कहती है यथा—

धनं धान्यं च मिष्टान्नं व्यञ्जनाद्यं च यद्गृहे।
मदधीनं च कर्त्तव्यं वधूराद्ये पदे वदेत् ॥
कुटुम्बं रक्षयिष्यामि सदा ते मञ्जुभाषिणी।
दुःखे धीरा सुखे हृष्टा द्वितीये साऽब्रवीद् वचः ॥
पतिभक्तिरता नित्यं क्रीड़िष्यामि त्वया सह।
त्वदन्यं न नरं मंस्ये तृतीये साऽब्रवीदिदम् ॥
लालयामि च केशान्तं गन्धमाल्यानुलेपनैः।
काञ्चनैर्भूषणैस्तुभ्यं तुरीये सा पदे वदेत् ॥
आर्त्ते आर्त्ता भविष्यामि सुखदुःखविभागिनी।
तवाज्ञां पालयिष्यामि पञ्चमे सा पदे वदेत् ॥
यज्ञे होमे च दानादो भविष्यामि त्वया सह।
धर्मार्थकामकार्येषु वधूः षष्ठे पदे वदेत् ॥
अत्रांशे साक्षिणो देवा मनोभावप्रबोधिनः।
वञ्चनं न करिष्यामि सप्तमे सा पदे वदेत् ॥

धन धान्य मिष्टान्न व्यञ्जन आदि जो कुछ घरमें हैं सो सब मेरे अधीन रहेगा। मैं मिष्टभाषिणी, कुटुम्बियोंकी रक्षिका, दुःखमें धीर तथा सुखमें हृष्ट रहूंगी। पतिपरायणा होकर तुम्हारे साथ विहार करूँगी, अन्य किसी पुरुषका मनसे भी चिन्तन न करूँगी। गन्ध, माल्य, लेपन, भूषण आदिके द्वारा तुम्हारा सदा आदर सत्कार करूँगी। मैं तुम्हारे दुःखमें दुःखिनी तथा सुखदुःखकी अंशभागिनी होकर सदा तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगी। यज्ञ, होम दानादिमें तथा सकल प्रकार धर्मार्थकामकार्यमें तुम्हारी साथी बनूँगी। मेरी इन प्रतिज्ञाओंमें अन्तर्यामी देवतागण साक्षी रहें, मैं कभी तुम्हें वञ्चना नहीं करूँगी। यही सब सप्तपदीगमनकालमें स्त्रीकी ओरकी प्रतिज्ञा है, जिसके द्वारा स्त्री अपना गोत्र बदलकर पतिकी ही हो जाती है और विवाहसम्बन्ध दृढ़बद्ध हो जाता है। इसके अनन्तर वरके द्वारा वधूके सिरपर अभिषेक और वधूके द्वारा ध्रुवदर्शनके बाद वरबधूके दहिने कन्धेपरसे हाथ ले जाकर—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

अर्थात् अपना हृदय मेरे काममें लगाओ, अपना चित्त मेरे चित्तके अनुरूप करो। तुम मेरे मनमें अपना मन मिलाकर मेरे वचनकी सेवा करो। बृहस्पति तुमको मुझे प्रसन्न करनेमें प्रवृत्त करें, इस मन्त्रको पढ़कर बधूके हृदय स्पर्श करें। तदनन्तर बधूकी ओर देखता हुआ:—

ओं सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं विपरेतन॥

इस मन्त्रको पढ़े। तदनन्तर देशाचारानुसार वधूको वरके वामांगमें बैठाना होता है। वरके वामांग हुई वधू तदनन्तर सात श्लोकके द्वारा प्रतिज्ञा वचन कहती है। यथा—

तीर्थव्रतोद्यापनयज्ञदानं मया सह त्वं यदि किन्न कुर्य्याः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद वाक्यं प्रथमं कुमारी॥
हव्यप्रदानैरमरान्पितॄंश्च कव्यप्रदानैर्यदि पूजयेथाः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद कन्या वचनं द्वितीयम्॥
कुटुम्बरक्षाभरणे यदि त्वं कुर्याः पशूनां परिपालनं च।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद कन्या वचनं तृतीयम्॥
इत्यादि।

मैं तीर्थ, व्रत, उद्यापन, यज्ञ, दान आदि सभी धर्मकार्यमें तुम्हारी वामांगरूपिणी रहूँगी। हव्यदान द्वारा देवपूजन अथवा कव्यदान द्वारा पितृपूजनमें तुम्हारी वामाङ्गी रहूँगी। कुटुम्ब रक्षा, पशुपालन आदि सभी कार्योंमें तुम्हारी वामांगरूपिणी रहूंगी। इत्यादि-इत्यादि प्रतिज्ञा करनेपर वर उन प्रतिज्ञाओंके स्वीकाररूपसे कहे—

मदीयचित्तानुगतं च चित्तं सदा मदाज्ञापरिपालनञ्च।
पतिव्रता धर्मपरायण त्वं कुर्याः सदा सर्वमिमं प्रयत्नम्॥

तुम पातिव्रत्यधर्मपरायण होकर सदा मद्गतचित्ता, मदाज्ञाकारिणी और प्रतिज्ञानुरूप कार्य करनेमें तत्परा रहो। इस प्रकारसे परस्पर प्रतिज्ञा होनेके बाद 'ओं वाममुद्य सवितर्व्वाममश्वो, इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए वर वधूके सीमन्तमें सिन्दूर लगावे। इसके अनन्तर और कुछ मांगलिक कृत्य होनेके बाद उद्वाह संस्कार समाप्त हो जाता है। यही सब इहलोक परलोकमें तथा निःश्रेयस लाभ-पर्यन्त धर्मजीवनलाभके श्रेष्ठ कारणरूप उद्वाहसंस्कारका परमपवित्रतामय निगूढ़

रहस्य है, जिसके ऊपर सामान्य चिन्तासे ही विचारवान् पुरुष समझ सकेंगे कि, आर्यजातीय विवाहविधिके साथ अन्यजातीय विवाहविधिका कितना अन्तर है और किस महान् लक्ष्यको सामने रखकर पूज्यपाद महर्षियोंने विवाहविधिका प्रवर्त्तन किया है।

यह विषय आश्रमधर्मनामक अध्यायमें पहले ही बताया गया है कि, मन्वादि स्मृतिकारोंने ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये आठ प्रकारके विवाह बताकर प्रथम चार विवाहकी प्रशंसा और अन्तिम चार विवाहोंकी निन्दा की है। ब्रह्मविवाहमें वस्त्रालंकारभूषित कन्याका वरको बुलाकर दान, दैवविवाहमें ऋत्विकको कन्यादान, आर्षविवाहमें वरपक्षसे गौ मिथुन लेकर कन्यादान, असुर विवाहमें धन लेकर कन्यादान, गान्धर्व विवाहमें परस्पर प्रणय द्वारा परिणय, राक्षस विवाहमें हनन आघात आदिके बीचमें कन्याग्रहण इत्यादि इत्यादि सब पहले ही बताये गये हैं। अब कालप्रभावसे अन्य सब विवाह प्रथा नष्ट होकर केवल ब्रह्मविवाहकी रीति ही अधिक प्रचलित देखनेमें आती है और कहीं कहीं आसुर विवाहकी रीति रहनेपर भी उसकी प्रशंसा न होकर निन्दा ही होती है। मनु कश्यपादि ऋषियोंने तो आसुर विवाहकी बहुत ही निन्दा की है—

क्रयक्रीता तु या नारी न सा पत्न्यभिधीयते।
न सा दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कवयो विदुः॥ (कश्यप)

मूल्य देकर जो स्त्री लायी जाती है उसको पत्नी नहीं कहा जा सकता है। उसके द्वारा दैवकार्य या पितृकार्य कुछ भी नहीं हो सकता है। उसको विद्वान्‌गण पत्नी न कहकर दासी ही कहते है। और भी—

कन्याविक्रयिणो मूर्खा रहः किल्बिषकारिणः।
पतन्ति नरके घोरे दहन्त्यासप्तमं कुलम्॥

कन्याविक्रयकारी लोग मूर्ख तथा प्रच्छन्न पापकारी हैं। उनका घोर नरक तथा सात कुल दग्ध होता है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रसे आसुर विवाहकी निन्दा की गई है। राक्षस, पैशाच आदि विवाहकी निन्दा तो शास्त्रमें है ही। किन्तु इतना होनेपर भी 'नाभावो विद्यते सतः' वस्तुसत्ताका नाश न होकर केवल रूपान्तरमात्र होता है, इस सिद्धान्तके अनुसार गौणरूपसे

ब्राह्मविवाहके भीतर भी देशाचार, लोकाचार आदि परम्परासे अन्य सब विवाहके भी कुछ कुछ लक्षण देखनेमें आते हैं। आजकल विवाहकालमें ऋत्विकके समान जो वरपूजाकी विधि प्रचलित है, उसे ब्राह्मविवाहमें दैवविवाहका अन्तर्निवेश कह सकते हैं। ब्राह्मविवाहके अर्हणभागमें विवाहके स्थानमें जो एक गऊ बांध रखनेकी आज्ञा है, उसे आर्ष विवाहका अन्तर्निवेश जानना चाहिये। उसी प्रकार स्थूल उपहास, गाली देना, पत्थर मारना आदि रीति राक्षसविवाहका ही कङ्कालमात्र है। शुभदृष्टि, स्त्री-आचार, वासर-जागरण, आमोद-प्रमोद आदि गान्धर्वविवाहका लक्षण हैं और पितृपक्षसे कन्याके लिये आभूषणादि लेनेकी चेष्टा आसुर विवाहका लक्षण है। इत्यादि रूपसे अष्ट विवाहविधि किसी न किसी प्रकारसे अनुष्ठित हुआ करती है और ब्राह्मविवाहविधि ही सर्वोत्तम है जिसके लिये उद्वाहसंस्कारके अपूर्व रहस्यका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया।

(१३) तेरहवें संस्कारका नाम अग्न्याधान है। इसमें सस्त्रीक सायं प्रातः श्रौताग्नि या स्मार्त्ताग्निमें हवनादि करनेकी विधि है। पहले ही कहा है कि हवन, संस्कार, यज्ञ आदिके नित्यानुष्ठान द्वारा 'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' अर्थात् यह शरीर ब्रह्मबोधानुकूल गुणयुक्त हो जाता है। अग्नि परमपवित्र ऊर्द्ध्वशिखायुक्त तथा देवताओंमें ब्राह्मण है। अतः इसी अग्निकी सेवा करनेसे 'ब्राह्मीतनु' प्राप्तिकी विशेष सम्भावना रहनेके कारण आर्यशास्त्रमें द्विजोंके लिये सस्त्रीक अग्निपरिचर्याका विधान किया गया है। अग्नि परमपवित्र तथा तेजोमय है। इधर विवाहके अनन्तर कामिनी-संसर्गसे विषयवृत्ति बलवती होकर आध्यात्मिक अधोगतिकी सम्भावना भी बलवती हो सकती है। इसी कारण उसी कामिनीके साथ तेजोमय भगवान् पावकको सेवा, सङ्ग तथा आराधनाकी आज्ञा आर्यशास्त्रमें दी गई है, जिससे विषयसङ्ग द्वारा विषय-स्पृहा बलवती न होकर प्रवृत्ति क्षय द्वारा दिन ब दिन निवृत्ति संस्कारकी ही पुष्टि हो सके। प्रवृत्ति मार्गमें धनसम्पत्ति, अन्न, सन्तान, शक्ति, सुख, स्वास्थ्य, वीर्य आदिकी विशेष आवश्यकता रहती है। इन सब वस्तुओंकी प्राप्तिमें देवताओंकी कृपा सापेक्ष है। यथा गीतामें—

'इष्टान् भोगान् वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।'

यज्ञके द्वारा सम्बर्द्धित होकर देवतागण प्रार्थित भोगोंको प्रदान करते हैं, जिनसे गृहस्थाश्रमका अनायास निर्वाह होता है। शास्त्रमें 'अग्निमुखा वै देवाः' अर्थात्

अग्नि ही देवताओंके मुख हैं, अग्निमें आहुति देनेसे ही वह आहुति देवताओंको पहुँच कर मेघ, वृष्टि, अन्न, प्रजा आदि सम्पत्तियोंकी उत्पत्तिकारण बनती है, ऐसा कहा गया है। श्रीभगवान् मनुने भी—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अर्थात् अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यदेवको प्राप्त होती है, और इससे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न तथा अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। ऐसा कह कर 'अग्निमुखा वै देवाः।' इस सिद्धान्तकी ही पुष्टि की है। अतः अग्न्याधान संस्कारके साथ प्रवृत्तिमार्गमें सुविधा, निवृत्तिमार्गकी पोषकता तथा निःश्रेयसका परम्परा सम्बन्ध रहनेके कारण विवाहके अनन्तर ही इस संस्कारका विधान किया गया है। अब संक्षेपसे अग्न्याधानका दिग्दर्शन कराया जाता है।

स्मार्त्ताग्निके आधानको आवसथ्याधान कहते हैं। अच्छे प्रकारसे जिसमें निवास करें, उस घरका नाम आवसथ है। उस गृहसम्बन्धी नैत्यिक स्मार्त्त होम या वैश्वदेव होमादि कर्मोंकी सिद्धिके लिये जो अग्नि स्थापित की जाती है उसका नाम आवसथ्य है। उसका वैधस्थापन आवसथ्याधान नामसे प्रसिद्ध है। इसी अग्निको गृह्य, स्मार्त, औपवसथ्य, वैवाहिक, तथा औपासन भी कहते हैं। श्रौत ग्रन्थोंमें इसका खास नाम औपासन ही है। अग्निस्थापनको अनेक रीतियोंमेंसे अरणिमन्थन द्वारा अग्नि प्रकट करके उसी अग्निका स्थापना ही मुख्य है। दुर्गन्ध आदिसे रहित शुद्ध भूमिमें उत्पन्न शमी वृक्षके साथ जिसकी पिण्डरी मिली हुई हो, ऐसे पीपलकी पूर्व, उत्तर या ऊपरकी ओरकी शाखाको काट कर अधरारणि तथा उत्तरारणि, दोनों बनानी चाहिये यदि इस प्रकार शमीयुक्त अश्वत्थ न मिले, तो केवल अश्वत्थकी भी अरणि बनाई जा सकती है। और इन्हीं अरणियोंके घर्षण द्वारा ही अग्नि उत्पन्न करके अग्न्याधान संस्कार कार्य किया जाता है। वैश्वदेवादि होम अथवा भोजनादि नित्य पाक गृहस्थ द्विजको इसी अग्निमें करना चाहिये। जो अपने माता-पिताका एक ही पुत्र हो वह विवाहसम्बन्धी चतुर्थी कर्मके पश्चात् शीघ्र ही शुभ मुहूर्त्तमें अग्न्याधान करे, और कई भाई हों तो दायभागके समय अपने-अपने घरोंमें आवसथ्याधान करें। यदि दायभाग न हो, तो पिताकी मृत्युके बाद ज्येष्ठ भ्राता गृह्याग्निका आधान करे, ऐसी शास्त्राज्ञा है। आवसथ्याग्निका स्थापन करके उसमें द्विजोंको नित्य नैमित्तिक होमादि अग्निसाध्य

समस्त कर्म, पञ्चमहायज्ञ आदि सभी कृत्य करने चाहिये। आवसाथ्याग्निमें सायं प्रातः होम तथा पक्षादि कर्म कैसे किये जाते हैं, सो पारस्कर गृह्यसूत्रमें वर्णित है, वहीं इसका पूरा प्रकरण देख लेना चाहिये।

अब श्रौताग्निका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। इसी श्रौताग्निमें करणीय कृत्योंको ही—अग्निहोत्र कहते हैं। व्यासस्मृतिमें इसी श्रौताधानको ही त्रेताग्नि संग्रह कहा गया है, क्योंकि गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियोंका संग्रह करना ही इस कर्मका प्रधान उद्देश्य है। कात्यायन कल्पसूपत्रमें श्रौताधानको अग्न्याधेय कहा गया है और उसीमें इसकी विशेष पद्धति द्रष्टव्य है। अमावस्याके दिन इस कर्मका आरम्भ करके प्रतिपदाको प्रधान कर्म समाप्त करना चाहिये या चतुर्दशीको आरम्भ करके पौर्णमासीको समाप्त करना चाहिये। इस तिथ्याधान पक्षमें नक्षत्रकी अपेक्षा नहीं हैं। विशाखा, कृत्तिका, मृगशिरा, रेवती, रोहिणी, पुष्य, ज्येष्ठा, तीनों उत्तरा, माघसे लेकर पांच महीने, श्रावण, आश्विन, मार्गशीर्ष शुक्ल-पक्षमें, मङ्गल और शनिवारको छोड़कर अन्य वारोंमें, मलमास तथा क्षयमासको छोड़के, रिक्ता तिथि और भद्रा न हो, चन्द्रमा अनुकूल हो, ऐसे शुभ मुहूर्त्तके दिन पूर्वाह्णमें श्रौताधान करना चाहिये। श्रौताधान या आवसथ्याधान कर्मके पूर्वमें शरीरेन्द्रियोंकी शुद्धिके लिये यथाशक्ति प्रायश्चित्त करना होता है। और स्वस्ति-वाचन, गणपतिपूजन, मातृकादि देवपूजन सब कुछ पूर्वानुरूप करके तब संकल्प और ब्रह्मावरण करना होता है। और तदनन्तर यथाशास्त्र श्रौताधान संस्कारके सब कार्य किये जाते हैं। आधानके पश्चात् नियत समयपर प्रतिदिन सायं प्रातः अग्निहोत्र करना—ये सब श्रौताधानके अंगीभूत कृत्य हैं। आधानसे लेकर यजमान जन्मभर कभी मिथ्या भाषण न करें, आगत अतिथिको बिना सत्कार न जाने देवें, दुर्गन्धयुक्त तथा गीली लकड़ी अग्निमें न डालें, अग्निहोत्रके लिये लाये हुए जलमेंसे अन्यको न देवें और न स्वयं पीवे, नौकामें जाते समय जल न पीवें, यज्ञशालासे अधिक दूर पत्नी कहीं न जावें, पत्नीके देशान्तर या ग्रामान्तरमें चले जानेपर जब अग्नि नष्ट हो जाय तो प्रायश्चित्तपूर्वक पुनराधान करें, इत्यादि इत्यादि सब श्रौताधानकी विधियाँ हैं। विशेष और विधियाँ मूल कल्पसूत्रादि ग्रंथोंमें द्रष्टव्य हैं। यही श्रुतिस्मृतिविहित अग्न्याधानका दिग्दर्शन है।

(१४-१५) षोड़श संस्कारान्तर्गत चौदहवें तथा पन्द्रहवें संस्कारोंके नाम दीक्षा और महादीक्षा है। गृहस्थाश्रमके नित्य नैमित्तिक कर्म, भावशुद्धि पूर्वक विषयसेवा तथा सस्त्रकी अग्निपरिचर्याके द्वारा प्रवृत्तिसंस्कार जितना-जितना समाप्त होता है, उतना ही गृहस्थाश्रमीके चित्तमें मुमुक्षुताका उदय, निवृत्तिमार्गके प्रति स्पृहा तथा परमात्मभावकी प्रबलता होने लगती है। उस समय यही आवश्यकता होती है कि, कोई सद्‌गुरु प्रकृति, प्रवृति तथा अधिकारको समझकर दीक्षा प्रदान करें, जिससे साधक क्रमशः निवृत्तिपथका पथिक बनकर नित्यानन्दमय ब्रह्मराज्यमें प्रवेश कर सके। इसी कारण अग्न्याधानके अनन्तर प्रथमतः दीक्षा और परिपक्व दशामें महादीक्षा नामक दोनों संस्कारोंका विधान आर्यशास्त्रमें किया गया है। जब गुरुदेव कृपा करके शिष्यको देवता तथा मन्त्रका उपदेश देते हैं, तब उस प्रक्रियाको दीक्षा कहते हैं। और दीक्षाके अनन्तर जब साधकको उत्तम अधिकारी जानकर श्रीगुरुदेव साधनके साथ गुरुलक्ष्ययुक्त विशेष विशेष योगक्रियाओंका उपदेश देना प्रारम्भ करते हैं और शिष्यको प्रतिज्ञाबद्ध कर दिया करते हैं, तो वह दूसरा उन्नत अधिकार महादीक्षा कहलाता है। इस प्रकारसे दीक्षा तथा महादीक्षा लाभ करके आध्यात्मिक राज्यमें द्रुतपद अग्रसर होते होते अन्तमें जब साधक निवृत्तिकी पराकाष्ठा तथा योगारूढ़ पदवीपर प्रतिष्ठित होने लगता है, तभी सोलहवें अर्थात् अन्तिम संस्कार संन्यासका अधिकार उसे प्राप्त हो जाता है। दीक्षा और महादीक्षाके विषयमें पूर्ववर्णित मन्त्रयोग नामक अध्याय, मन्त्रयोगसंहिता तथा अन्यान्य तन्त्र ग्रन्थ और योगशास्त्रीय ग्रन्थोंमें बहुत कुछ वर्णन किया गया है, विशेषतः ये सब साधनसम्बन्धीय विषय होनेसे बहुत ही गोपनीय तथा केवलमात्र गुरुमुखवेद्य होते हैं, इस कारण यहाँ पर इनके विस्तारित वर्णन नहीं किये गये।

(१६) अन्तिम अर्थात् सोलहवें संस्कारका नाम संन्यास है। श्रुतिमें लिखा है—'पुत्रैषणाया वित्तैषणाया लौकैषणायाा व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।' सन्तानादि वासना, सम्पत्ति कामना तथा यशोलिप्साके आमूल नाशको प्राप्त होनेपर साधकमें संन्यासकी योग्यता होती है। पहले ही कहा गया है कि, षोड़श संस्कारोंमेंसे प्रथम आठ प्रवृत्तिरोधक और द्वितीय आठ निवृत्तिपोषक हैं। निवृत्तिपोषकताकी पराकाष्ठामें ही संन्यास है। यथा श्रुतिमें—'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः। सकामकर्म, प्रजोत्पत्ति या

धनके द्वारा नहीं, किन्तु त्यागके द्वारा ही अनेक साधकोंने अमृत पद प्राप्त कर लिया है। संन्यासकी सिद्धि में इसी अमृतपदकी प्राप्ति होती है। सो कैसे होता है इसके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है। यथा—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

पुण्यसंस्कारोंके उदयसे पाप संस्कार क्षीण हो जाते हैं। इन्द्रिय तथा मनके संयमसे अन्तःकरण आत्मामें लवलीन हो जाता है। भूतकल्याणमें रति रहनेसे स्वार्थनाश, उदारताकी वृद्धि, और जीवसेवारूपसे व्यापक ब्रह्मकी पूजा द्वारा अन्तःकरण भी व्यापक परमात्मामें प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकारसे हृदयका द्विधा-भाव नाश होकर अद्वैत भावमें साधककी चिर प्रतिष्ठा जब हो जाती है, तभी योगारूढ़ जीवन्मुक्त महात्मा ब्रह्मनिर्वाणपदको लाभ करते हैं। यही श्रीगीतामें भगवान्‌का उपदेश है। संन्यास दशामें आवङ्मनसगोचर अव्यक्त अनिर्वचनीय निर्गुण निराकार देशकाल वस्तुसे अपरिच्छिन्न सर्वतो व्याप्त ब्रह्मकी ही राजयोगोक्त उपासना है और क्रमशः उपास्य उपासकभावके एकीकरण द्वारा, ज्ञाताज्ञानज्ञेयरूपी त्रिपुटिके लय-साधन द्वारा निर्विकल्पसमाधिमें स्थिति है। वह कैसे सम्भव हो सकता है, इसका रहस्यवर्णन गीताके द्वादशाध्यायमें किया गया है। यथा—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

जो साधक निर्देशसे अतीत, चिन्तासे अतीत, सर्वव्यापक, अव्यक्त, कूटस्थ, निश्चल, ध्रुव, अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे भी उन्हींको पाते हैं। किन्तु उनको उपलब्धिके लिये इन्द्रियोंका विशेष निरोध, चित्तवृत्ति निरोध, सर्वत्र सम-बुद्धिता और सकल जीवोंके हितमें रतिकी आवश्यकता होती है। उपासना अर्थात् योगके द्वारा इन्द्रियनिरोध तथा चित्तवृत्तिनिरोध होता है, ज्ञान द्वारा समबुद्धिता उत्पन्न होती है और निष्काम कर्मयोग द्वारा भूतसेवा तथा ब्रह्मपूजा होती है। अतः कर्म उपासना ज्ञान तीनोंके सामञ्जस्यानुसार प्रयोग द्वारा ही निर्गुण ब्रह्मकी

उपलब्धि, निर्विकल्प पदवी पर आत्यन्तिकी स्थिति तथा शिवपदप्राप्ति श्रीभगवान्के वचनानुसार सिद्ध हुई। यही संन्याससंस्कारका अन्तिम लक्ष्य तथा मनुष्यजीवनका भी अन्तिम लक्ष्य है। 'आश्रमधर्म' नामक पूर्ववर्णित अध्यायमें सन्न्यासाश्रमके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है, इसलिये यहाँ पर पुनरुक्ति नहीं की गई। संन्यास संस्कारके अन्तर्गत विरजाहोम आदि विधियाँ बहुत ही गुप्त तथा गुरुमुखवेद्य होनेके कारण इनकाभी वर्णन नहीं किया गया।

यही जीवत्वविलय द्वारा क्रमशः शिवत्वलाभ करानेके लिये श्रुतिस्मृति आदि आर्यशास्त्रोंमें वर्णित षोड़श संस्कारका अपूर्व रहस्य है।

सप्तमकाण्डकी द्वितीयशाखा समाप्त हुई।



श्राद्ध-तर्पण

ऋषिदेवपितृतत्त्व तथा परलोक-समीक्षा नामक पूर्व वर्णित अध्यायोंमें नित्यनैमित्तिक पितरोंके स्वरूप तथा निवासस्थानके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है। अब इस अध्यायमें उनकी प्रसन्नता तथा सम्बर्द्धनके निमित्त अनुष्ठित श्राद्ध तथा तर्पणके विषयमें कुछ कहा जाता है। इसमें प्रथम श्राद्धके विषयमें वर्णन करके पश्चात् तर्पणके विषयमें वर्णन किया जायगा। मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है—

यद्द यद्द ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥

सम्यक श्रद्धासे युक्त होकर विधिपूर्वक पितरोंको जो कुछ दिया जाता है, उससे परलोकमें उनको अक्षय अनन्त तृप्ति होती है। श्रद्धाके साथ पितरोंको इस प्रकार दान ही श्राद्ध शब्द वाच्य है।

महर्षि पराशरने भी कहा है—

देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत्।
तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च श्राद्धं स्याच्छ्द्धया युतम्॥

देश, काल, पात्रविचारसे हविष्यादि विधिके साथ श्रद्धायुक्त होकर तिल, दर्भ, मन्त्रोंकी सहायतासे जो कृत्य किया जाता है, उसको श्राद्ध कहते हैं,। इसी प्रकार ब्रह्मपुराणमें भी लिखा है—

देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्।
पितॄनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम्॥

देश, काल पात्रमें श्रद्धा तथा विधिके साथ पितरोंके उद्देश्योंसे जो कुछ ब्राह्मणोंको दिया जाय, उसे श्राद्ध कहते हैं। मरीचि ऋषिने भी लिखा है :—

प्रेतान् पितॄंश्च निर्द्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्त्तितम्॥

प्रेत तथा मृत पितरोंके निमित्त अपना प्रिय भोजन जिसमें श्रद्धाके साथ दिया जाय, उस कर्मको श्राद्ध कहते हैं। यही सब श्राद्धका शास्त्रीय लक्षण है।

श्राद्धकृत्यके मूलमें श्रद्धा तथा कृतज्ञताका ही मधुर गम्भीर भाव है। जिन पितरोंकी कृपासे यह मुक्ति—साधक परमदुर्लभ मानवदेह प्राप्त हुआ, जिन्होंने अनन्त कष्ट सहकर भी हमें असीम आनन्द प्रदान किया, स्वयं बुभुक्षु रहकर भी हमें भोजन दिया, हृदयके अमृतसे हमारा पालन पोषण किया, सुन्दर संस्कारका मनोरम मुख हमें दिखा दिया, हमारी निखिल उन्नतिके लिये प्राणपणसे प्रयत्न किया, उनके प्रति कृतज्ञ न होना, परलोकमें उनकी प्रसन्नता, शान्ति तथा आध्यात्मिक उन्नतिके लिये यथाशक्ति अनुष्ठान न करना, कमसे कम उनके आत्माको स्मरण करके एक विन्दु अश्रुपात भी न करना केवल मनुष्यभावसे अधम नहीं, बल्कि पशुभावसे भी अधमाधम महापराध हे, इसमें अणुमात्र संशय नहीं है। इसीलिये आर्यशास्त्रमें सकल पापोंसे कृतघ्नताको अति अधम पाप कहा गया है। यथा—

नास्तिकस्य कृतघ्नस्य धर्मोपेक्षारतस्य च।
विश्वासघातकस्यापि निष्कृतिर्नैव सुव्रते॥

नस्तिक, कृतघ्न, धर्मके प्रति सदा उपेक्षापरायण और विश्वासघातक— इनके पापकी निष्कृति नहीं है। यही कारण है कि, अपनी धार्मिक स्थिति तथा अधिकार तारतम्यानुसार अन्य धर्मावलम्बियोंके भीतर भी किसी न किसी प्रकारसे श्राद्धकृत्यकी तरह अनेक कृत्य किये जाते हैं। ख्रीष्ट धर्मावलम्बी,—विशेष कर कैथलिक सम्प्रदायके लोग अपने पिता, माता, भ्राता, पत्नी, पति और पुत्र कन्या आदिके समाधिस्थानमें जाते हैं और कब्र या समाधिके ऊपर फूल बर्साते हैं, शोक करते हैं तथा ईश्वरके निकट मृत व्यक्तियोंके लिये अक्षय स्वर्गकी प्रार्थना करते हैं। मुसलमानोंमें भी मृत-व्यक्तिकी समाधिके समीप ईश्वरसे प्रर्थना करना तथा कुरान पढ़ना विशेष सत्कार्य कहकर प्रशंसित है और ऐसा करना मृत-व्यक्तिकी भी सद्गतिके लिये सहायक समझा जाता है। इसी भावके आधारपर ही मुसलमान लोग कबरपर बड़े-बड़े मकान बनाते हैं। बौद्धलोगोंमें चीन, जापान, ब्रह्मादि देशोंमें अत्यन्त अधिकताके साथ श्राद्धकृत्य किया जाता है। उनमें आद्यश्राद्ध, नव-मासिक श्राद्ध, वार्षिक श्राद्ध आदि अनेक प्रकारके श्राद्ध प्रचलित हैं और उनमें भूरिदान, गाना-बजाना-नाचना, विलाप कीर्त्तन आदि यथेष्टरूपसे किया जाता है। बौद्ध देशमें पितृपुरुषोंके नामपर स्थापित भवनोंकी कीर्त्तिका अभाव नहीं है। किन्तु बौद्धजातीय लोगोंमें कोई भी अन्य किसीको मृत-व्यक्तिका प्रति-

निधि नहीं कल्पित करता। वे जो कुछ भोजन वस्त्र आदि देते हैं, सो साक्षात् पितृपुरुषके जीवात्माको ही देते हैं। ऐसा समझकर देते हैं, जैसे वही मृत व्यक्ति साक्षात् प्रत्यक्ष हुआ है और वह जैसे कोई आज्ञा या उपदेश देगा—श्राद्धकर्त्ताको अपने मुख और नेत्रोंकी ऐसी ही भावभंगी कर अत्यन्त नम्र तथा संयत रहना होता है।

इस प्रकार अन्यान्य धर्मोंके माननेवालोंके भीतर भी अपने अपने अधिकारके अनुसार कृतज्ञतासूचक श्राद्धकृत्य जैसे कृत्योंके द्वारा पितृगणके प्रसन्नता विधानकी विधियां देखी जाती हैं। आर्यजाति तथा आर्यशास्त्रमें अन्तर्दृष्टि और दैवदृष्टिकी अधिकताके कारण श्राद्धविधिमें भी व्यापकताका विशेष अवकाश रक्खा गया है। तदनुसार आर्यशास्त्रसम्मत श्राद्धतर्पणकृत्यमें पितरोंके तृप्तिसाधनके अतिरिक्त व्यष्टिसत्ताके साथ समष्टि-सत्ताके एकीकरण विषयक अनेक विधान देखनेमें आते हैं। जब मृत्युलोक ऊपर-नीचेके समस्त लोकोंके बीचमें है और कर्मकेन्द्रस्वरूप होनेसे इसीमें अनुष्ठित उत्तमाधम कर्मोंके फलसे स्थूल सूक्ष्म समस्त लोकोंमें जीवोंका आवागमन बना रहता है, तो स्वभावतः समस्त लोकवासी जीवोंके साथ तथा ऋषिदेवपितरोंके साथ प्रत्येक मनुष्यका आदानप्रदान सम्बन्ध है। इसी आदानप्रदान सम्बन्धको

'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'

इस गीतोक्त सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य जितना बनाये रक्खेगा, उतना ही वह इहपारलौकिक कल्याणका अधिकारी, निरामय, स्वास्थ्यवीर्यवान्, दीर्घायु, सुखी, दैवकृपासम्पन्न तथा आध्यात्मिक उन्नतिपथमें अग्रसर होता रहेगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इसी कारण ज्ञानदृष्टिसम्पन्न पूर्णप्रज्ञ महर्षियोंने श्राद्ध, तर्पण तथा पञ्चमहायज्ञादि नित्यकृत्योंमें व्यष्टि समष्टिकी एकताविधायिनी विविध विधियोंका अवश्य कर्त्तव्यरूपसे निर्देश किया है। यही कारण है कि श्राद्ध तथा तर्पणमें नित्यनैमित्तिक पितरोंके तृप्तिसाधनके अतिरिक्त अनेक देवता, यज्ञेश्वर विष्णु, ऋषिगण, वास्तु देवता, गंगा तथा अन्याय भूतोंकी तृप्तिके अर्थ भी अन्न जलादि प्रदानकी विधि है। सो कैसे है, नीचे क्रमशः बताया जाता है।

वेदमें परलोकगत नैमित्तिक पितर तथा नित्य पितरोंका आवाहन, श्राद्धादि द्वारा उनकी सम्बर्द्धना आदिके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। कठोपनिषद्में नाचिकेत उपाख्यान वर्णनके अनन्तर कहा गया है—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥

अति गूढ़ नाचिकेत उपाख्यानको ब्रह्मनिरत पुरुषोंकी सभामें तथा श्राद्धके समयमें संयत होकर सुनानेसे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है। पिण्डोपनिषद्में लिखा हैं—

देवता ऋषयः सर्वे ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ।
मृतस्य दीयते पिण्डः कथं गृह्णन्त्यचेतसः ॥
भिन्ने पञ्चात्मके देहे गते पञ्चसु पञ्चधा ।
हंसस्त्यक्त्वा गतो देहं कस्मिन् स्थाने व्यवस्थितः ॥

देवता तथा ऋषियोंने भगवान् ब्रह्मासे पूछा कि, मृतपितरोंको जो श्राद्धमें पिण्ड दिया जाता है, वे कैसे उसको ले सकते हैं और पञ्चभूतात्मक देह जब भूतपञ्चकमें मिल जाता है, तो जीवात्मा और सूक्ष्मशरीरका निवास कहां होता है। इन सब प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध होता है कि, श्राद्धकृत्य वेदानुमोदित वैदिक कृत्य है और मृत पितरोंके ही श्राद्ध होते हैं, जीवित पितरोंके नहीं, जैसा कि, कहीं कहीं भ्रान्तिसे कल्पना की जाती है। श्राद्धके लक्षणके विषयमें महर्षि पराशर तथा मरीचिके जो वचन उद्धृत किये गये हैं, उससे भी श्राद्धकृत्यके साथ मृत पितरोंका ही स्पष्ट सम्बन्ध प्रमाणित होता है। अथर्ववेदमें लिखा है—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आवह पितृन्हविषे अत्तवे ॥ (१-३४)

हे अग्ने ! जो पितर गाड़े गये, जो पड़े रह गये, जो अग्निमें जला दिये गये और जो फेंके गये, उन सबको हविर्भक्षणके लिये बुला लाओ, यजुर्वेदके १९।६७ में लिखा है—

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्मयाँ २ ।
उ च न प्रविद्म त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः
स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥

जो पितर इस लोकमें हैं, जो इस लोकमें नहीं हैं, जिनको हम जानते हैं और जिनको नहीं जानते, हे सर्वज्ञ अग्ने ! उनको तुम जानते हो, सो आप पितरोंके अन्नसे शुभ यज्ञको सेवन करो। उसी वेद के १९।५८ में लिखा है—

आयान्तु नः पितरस्सोम्यासोऽग्निष्वात्ता पथिभिर्देवयानैः ।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥

हमारे पितर देवताओंके गमनयोग्य मार्गसे आवें, इस यज्ञमें अन्नसे प्रसन्न होकर बोलें और हमारी रक्षा करें। अथर्ववेदके १८।४।८०।७९ में लिखा है—

स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः स्वधा पितृभ्यः।
अन्तरिक्षषद्भ्यः स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥

जो पितर पृथिवीमें हैं, उनके लिये, जो आन्तरिक्षमें हैं उनके लिये और जो स्वर्गमें हैं उनके लिये स्वधा कव्य देता हूँ। और भी अथर्ववेदमें—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
त्वं तान् वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥

जो अग्निमें दग्ध हुए और अग्निमें दग्ध नहीं हुए द्युवलोकके मध्यमें अमृत-रूप अन्नसे प्रसन्न हैं, हे अग्ने ! तुम उनको जानते हो, वे तुम्हारे द्वारा अन्न-सेवन करें।

श्राद्धप्रकरणमें मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है—

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥
पिता यस्य तु वृत्तः स्याज्जीवेद्वापि पितामहः।
पितुः स नाम सङ्कीर्त्य कीर्त्तयेत् प्रपितामहम् ॥
पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥
तेषां दत्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम्।
तत् पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवम् ॥
पाणिभ्यान्तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्द्धितम्।
विप्रान्तिके पितॄन् ध्यायञ्छनकैरुपनिक्षिपेत् ॥
अक्रोधनान् सुप्रसादान् वदन्त्येतान् पुरातनान्।
लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥
यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥

पिताके जीवित रहनेपर पितामहादि तीन पुरुषोंका श्राद्ध करना चाहिये, अथवा पितृब्राह्मणरूपसे अपने पिताको भोजनदान और पितामह प्रपितामहको पिण्ड-दान कर सकते हैं। यदि पिता मृत हो और पितामह जीवित हो, तो पिताका श्राद्ध करके पश्चात् प्रपितामहका श्राद्ध करना चाहिये। इसमें जीवित पितामह प्रपितामह ब्राह्मणरूपसे भोजन करेंगे, अथवा आज्ञा लेकर पौत्र स्वयं श्राद्धकर्मको करेंगे। तदनन्तर ब्राह्मणोंके हाथमें दर्भ और तिलयुक्त, जलयुक्त जल देकर पूर्वोक्त पिण्डाग्रको 'पित्रे, स्वधास्तु' कहकर उन्हें समर्पण करना चाहिये। उसके बाद दोनों हाथोंसे अन्नपूर्ण पात्रको ग्रहण करके पितरोंका ध्यान करते हुए ब्राह्मणोंके समीप भोजनार्थ उस अन्नको रखना चाहिये। महर्षियोंने क्रोधहीन, सुप्रसन्न, सृष्टिप्रवाहमें पुरातन लोककल्याणनिरत् द्विजोत्तम ब्राह्मणोंको ही श्राद्धकृत्यके पात्रभूत देवता करके निर्देश किया है। जबतक अन्न उष्ण रहता है, ब्राह्मणगण संयतवाक् होकर भोजन करते हैं, और अन्नका गुणागुण नहीं कहा जाता है, तबतक पितृगण ब्राह्मणमुखसे अन्न भोजन करते हैं। इन सब प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्ध होता है कि, मृत पितरोंके निमित्त ही श्राद्ध किया जाता हैं, जीवित पितरोंके निमित्त नहीं, और श्राद्धमें ब्राह्मणभोजन मुख्य कार्य है, क्योंकि ब्राह्मणोंके द्वारा ही पितृगण श्राद्धान्न ग्रहण करते हैं।

अब श्राद्धकृत्यके विषयमें कुछ विशेषरूपसे बताया जाता है। श्राद्धकृत्यके अनेक अंग होते हैं। यथा—पार्वण श्राद्ध, एकोद्दिष्ट श्राद्ध, इष्टि श्राद्ध, अष्टका श्राद्ध, नान्दीमुख श्राद्ध इत्यादि।

एकोद्दिष्ट श्राद्धके विषयमें श्रीमनुजीने कहा है—

'एकमुद्दिश्य यच्छ्राद्धमेकोद्दिष्टं प्रकीर्त्तितम्।'

एक पितृके उद्देश्यसे किया हुआ श्राद्ध एकोद्दिष्ट कहलाता है। पार्वण श्राद्धमें तीन पितरोंके अर्थात् पिता, पितामह, प्रपितामहके श्राद्ध होते हैं। यथा—

"त्रीनुद्दिश्य तु यच्छ्राद्धं पार्वणं मुनयो विदुः"

यज्ञारम्भमें करणीय श्राद्ध इष्टिश्राद्ध कहलाता है। पौष बदी अष्टमी माघ वदी अष्टमी और फाल्गुन वदी अष्टमीमें करणीय श्राद्धको अष्टकाश्राद्ध कहते हैं।

नान्दी मुख श्राद्धके विषयमें षोड़शसंस्कार प्रकरणमें पहले ही कुछ कहा गया है। ब्रह्मपुराणमें नान्दीमुख पितरोंके विषयमें लिखा है—

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
त्रयो ह्यश्रुमुखा ह्येते पितरः सम्प्रकीर्त्तिताः॥
तेभ्यः परतरा ये च प्रजावन्तः सुखैधिताः।
ते तु नान्दीमुखा नान्दी समृद्धिरिति कथ्यते॥

पिता, पितामह और प्रपितामह अश्रुमुख पितर कहलाते हैं। इनसे परे प्रजावान्, सुखी पितृगण नान्दीमुख पितर कहे जाते हैं। नान्दी शब्दका अर्थ समृद्धि है। नान्दीमुख श्राद्धमें नान्दीमुख पितरोंकी सम्वर्द्धना होती है। इसके सिवाय—

माता पितामही चैव तथैव प्रपितामही।
पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः॥
मातामहस्तत्पिता च प्रमातामहकस्तथा।
एते भवन्तु सुप्रीताः प्रयच्छन्तु च मङ्गलम्॥

इत्यादि प्रमाणोंके अनुसार भिन्न-भिन्न श्रद्धाङ्गमें माता, मातामही, पितामही आदिके भी श्राद्ध किये जाते हैं। किन्तु नित्य पितरोंके नामसे श्राद्ध हो या नैमित्तिक पितरोंके नामसे, पितृश्राद्धके पहले यज्ञरक्षार्थ विश्वेदेवा आदि देवताओंके आवाहन पूजन अवश्य होते हैं। मनुसंहिताके तृतीय अध्यायमें लिखा है—

दैवकार्याद्द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं स्मृतम्॥
तेषामारक्षभूतन्तु पूर्वं दैवं नियोजयेत्।
रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम्॥
पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः॥

द्विजगणके दैवकार्यसे पितृकर्मका अनुष्ठान विशेष रूपसे करना चाहिये, क्योंकि दैवकार्य पितृकार्याङ्गका परिपोषक है। पितृकार्यके रक्षाकारी होनेके कारण वैश्वदेव आवाहनादि दैवकार्य प्रथम करने होते है, क्योंकि राक्षसगण देवताओंके द्वारा अरक्षित श्राद्धको नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं। इसी कारण विश्वदेवा आदि देवताओंके श्राद्ध कृत्यके आदिमें आवाहन और अन्तमें

विसर्जन करना होता है। जो श्राद्धकर्त्ता ऐसा न करके पित्राद्यन्त क्रिया करता है वह श्राद्धविघ्नहेतु सवंश नाश प्राप्त होता है। इसी प्रकार महर्षि देवलने भी कहा है—

यत् तत्र क्रियते कर्म पैतृके ब्राह्मणान् प्रति।
तत् सर्वं तत्र कर्त्तव्यं वैश्वदेविकपूर्वकम्॥

वैश्वदेवकर्म प्रथम करके पश्चात् पितृब्राह्मणके प्रति विहित समस्त कृत्योंको करना चाहिये। महर्षि शालङ्कायनने भी कहा है—

'श्राद्धात् प्रागेव कुर्वीत वैश्वदेवं तु साग्निकः।'

साग्निक कर्त्ताके श्राद्धको पहले वैश्वदेवकृत्य करना चाहिये। अब वह वैश्वदेव कौन हैं सो विचार करने योग्य है। शास्त्रमें लिखा है—

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु!
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

अर्थात् जिनके स्मरण तथा नामोच्चारणसे तपयज्ञक्रियादिकी सकल न्यूनता पूरी हो जाती है, ऐसे विष्णु भगवान्की वन्दना करते हैं ऐसा कहकर पश्चात्—

देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च।
नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव नमोनमः॥

देवतागण, पितृगण, स्वाहा और स्वधा इनको नित्य प्रणाम करते हैं, इस श्लोकको तीन बार पढ़ना चाहिये। इन दोनों श्लोकोंसे यही प्रमाणित होता है कि, प्रथमतः सर्वयज्ञेश्वर हरिका स्मरण, तदनन्तर विश्वदेवा आदि देवताओंका आवाहन पूजन और तदनन्तर पितरोंका सम्बर्द्धन इसी क्रमसे श्राद्धकृत्य किया जाता है। विश्वेदेवागण श्राद्धकी अधिष्ठात्री शक्तियोंकासमूह हैं। इसी कारण श्राद्धकृत्यमें करण या रक्षकरूपसे इनका आवाहन होता है। इनकी उत्पत्तिके विषयमें लिखा है—

विश्वायां दक्षकन्यायां जाता धर्मान्महात्मनः।
विश्वेदेवा इति ख्याता देववर्या महाबलाः॥
शक्रेण सह योद्धॄणां विजेतारस्तु रक्षसाम्।
यन्नामस्मरणादेव प्रद्रवन्त्यसुराः क्षणात्॥

विश्वानाम्नी दक्षकन्यामें धर्मराजके द्वारा महाबल सम्पन्न विश्वेदेवा

नामक उत्तम देवताओंकी उत्पत्ति हुई है। उन्होंने इन्द्रशत्रु राक्षसों पर विजय-लाभ किया था। इनके नाममात्र स्मरणसे क्षणमें ही असुरगण पलायन करते हैं। इनके श्रेणिभेदके लिये शास्त्रमें लिखा है—

वसुसत्यौ क्रतुदक्षौ कामकालौ धुरिलोचनौ।
पुरूरवा माद्रवाश्च विश्वेदेवाः प्रकीर्त्तिताः॥

वसु सत्य, क्रतु, दक्ष, कामकाल, धुरिलोचन, पुरूरवा और माद्रव येही सब विश्वेदेवाके श्रेणिभेद हैं। इन्हींका श्राद्धमें आवाहन होता है यथा—

आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबला।
ये यत्र विहिताः श्राद्धे सावधाना भवन्तु ते॥

महाभाग महाबली विश्वेदेवागण यहां आवें और श्राद्धमें जिस स्थानपर जिनका विधान है वहां वे सावधानताके साथ अवस्थित हो जावें। उनका प्रयोजन किस श्राद्धमें किस प्रकारका है इसके विषयमें आदित्य पुराणमें लिखा है—

विश्वेदेवौ क्रतुर्दक्षः सर्वास्विष्टिषु कीर्त्तितौ।
नित्यं नान्दीमुखे श्राद्धे वसुसत्यौ च पैतृके॥
नवान्नलम्भने देवौ कामकालौ सदैव हि।
अपिकन्यागते सूर्ये काम्ये च धूरिलोचनौ॥
पुरूरवमाद्रवौ च विश्वेदेवास्तु पार्वणे॥

इष्टि श्राद्धमें क्रतु और दक्षका, नान्दीमुख श्राद्धमें वसु और सत्यका, नैमित्तिक श्राद्धमें काम और कालका, काम्य श्राद्धमें धुरि और लोचनका तथा पार्वण श्राद्धमें पुरुखा और माद्रवका विशेष अधिकार है। इन सब प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध हुआ कि, विश्वेदेवागण श्राद्धरक्षक हैं और इसी कारण पितृश्राद्धके पहले ही श्राद्धरक्षार्थ इनका आवाहन और पश्चात् विसर्जन करनेकी विधि आर्यशत्स्त्र में पाई जाती है।

इस प्रकार देवकृत्यके अनन्तर पितृकृत्य प्रारम्भ किये जाते हैं। इसमें नित्य नैमित्तिक दोनों प्रकारके पितरोंका ही आवाहन पूजन होता है। नित्य नैमित्तिक पितरोंके स्वरूप, जातिविभाग, श्रेणिविभाग आदिके विषयमें 'ऋषि-देवपितृतत्त्व' नामक अध्याय तथा 'परलोक समीक्षा' नामक अध्यायमें विशेष वर्णन किया गया है। श्राद्धमें इन्हींका आवाहन होता है। मनुसंहिताके तृतियाध्यायमें लिखा है—

वसून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्त्वादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥

महर्षिगण पितृगणको वसु, पितामहगणको रुद्र और प्रपितामहगणको आदित्य कहते हैं। पितरोंका यह देवभाव श्रुतियोंमें भी वर्णित है। अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य ये प्रधान लोकपाल देवतागण हैं। पितृलोकवासी पितृगण ऐसे देवता कैसे कहे जा सकते हैं, इस विषयमें मतभेद है। किसी किसीकी राय है कि, मानवदेहधारी पूर्वपुरुषगण उद्‌र्ध्वगतिको पाकर इन देवताओंके रूपको प्राप्त करते हैं। इसी कारण उनकी पूजा वसु, रुद्र तथा आदित्य-रूपसे होती है। इनके रूप यथा—

प्रसन्नवदनाः सौम्या वरदा शक्तिपाणयः ।
पद्मासनस्था द्विभुजा वासवोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः ॥
करे त्रिशूलिनो वामे दक्षिणे चाक्षमालिनः ।
एकादश प्रकर्त्तव्या रुद्रास्त्र्यक्षेन्दुमौलयः ॥
पद्मासनस्था द्विभुजः पद्मगर्भाङ्गकान्तयः ।
करादिस्कन्धपर्यन्तं नालपङ्कजधारिणः ॥
इन्द्राद्या द्वादशादित्यास्तेजोमण्डलमध्यगा ॥

प्रसन्नमुख, सौम्य, वर देनेवाले, हाथमें शक्ति लिये हुए, पद्मासनस्थित और द्विभुज ये अष्ट वसुके रूप हैं। वामहस्तमें त्रिशूल, दक्षिण हस्तमें अक्षमाला, चन्द्रचूड़ और त्रिलोचन ये ग्यारह रुद्रके रूप हैं। पद्मासनस्थित, द्विभुज, पद्मगर्भकी तरह अरुणवर्ण, करसे स्कन्धपर्यन्त कमलनालसहित कमलधारणकारी ये सब सूर्यमण्डल-वर्त्ती द्वादश आदित्यके रूप हैं। पिता पितामह प्रपितामह इन्हीं रूपोंको पाकर पूजित होते हैं, ऐसा एक पक्षका मत है। किन्तु मेधातिथि आदिकोंने इस मतको नहीं माना है। उन्होंने लिखा है—

पितृद्वेषान्नास्तिक्याद्वा य पितृकर्मणि न प्रवर्त्तते तम् ।
प्रत्युतत्प्रवर्त्तनार्थं देवतात्वाध्यारोपेण पितॄणां स्तुतिवचनम् ॥

पितरोंके प्रति द्वेष या नास्तिक्यबुद्धिके कारण जो लोग पितृकर्मको नहीं करते, उनके हृदयमें इस कार्यके लिये श्रद्धा उत्पन्न करनेके अर्थ वसु आदि देवताओंका अध्यारोप करके पितरोंकी पूज्यता बताई गई है। वसु आदि लोकपालगण तथा नैमित्तिक पितरोंके अवयव और वासस्थानमें अनेक

प्रभेद होनेके कारण मेधातिथिकी मीमांसा ही समीचीन जान पड़ती है, अर्यमा अग्निष्वात्ता आदि नित्य पितरोंके विषयमें पहले ही कहा गया है, अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

शास्त्रमें श्राद्धकालके विषयमें बहुत कुछ विचार किया गया है। इसमें पितरोंका निवासस्थान तथा पितृलोकका कालप्रमाण ही मुख्य कारण है। शास्त्रमें लिखा है—'विधूर्द्ध्वलोके पितरो वसन्ति' पितृगण चन्द्रमण्डलके ऊर्द्ध्वभागमें बसते हैं। चन्द्रलोक जलमय है, इस कारण पितृगणके निवासस्थानके विषयमें श्रीमद्भागवतके ५ स्कन्धमें भी कहा है—

'उपरिष्टाच्च जलाद् यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा निवसन्ति।'

जलमय लोकके ऊर्द्ध्वदेशमें अग्निष्वात्तादि पितृगण निवास करते हैं।

चन्द्रमण्डलमें रहनेके कारण हमारा एक महीना पितृलोकका एक दिन है। इसी विचारके अनुसार हम लोगोंकी अमावास्या पितृलोकका मध्याह्न है और इसी कारण अमावास्या तिथि उसके आस पासकी तिथियाँ तथा अपराह्ण काल ही पितृभोजन देनेका अर्थात् श्राद्ध करनेका मुख्यकालरूपसे निर्दिष्ट हुआ है। यथा मनुसंहितामें—

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम्।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः॥
युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान् कामान् समश्नुते।
अयुक्षु तु पितॄन् सर्वान् प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम्॥
यथा चौवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद् विशिष्यते।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते॥
रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्त्तिता हि सा।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते॥

चतुर्दशीको छोड़कर कृष्णपक्षकी दशमीसे अमावास्यापर्यन्त तिथियाँ श्राद्धकार्यमें जितनी प्रशस्त हैं, इतनी प्रतिपदादि तिथियाँ नहीं हैं। द्वितीय चतुर्थी आदि युग्मतिथि तथा भरणी रोहिणी आदि युग्मनक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे सब कामना सिद्ध होती हैं और तृतीया पञ्चमी आदि अयुग्मतिति तथा अश्विनी कृत्तिकादि अयुग्म नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे उत्तम सन्तति प्राप्त होती है। श्राद्धके लिये शुक्लपक्षसे कृष्णपक्ष जिस प्रकार विशेष फलदायक है, उसी प्रकार पूर्वाह्णसे अपराह्ण भी विशेष फलदायक है। हेमाद्रिमें भी लिखा है—

पूर्वाह्णिकास्तु तिथयो देवकार्ये फलप्रदाः ।
तथापराह्णिका ज्ञेया पितृकार्ये शुभप्रदाः ॥

पूर्वाह्ण दैवकार्यमें और अपराह्ण पितृकार्यमें शुभफलदायी होता है। महर्षि हारीतने भी कहा है ।

अपराह्णः पितृणांतु याऽपराह्णानुयायिनी ।
सा ग्राह्या पितृकार्ये तु न पूर्वाह्णानुयायिनी ॥

अपराह्णकाल पितरोंका है, इस कारण पितृकृत्यमें पूर्वाह्ण न लेकर अपराह्ण ही लिया जाता है । चतुर्दशीमें श्राद्धके विषयमें विशेष प्रकरण मिलते हैं। यथा महर्षि प्रचेता—

वृक्षारोहणलोहाद्यैर्विद्युज्ज्वाला विषाग्निभिः ।
नखिदंष्ट्रिविपन्नानां तेषां शस्ता चतुर्दशी ॥

वृक्षसे गिरकर मृत्यु, वज्रपातजन्य मृत्यु, व्याघ्र आदि जन्तुओंसे मृत्यु इत्यादि अपमृत्युमें चतुर्दशीको श्राद्ध होता है । और भी—

चौरादिभिः शस्त्रहते चतुर्दश्यां क्रिया भवेत् ।
युद्धे शस्त्रहते तु स्यात् स्वस्वकाले परिक्रिया ॥

चोर आदि द्वारा शस्त्रहत होकर मरनेसे चतुर्दशीमें श्राद्ध होता है, युद्धमें मृत्यु होनेसे अपने अपने कालानुसार श्राद्ध होता है । इसके सिवाय स्मृत्यन्तरमें यह भी लिखा है यथा—

प्रेतपक्षे चतुर्दश्यामेकोद्दिष्टविधानतः ।
दैवयुक्तं च यच्छ्राद्धं पितॄणां दत्तमक्षयम् ॥

एकोद्दिष्ट विधानके अनुसार प्रेतपक्षकी चतुर्दशीमें दैवक्रियायुक्त जो श्राद्ध है उससे अक्षय फललाभ होता है। इस प्रकारसे श्राद्धकृत्यमें चतुर्दशीका विशेष विवेचन किया गया है। शास्त्रमें पितृपक्ष अर्थात् आषाढ़से पञ्चम पक्षमें श्राद्ध करनेकी बड़ी महिमा बताई गई है, क्योंकि देवपक्षका पूर्वपक्ष होनेसे इस पक्षके साथ पितरोंका विशेष सम्बन्ध रहता है। ब्रह्मपुराणमें लिखा है ।

अश्वयुजां तु कृष्णायां त्रयोदश्यां मघासु च ।
प्रावृड्तौ यमः प्रेतान् पितॄंश्चाथ यमालयात् ॥

विसर्जयति भूर्लोकं कृत्वा शून्यं स्वकं पुरम्।
ते पुत्रादेः प्रकाङ्क्षंति पायसं मधुसंयुतम् ॥
कन्यागते सवितरि पितरो यान्ति वै सुतान्।
अमावास्यादिने प्राप्ते गृहद्वारं समाश्रिताः ॥
श्राद्धाभावे स्वभवनं शापं दत्वा व्रजन्ति ते।
अतो मूलैः फलैर्वापि तथाप्युदकतर्पणैः ॥
पितृतुष्टिं प्रकुर्वीत नैव श्राद्धं विवर्जयेत् ॥

आश्विनमासके कृष्णपक्षमें, त्रयोदशी और मघामें, तथा वर्षा ऋतुमें यमराज मृत पितरोंको यमालयसे छोड़ देते हैं। वे पितर पुत्रादिकोंसे क्षीर और मधुयुक्त पदार्थ मिलनेकी आशासे इस लोकमें आते हैं। जब सूर्य कन्याराशिपर आता है, पितर तभी यहाँ आते और अमावास्याके दिनतक घरके द्वारपर ठहर-कर श्राद्ध न करनेवाले लड़कोंको शाप देकर पीछे यमलोकको चले जाते हैं। इस कारण कन्द, फल, मूल आदिसे अवश्य ही श्राद्ध करना चाहिये।

गरुड़ पुराणमें भी लिखा है—

अमावस्यादिने प्राप्ते गृहद्वारे समाश्रिताः।
वायुभूताः प्रवाञ्छन्ति श्राद्धं पितृणा नृणाम् ॥
यावदस्तगतं भानोः क्षुत्पिपासा समाकुलाः।
ततश्चास्तं गते सूर्ये निराशा दुःखसंयुताः ॥
निःश्वसंतश्चिरं यान्ति गर्हयन्तः स्ववंशजम्।
तस्माच्छ्राद्धं प्रयत्नेन अमायां कर्त्तुमर्हति ॥

अमावस्याके प्राप्त होनेपर पितर वायुरूप होकर श्राद्धकी अभिलाषासे घरके द्वारपर रहते हैं। जबतक सूर्य अस्त नहीं होता, तबतक क्षुत्पिपासासे व्याकुल होकर ठहरते हैं। परन्तु सूर्यास्त हो जानेपर निराशासे दुःखो होकर और अपने वंशजोंको शाप देते हुए पीछे चले जाते हैं। इसीलिये अमावस्यामें अवश्यमेव श्राद्ध करना चाहिये। इसी कारण हेमाद्रिके नागरखण्डमें लिखा है।

आषाढ्याः पञ्चमे पक्षे कन्यासंस्थे दिवाकरे।
यो वै श्राद्धं पितुर्दद्यादेकस्मिन्नपि वासरे ॥
तस्य संवत्सरं यावत् संतुष्टाः पितरो ध्रुवम् ॥

आषाढ़से पाँचवें पक्षमें जब कि, सूर्य्य कन्या राशिमें रहे, उसमें किसी दिन भी श्राद्ध करनेसे पितृगण निश्चय ही समस्त वर्ष सन्तुष्ट रहते हैं। कहीं कहीं 'मृताहनि पितुर्यो वै श्राद्धं दास्यति मानवः' ऐसा कहकर पितृपक्षमें मृत्युदिवसमें ही श्राद्ध करनेको कहा गया है। आषाढ़से पाँचवें इस पक्षको महालय कहते हैं। यथा—

'आषाढ्याः पञ्चमः पक्षः स महालयसंज्ञकः'

इसलिये पितृपक्षीय इस श्राद्धको महालय श्राद्ध कहते हैं। इसके अकरणसे विशेष प्रत्यवाय और करणसे विशेष फलश्रुति मिलती है, यथा—

वृश्चिके समनुप्राप्ते पितरो दैवतैः सह।
निःश्वस्य प्रतिगच्छन्ति शापं दत्वा सुदारुणम्॥

(कार्ष्णाजिनिवचनम्)

कन्याराशिके बाद वृश्चिक राशि आनेपर पितृगण श्राद्ध न पानेके कारण निराश होकर दीर्घ श्वास त्याग करते हुए गृहस्थको शाप देकर चले जाते हैं। अन्यथा—

पुत्रानायुस्तथाऽऽरोग्यमैश्वर्यमतुलं तथा।
प्राप्नोति पञ्चमे कृत्वा श्राद्धं कामांश्च पुष्कलान्॥

पितृपक्षमें श्राद्ध करनेपर पुत्र, आयु, आरोग्य, अतुल ऐश्वर्य और ईप्सित वस्तुओंको यथेष्ट प्राप्ति होती है। यही सब शास्त्रविहित श्राद्धकालनिर्णय तथा अनुकूल कालमें श्राद्ध करनेके सुफल हैं।

पहले ही कहा गया है, श्राद्धकृत्यमें विद्वान् तपस्वी ब्राह्मण श्राद्धदेवता करके माने जाते हैं। और पितृगण उन्हींके द्वारा श्राद्ध ग्रहण करते हैं। इसी कारण ब्राह्मणके द्वारा ही पिण्डदान तथा उनके अभावमें कुशका ब्राह्मण बनाकर उसीमें पिण्ड देनेकी विधि स्मृतिशास्त्रोंमें पाई जाती है। यथा—

ब्राह्मणानामसम्पत्तौ कृत्वा दर्भमयान् द्विजान्।
श्राद्धं कृत्वा विधानेन पश्चाद्विप्रेषु दापयेत्॥

ब्राह्मणोंके न मिलनेपर दर्भमय ब्राह्मण बनाकर यथाविधि श्राद्धसम्पन्न करके पश्चात् ब्राह्मणोंको सब सामग्री दे देनी चाहिये। श्रीभगवान् मनुने कहा है—

अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसम्पादनं तिलाः ।
सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु सम्पदः ॥

अपराह्णकाल, कुश उत्तमरूपसे गृहादिमार्जन, तिल, ब्राह्मणोंको प्रचुर अन्नदान, अन्नशुद्धि और पंक्तिपावन ब्राह्मणलाभ—श्राद्धकृत्यके ये ही सब प्रधान अङ्ग हैं । और भी मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें—

त्रींस्तु तस्माद्धविः शेषात् पिण्डान् कृत्वा समाहितः ।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः ॥
न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ।
तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥

देवार्चनके लिये अग्निमें आहुति देनेके बाद हुतावशिष्ट द्रव्योंको एकत्रित करके तीन पिण्ड प्रस्तुत करें और दक्षिण मुख होकर दक्षिण हस्तके पितृतीर्थ द्वारा पिण्डोंको दर्भपर धरें । अपनी गृह्योक्त विधिके अनुसार यत्नके साथ इस प्रकारसे दर्भपर पिण्डदान करके लेपभोजी ऊद्ध्वं तीन पितरोंकी तृप्तिके लिये दर्भके मूलदेशमें करघर्षण करें ।

इस प्रकारसे कुशवटु बनाकर प्रतिनिधिरूपसे ब्राह्मणोंके द्वारा श्राद्धकृत्य करनेकी आज्ञा शास्त्रमें पाई जाती है । श्राद्धकृत्यमें ब्राह्मणोंका इतना आदर क्यों किया गया है, इसका रहस्य आगे बताया जायगा । श्राद्धकृत्यके अन्तर्गत विशेष विधियाँ कर्मकाण्डसम्बन्धीय तत्तद् ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य हैं; यहाँपर बाहुल्यभयसे नहीं बताई गईं ।

ऊपर वर्णित नित्य नैमित्तिक पितरोंकी सम्बद्र्धनाके अतिरिक्त श्राद्धकृत्यका एक विशेष फल यह है कि, इसके द्वारा प्रेतयोनिप्राप्त जीवोंका प्रेतत्व नाश होता है । मृत्युके समय किस प्रकारसे काममोहादि भावके द्वारा सूक्ष्म शरीरके आच्छन्न होनेसे अथवा अपघातमृत्यु या अकस्मात् मृत्यु आदिके द्वारा जीवको प्रेतयोनि प्राप्त होती है और उस योनिमें क्या-क्या क्लेश जीवको भोगना पड़ता है, इसका प्रचुर वर्णन 'वैराग्य और साधन' तथा 'परलोक समीक्षा' नामक अध्यायमें पहले हो किया गया है, अतः इस योनिके विषयमें पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है । प्रकृत विषय श्राद्धकृत्यमें प्रेतत्वनाश विषयक है । प्रेतत्व प्राप्ति सूक्ष्मशरीरका एक प्रकार मूर्च्छावस्था विशेष होनेके कारण जिस प्रकार किसो मूर्च्छित व्यक्तिका मूर्छाभंग औषधि आदिकी शक्तिके द्वारा किया जाता है, उसी

प्रकार प्रेतका भी प्रेतत्व नाश मनःशक्ति, मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्ति नामक त्रिविध शक्तियोंके यथाविधि प्रयोग द्वारा ही किया जाता है, सो किस प्रकारसे है, नीचे क्रमशः बताया जायगा।

मृत्युके समम सूक्ष्म शरीरके विशेष दुर्बल तथा मूर्छाभावापन्न हो जानेके कारण मृत्युके अनन्तर समस्त अवयवोंमें परलोकगत आत्माका सहसा क्रियाशक्तिका उदय नहीं होता है और अङ्ग प्रत्यङ्गकी पूर्ति भी शीघ्र नहीं हुआ करती है। इसलिये विशेष श्राद्धकृत्यसे पहिले दश दिनोंतक अङ्ग-प्रत्यङ्गपूर्तिरूपसे दश पूरकपिण्ड देनेकी विधि है, यथा अथर्ववेदीय पिण्डोपनिषद्में—

प्रथमेन तु पिण्डेन कलानां तस्य सम्भवः।
द्वितीयेन तु पिण्डेन मांसत्वक्शोणितोद्भवः॥
तृतीयेन तु पिण्डेन मतिस्तस्याभिजायते।
चतुर्थेन तु पिण्डेन अस्थिमज्जा प्रजायते॥
पञ्चमेन तु पिण्डेन हस्ताङ्गुल्य शिरोमुखम्।
षष्ठेन तु पिण्डेन हृत्कण्ठं तालु जायते॥
सप्तमेन तु पिण्डेन दीर्घमायुः प्रजायते।
अष्टमेन तु पिण्डेन वाचं पुष्यति वीर्यवान्॥
नवमेन तु पिण्डेन सर्वेन्द्रियसमाहृतिः।
दशमेन तु पिण्डेन भावानां प्लवनं तथा॥
पिण्डे पिण्डे शरीरस्य पिण्डदानेन सम्भवः

प्रथम पिण्डसे कलाविकाश, द्वितीय पिण्डसे मांस त्वचा शोणितकी उत्पत्ति, तृतीय पिण्डसे मति, चतुर्थ पिण्डसे अस्थिमज्जा, पञ्चम पिण्डसे हस्त, अंगुलि, शिर और मुख, षष्ठ पिण्डसे हृदय, कण्ठ, तालु, सप्तम पिण्डसे आयु, अष्टम पिण्डसे वाक्, नवम पिण्डसे समस्त इन्द्रियाँ और दशम पिण्डसे नाना भावोंका विकाश होता है। इस प्रकारसे प्रत्येक पूरक पिण्डदान द्वारा अङ्ग प्रत्यङ्गकी पूर्ति तथा श्राद्धकृत्यमें मन, मन्त्र द्रव्यके साथ अधिदैव सम्बन्ध करनेकी योग्यता परलोकगत आत्माकी हो जाती है। इसीके बाद मनःशक्ति मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्तिके प्रयोगात्मक क्रियाओंका विधान किया गया है।

शास्त्रमें मनकी शक्ति अति असाधारण करके वर्णित की गई है। मन ही समस्त संसारका उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकर्त्ता है। भागवतमें लिखा है—

आदौ मनस्तदनुबन्धविमोक्षदृष्टिः ।
पश्चात् प्रपंचरचना भुवनाभिधाना ॥

आदि कारण मन है, उसीके ही कार्य तथा परिणामरूप संसारबन्धन, संसारका विस्तार तथा संसारसे मुक्ति लाभ है। उपनिषद्में भी कहा है :—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

मन ही मनुष्योंके बन्धन तथा मोक्षका कारण है विषयासक्त मनसे बन्धन तथा निर्विषय मनसे मोक्षलाभ होता है। मनके ही बलसे भक्तगण भगवान् तकके दर्शन कर लेते हैं। योगी मनके ही बलसे दूसरेको वशीभूत तथा कठिन कठिन रोगोंको भी आराम कर देते हैं। मनुष्यकी बात ही क्या, जङ्गलके वृहदाकार अजगर सर्पको चलनेकी शक्तिसे रहित होनेपर भी मनके ही बलसे निरन्तर चिन्ता द्वारा मृग आदि आहार्य वस्तुओंको आकर्षण करते हुए देखा गया है। श्राद्धमें प्रेतात्मापर इसी मनःशक्तिका प्रयोग होता है। प्रथमतः अशौचके दिनमें संयम, ब्रह्मचर्य्यरक्षा, स्पृश्यास्पृश्मविचार, सदाचारपालन आदिके द्वारा मनमें यथेष्ट बल सञ्चय किया जाता है। तदन्तर चिन्ताशक्तिके द्वारा—'आयान्तु नः' इत्यादि भावसे परलोकगत आत्मीय जनोंको श्राद्धस्थानमें बुलाया जाता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है कि, जहाँपर आत्मा तथा मनका स्वाभाविक मेल है वहाँ एक मनकी चिन्ताका तरङ्ग अनायास हो अन्य मनपर घात-प्रतिघात उत्पन्न कर सकता है। एक घरमें पाँच सितार एक सुरमें मिल कर एकके बजानेसे और चार बिना बजाये स्वयं ही बजने लगते हैं। क्योंकि सुर मिले रहनेसे एकका कम्पन वायुतरङ्गद्वारा वाहित होकर अन्य यन्त्रोंपर भी प्रभाव विस्तार कर देता है। जब जड़ यन्त्रोंमें इतनी शक्ति है तो चेतन मनकी वात ही क्या है। शास्त्रमें 'आत्मा वै जायते पुत्रः' 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादि प्रमाणोंके द्वारा पुत्रको पिताका आत्मा हो कहा गया है। उसमें भी ज्येष्ठ पुत्र धर्मज पुत्र होनेसे पिता माताके साथ उसका विशेष स्वाभाविक सम्बन्ध है। इस प्रकार पुत्र जब अशौचावस्थामें मनःशक्ति विशेरूपसे सम्पादन करके परलोकगत पिता-मातादिका चिन्तन तथा आवाहन करेगा, तो उससे परलोकगत आत्माको अवश्य ही विशेष लाभ पहुँचेगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यहो कारण है कि, श्राद्धमें कुटुम्बभोजन तथा निकटस्थ सद्ब्राह्मणभोजनकी विधि है। यथा—

सम्बन्धिनस्तथा सर्वान् दौहित्रं विट्पतिन्तथा ।
भागिनेयं विशेषेण तथा बन्धून गृहाधिपान् ॥
यस्त्वासन्नमतिक्रम्य ब्राह्मणं पतितादृते ।
दूरस्थं भोजयेन्मूढो गुणाढ्यं नरकं व्रजेत् ॥

सब कुटुम्बी, विशेषकर दौहित्र, भगिनीपति, भागिनेय और गृहस्वामीके बन्धुवर्ग—ये ही सब श्राद्धभोजनमें निमन्त्रण देनेके लिये प्रशस्त हैं। जो निकटस्थ उत्तम ब्राह्मणको छोड़कर दूरस्थ ब्राह्मणको भोजन कराता है, वह नरकगामी होता है। इसी कारण मनुजीने भी अपनी संहिताके तृतीयाध्यायमें कहा है—

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम् ।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥

श्राद्धमें प्रयोजन होनेपर मित्र-भोजन भी अच्छा है, किन्तु विद्वान् होनेपर भी शत्रु-भोजन श्राद्धमें कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि शत्रुके साथ मानसिक मेल न होनेके कारण उससे परलोकगत आत्माका कोई भी कल्याण नहीं होता है।

कुटुम्बभोजनकी तरह ब्राह्मण-भोजनकी जो बड़ी महिमा श्राद्धकृत्यके अङ्गरूपसे आर्यशास्त्रमें बताई गई है उसके भी मूलमें मन-शक्ति-प्रदानका ही रहस्य भरा हुआ है। मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है—

निमन्त्रितान् तु पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान् ।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथाऽऽसीनानुपासते ॥

परलोकगत पितर या आत्मा निमन्त्रित ब्राह्मणोंके शरीरोंमें वायुशरीर धारण करके समाविष्ट होते हैं, वे इनका अनुगमन करते हैं तथा इनके बैठनेपर बैठते हैं। इस प्रकारसे ब्राह्मणोंके साथ ब्राह्मणोंके द्वारा परलोकगत आत्माका श्राद्धकालमें भोजन भी मनुजीने बताया है। रामायण ग्रन्थमें स्पष्ट ही लिखा है कि, भगवान् रामचन्द्र जब पिता दशरथका श्राद्ध करके ब्राह्मणभोजन करा रहे थे, तो सीतामाता ब्राह्मणोंके साथ श्वशुर दशरथको देखकर लज्जित हो छिप गई थी। इसलिये यह बात निश्चय है कि, श्राद्धभोजी ब्राह्मण यदि तपस्वी और संयमी होंगे तभी प्रेतसमाविष्ट श्राद्धान्नको पचा सकेंगे और भोजन परितृप्त होकर आशीर्वाद तथा मन्त्रशक्ति और तपशक्ति

प्रदान द्वारा परलोकगत आत्माका कल्याण कर सकेंगे। अन्यथा असंयमी ब्राह्मणको श्राद्धमें भोजन देनेसे पितर या प्रेतका तो कोई कल्याण होता ही नहीं, अधिकन्तु प्रेतसमावेश द्वारा श्राद्धभोजी अधम ब्राह्मणकी और भी अधोगति होती है। इसी कारण श्रीभगवान् मनुजीने बार-बार अपनी संहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है। यथा—

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्त महाफलम्॥
एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहूनपि॥

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते।
एकस्तान् मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः॥
ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च।
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यतः॥

यावतो ग्रसते ग्रासान् हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्टंचयोगुणान्॥
यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम्।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगन्तु समाप्तिकम्॥

एषामन्यतमो यस्य भुञ्जते श्राद्धमर्चितः।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी॥
एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः॥

मातामहं मातुलञ्च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम्।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत्॥
न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित्।
पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः॥

निमन्त्रितो द्विजो पित्र्ये नियतात्मा भवेत् सदा।
न च च्छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धञ्च तद्भवेत्॥

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥

पूज्यतम श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको ही हव्यकव्य प्रदान करना चाहिये। क्योंकि इनको देनेसे ही महाफललाभ होता है। दैव या पितृकर्ममें इस प्रकार एक विद्वान्‌के भोजन करानेपर भी यथेष्ट फल लाभ होता है, किन्तु वेदज्ञानहीन अनेक ब्राह्मणोंको भोजन करानेपर भी कुछ फल नहीं मिलता है। वेदज्ञानहीन दस लक्ष ब्राह्मण जिस श्राद्धमें भोजन करें वहाँ यदि वेदज्ञ एक ब्राह्मण भी भोजन द्वारा तृप्त किये जायँ तो धर्मतः एकसे ही दस लक्षका काम हो जाता है। उत्तमज्ञानसम्पन्न ब्राह्मणको हव्यकव्य प्रदान करना चाहिये रक्ताक्त हस्तको रक्त द्वारा धोनेपर वह शुद्ध नहीं होता है। मूर्ख ब्राह्मण हव्य कव्यमें जितने ग्रास भोजन करते हैं, परलोकमें उनको सजारूपसे उतने उत्तप्त लोहपिण्ड ग्रास करने पड़ते हैं। श्राद्धमें अतियत्नके साथ वेदपारग ऋग्वेदी ब्राह्मणको, समस्त शाखाध्यायी यजुर्वेदी ब्राह्मणको या समाप्ताध्याय सामवेदी ब्राह्मणको भोजन कराना चाहिये। इन तीनोंमेंसे यदि एक भी भोजनतृप्त हो जायँ, जो पित्रादि सात पुरुषको शाश्वती तृप्ति मिलती है। हव्य कव्यमें यही सब उत्तम कल्प है। इसके अभावमें अनुकल्प यह है कि, मातामह, मातुल, भागिनेय, श्वसुर, गुरु, दौहित्र, जामाता, मातृष्वसृ-पितृष्वसृ-पुत्रादि, बन्धु, पुरोहित और शिष्य इनको भोजन कराना चाहिये। धर्मज्ञ व्यक्तिको दैवकार्यमें भोजनीय ब्राह्मणोंकी इतनी छानबोन नहीं करनी होती है, किन्तु पितृकार्यमें विशेष परीक्षाकी आवश्यकता है। श्राद्धमें निमन्त्रित ब्राह्मणको चाहिये कि, निमन्त्रित दिनसे श्राद्धाहोरात्रतक स्त्री-सम्बन्धत्यागी तथा यथाविधि अनुष्ठानवान् बना रहे और जप सन्ध्योपासनाके सिवाय वेदाध्ययन न करें। यह सब नियम श्राद्धकर्ताको भी पालना चाहिये। पितृगण क्रोधशून्य, शौचपरायण, सदा ब्रह्मचारी, शस्त्रत्यागी, महाशय तथा देवताओंके भी पूर्वतन हैं। इस कारण उनके निमित्त अनुष्ठित कृत्योंमें श्राद्धकर्त्ता तथा श्राद्धभोक्ता दोनोंको ही ऐसे ही नियमवान् होने चाहिये। इस प्रकारसे श्राद्धकृत्यमें श्राद्धकर्त्ताकी मनःशक्ति तथा ब्राह्मणोंकी मनःशक्ति, तपःशक्ति आदि द्वारा परलोकगत पितरोंको तृप्ति और शान्तिलाभ एवं प्रेतयोनि प्राप्त जीवोंके प्रेतत्वनाशमें सहायता पहुँचती है। चन्द्रमा मनके अधिष्ठात्री देवता हैं, इस कारण मनका स्वाभाविक सम्बन्ध चन्द्रलोकसे होनेके कारण

चन्द्रलोकवासी पितरोंके साथ मानसिक क्रियाओंका विशेष सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। वेदमें भी 'चन्द्रमा मनसो जातः' इस मन्त्रके द्वारा विराट् मनके साथ चन्द्रलोकका नैसर्गिक सम्बन्ध बताया गया है। समस्त व्यष्टि मन समष्टि मनका ही अंशरूप होनेसे श्राद्धकालमें व्यष्टि मनमें उत्पन्न भावतरङ्ग समष्टि मनःसमुद्रमें भी हिल्लोल उत्पन्न करके सुदूर सूक्ष्मलोकमें पितरोंके मनपर प्रभाव विस्तार कर सकेगा इसमें वैज्ञानिक दृष्टिसे कुछ भी सन्देह नहीं रह सकता है। अतः श्राद्धकृत्यमें मनः शक्ति-प्रयोग विज्ञानसिद्ध है। गृहस्थोंकी तरह संसारत्यागी सन्यासी भी मनोबल तथा आत्मबल द्वारा अपने वंशज पितरोंका कल्याण करते हैं और उनकी आध्यात्मिक उन्नतिमें विशेष सहायता करते हैं। किन्तु उनके मन तथा आत्मामें विशेष शक्ति होनेके कारण उन्हें गृहस्थोंकी तरह स्थूल श्राद्धविधियोंका आश्रय लेना नहीं पड़ता है। वे मृतपितरोंको स्मरण करके मनोबल तथा आत्मबल द्वारा सूक्ष्मरूपसे ही सब कुछ कर देते हैं। यही कारण है कि, शास्त्रमें वर्णन देखनेमें आता है कि, जिस वंशमें एक साधुपुत्र उत्पन्न होता है, उसके आगे पीछे चतुर्दश पुरुष या इक्कीस पुरुष उद्धारको पा जाते हैं। यथा—श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादके प्रति नरसिंह भगवान्-का वाक्य है—

त्रिःसप्तभि पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ!।
यत् साधोऽस्य कुले जातो भवान् वै कुलपावनः॥

हे प्रह्लाद! केवल तुम्हारा पिता ही नहीं, किन्तु इक्कीस पुरुषतक तुम्हारे वंशके पितृगणका उद्धार हो जायगा, जहाँ पर तुम जैसे साधु पुत्र पुत्र उत्पन्न हुए हो। यही सब श्राद्धमें मनःशक्तिका प्रभाव है।

मनःशक्तिकी तरह मन्त्रशक्तिके द्वारा भी परलोकगत आत्माओंको विशेष शान्ति तथा उन्नतिमें सहायता मिलती है और प्रेतोंका प्रेतत्व नाश भी मन्त्रबलसे विशेषरूपसे होता है। मन्त्र क्या वस्तु है, दैवराज्यके साथ मन्त्रोंका क्या क्या सम्बन्ध हैं, आदिमन्त्र प्रणवसे प्राकृतिक क्रमस्पन्दन द्वारा अन्यान्यसमस्त मन्त्रोंका किस प्रकारसे विकाश होता है, इसका यथेष्ट वर्णन 'मन्त्रयोग' नामक अध्यायमें पहले ही किया गया है, यहाँपर उसकी पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। संसारमें शब्दकी महिमा अपार है। शब्दहीके उपयोग-तारतम्यसे शत्रु भी मित्र होते हैं और मित्र शत्रु हो जाते हैं, लक्षलक्ष मनुष्योंपर बिजलीकी तरह शक्तिसंचार तथा प्रभावविस्तार हो

जाता है, मनुष्य प्राण देनेके लिये तैयार हो जाते हैं, और प्राण लेनेके लिये भी तैयार हो जाते हैं, बनके मृग भी व्याधकी वीणाके शब्दके द्वारा वशीभूत होकर प्राण दे देते हैं और कालसर्प भी डमरूके शब्दप्रभावसे ही वशीभूत हो जाता है। अतः जब स्थूल शब्दका ही इतना प्रत्यक्ष प्रभाव है तो सूक्ष्म दिव्यशब्दरूप मन्त्रोंका असाधारण प्रभाव होगा, इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है, क्योंकि वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है, उसकी शक्ति भी उतनी ही बढ़ जाया करती है। स्थूल वस्तु पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्मतत्त्वके परिणामरूप सूक्ष्म शरीर तथा मनका विलक्षण ही प्रभाव है। इसी विज्ञानपर ही प्रतिष्ठित होकर अणुविश्लेषण (dilution) द्वारा होमियोपैथिक-चिकित्साशास्त्रमें भिन्न भिन्न शक्तिकी औषधि बनाई जाती है और यह भी विज्ञान जगत्‌ने आजकल प्रमाणित कर दिखाया है कि, जबतक अणु अणुसे मिला रहता है, तभीतक उनमें स्वाभाविक शक्तिका ठीक विकाश नहीं होता है, नहीं तो पृथक् पृथक् एक एक अणुमें समस्त संसारके भीतर प्रलय मचा देनेकी शक्ति विद्यमान हैं। अतः विचार द्वारा सिद्धान्त हुआ कि, स्थूल शब्दकी अपेक्षा दिव्य शब्द मन्त्रोंके भीतर अधिक तथा असाधारण शक्ति विद्यमान हैं। इस कारण श्राद्धमें इन मन्त्रोंको श्राद्धकर्त्ता संयत होकर परलोकगत आत्माओंपर जितना ही प्रयोग करेंगे उतना ही उनकी प्रेतत्वमुक्ति अथवा आध्यात्मिक उन्नति या शान्तिके लाभमें सुविधा होगी—इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। शास्त्रमें 'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः' अर्थात् प्रणवको सब मन्त्रोंका चालक कहा गया है। इसलिये प्रणवके साथ अन्यान्य मन्त्रोंका उच्चारण करनेसे प्रणव उन मन्त्रोंको चालित करके जहाँपर जिस लोकमें परलोकगत आत्मा विराजमान हैं वहीं ले जाकर अभीष्ट फल प्रदान करानेमें सहायता कर देगा, इसमें भी संशय नहीं है। यही श्राद्धमें मन्त्रशक्ति प्रयोगका उपयोग तथा रहस्य है। इस प्रकारसे मन्त्रकी दिव्यशक्तिके प्रयोगके साथ साथ और भी अनेक दिव्य शक्तिकी सहायता श्राद्धकृत्यमें परलोकगत आत्माको पहुँचायी जाती है। मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहसांश्च पुराणानि खिलानि च॥

अर्थात् श्राद्धकालमें ब्राह्मणोंको वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण तथा श्रीसूक्तादि सुनाने चाहिये। और भी—

'ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात् पितृणामेतदीप्सितम्' !

ब्राह्मणभोजनके समय आध्यात्मिक आलाप पितरोंका प्रीतिप्रद होता है। इसके सिवाय कठोपनिषद्का प्रमाण पहले ही दिया जा चुका है कि, नचिकेताकी कथा श्राद्धकालमें सुनानेसे परलोकगत आत्माकी उन्नति होती है। यही सब श्राद्ध-कृत्यमें दिव्य शक्ति तथा आध्यात्मिक शक्तिके द्वारा पितर तथा प्रेतात्माको सहायता पहुँचानेके उपाय हैं। श्राद्धमें तीर्थ, गया, गङ्गा और गदाधरकी बड़ी महिमा बताई गई है। काशीखण्डमें लिखा है—

अकालेऽप्यथवा काले तीर्थे श्राद्धं च तर्पणम्।
अविलम्बेन कर्त्तव्यं नैव विघ्नं समाचरेत्॥

कालका विचार कुछ भी न करके तीर्थमें श्राद्ध तर्पण करना चाहिये। महर्षि हारीतने कहा है—

दिवायां यदि वा रात्रौ भुङ्क्ते चोपोषितोऽपि वा।
न कालनियमस्तत्र गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम्॥

दिन हो या रात्रि हो, भोजन किये हुए हो या उपवासी हो, प्रधान नदी गङ्गाको पानेसे कोई भी काल नियम नहीं रखना चाहिये। और भी—

'गयां प्रसंगतो गत्वा मातुः श्राद्धं समाचरेत्'

गया जानेपर अन्यान्य श्राद्धके अतिरिक्त मातृश्राद्धको अवश्य ही करना चाहिये। मत्स्यपुराणमें लिखा है—

एषु तीर्थेषु यच्छ्राद्धं तत् कोटिगुणमिष्यते।
यस्मात्तस्मात् प्रयत्नेन तीर्थे श्राद्धं समाचरेत्॥

तीर्थोंमें श्राद्ध करनेसे कोटिगुण फल लाभ होता है। इस कारण यत्नके साथ तीर्थमें श्राद्ध अवश्य ही करना चाहिये। नित्य तीर्थोंमें दिव्यशक्तिका नित्य विकाश है, नैमित्तिक तीर्थोंमें देवशक्तिका नैमित्तिक विकाश है, गया धाममें पौराणिक प्रमाणके अनुसार गयासुरके सम्बन्धसे प्रेतादिकल्याणकारी अति दिव्य शक्तिका सदैव विकाश है, गंगा माता अलौकिक ज्ञानशक्ति तथा दिव्य शक्तिधारिणी हैं, विष्णु भगवान् यज्ञेश्वर होनेसे सकल दैव कर्मोंमें सफलता देनेवाले हैं। यही कारण है कि, शास्त्रोंमें परलोकगत पितरोंको शान्ति, उन्नति तथा दिव्य शक्ति और आध्यात्मिक शक्ति प्रदानके लिये तीर्थ, गया, गंगा और गदाधरकी विशेष

शरण लेनेको आज्ञा की गई है। यही सब श्राद्धकृत्यमें मन्त्रशक्ति तथा दिव्यशक्ति द्वारा सहायता देनेके दृष्टान्त हैं।

तृतीयतः द्रव्यशक्ति द्वारा भी प्रेतात्मा तथा पितरोंको बहुत कुछ सहायता मिलती है। संसारमें द्रव्यशक्तिकी भी महिमा मन्त्रशक्तिकी तरह अपूर्व है। प्रत्येक द्रव्यके ही भीतर जीवनदानकारी अथवा प्राणस्पन्दनकारी कुछ न कुछ वैद्युतिक शक्ति देखी जाती है। उन सब द्रव्योंके रासायनिक संमिश्रण द्वारा वैद्युतिकशक्तिको प्रकट करके तार द्वारा संवाद भेजना, पंखा चलाना, प्रकाश कर देना, गाड़ी चलाना आदि प्रक्रिया तो आजकल वैज्ञानिक जगत्की विशेष सम्पत्ति ही बन वैठी है। किन्तु पूज्यपाद महर्षियोंने अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा विशेष विशेष द्रव्योंके भीतर स्थूल शक्तिके अतिरिक्त कुछ सूक्ष्मशक्तिका भी अनुभव किया था और तदनुसार उन शक्तियोंकी सहायतासे पितृलोक, प्रेतलोक और देवलोकसे दैवसम्बन्ध स्थापन कैसे कैसे हो सकता है सो भी बताया था। इस प्रकार द्रव्यान्तर्गत सूक्ष्मशक्तिके प्रभावसे परलोकगत आत्माओंका श्राद्धस्थानमें आकर्षण, उन्हें तृप्ति प्रदान, सहायता प्रदान, प्रेतयोनि प्राप्त जीवोंका प्रेतत्वनाश आदि अनायास ही हो सकता है। और इसी कारण मन्वादि धर्मशास्त्रोंमें इनके प्रयोगका तथा विशेष विधियों द्वारा इनके परस्पर संमिश्रणका प्रकार बताया गया है। श्राद्धमें, कुश, तिल, आदिकी विशेष महिमा तो पहले ही बताई गई है। इसके सिवाय ताम्र, रौप्य आदि विद्युत् शक्तिमय धातुओंकी भी विशेष प्रशंसा की गई है। यथा मनुसहिताके तृतीयाध्यायमें—

राजतैर्भाजनैरेषामथवा राजतान्वितैः।
वार्य्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते॥

रौप्यमय पात्र अथवा रौप्ययुक्त ताम्रादि पात्रमें पितरोंको श्रद्धापूर्वक जलदान करनेपर भी वह उनकी अक्षयतृप्तिका कारण होता है। खाद्य पदार्थोंके विषयमें देशकाल पात्र भेदसे आमिषका भी कहीं कहीं प्रयोग देखे जानेपर भी निरामिषकी ही सबसे अधिक महिमा बताई गई है यथा—

यत् किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम्।
तदप्यक्षयमेव स्याद् वर्षासु च मघासु च॥
अपि न सः कुले जायाद् यो नो दद्यात् त्रयोदशीम्।
पायसं मधुसर्पिभ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च॥

वर्षाकालमें जब मघानक्षत्रके साथ एकादशीका योग हो, उस दिन पितरोंको मधुमिश्रित अन्न प्रदान करनेपर वह उनकी अक्षय तृप्तिका कारण होता है। पितृगण प्रार्थना करते हैं कि, उनके वंशमें कौन ऐसा कुलभूषण उत्पन्न होगा, जो मघात्रयोदशीको या जिस समय हस्तीकी छाया पूर्व दिशाको आवे, उस समय उनको घृत मधु मिश्रित पायसान्न द्वारा परितृप्त करें। इस प्रकारसे आर्य-शास्त्रमें द्रव्यशक्तिकी पितृलोकतृप्तिकारिणी परममहिमा बताई गई है। यही आर्यशास्त्रानुसार प्रेतत्वनाश तथा पितरोंकी तृप्ति और उन्नतिके अर्थ मनःशक्ति, मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्तिका विविध विधिके अनुसार प्रयोगरहस्य है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि, इस प्रकार श्राद्धान्न दानका उपयोग तभी तक होना चाहिये, जबतक परलोकगत आत्माका मृत्युलोकमें पुनर्जन्म न हो गया हो। किन्तु जन्म हो जानेपर इन अन्नोंका क्या उपयोग है और ये सब अन्न उनको प्राप्त भी कैसे हो सकते हैं? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि, श्राद्ध सङ्कल्प-प्रधान तथा मन.शक्ति-प्रधान होनेसे सूक्ष्मजगत्में सङ्कल्पशक्ति द्वारा पितरोंकी तृप्ति और जन्म हो जानेपर भी उसी जन्ममें आध्यात्मिकादि उन्नतिका कारण बनता है। इस विषयमें हेमाद्रिमें उत्तम प्रमाण मिलता है। यथा—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति॥
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम्।
दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरोदकम्॥
मानुषत्वेऽन्नपानादिनानाभोगरसो भवेत्॥

पिताने यदि शुभकर्मके द्वारा देवयोनिको प्राप्त किया है, तो उनके निमित्त दिया हुआ श्राद्धान्न अमृतरूप होकर उन्हें मिलेगा। इसी प्रकार गन्धर्व-योनिमें भोगरूपसे, पशुयोनिमें तृणरूपसे, नागयोनिमें वायुरूपसे, यक्ष-योनिमें मद्यरूपसे, राक्षसयोनिमें आमिषरूपसे, दानवयोनिमें मांसरूपसे, प्रेतयोनिमें रुधिररूपसे और मनुष्ययोनिमें अन्नादि विविध भोज्यरूपसे श्राद्धान्न प्राप्त होता

है। इन प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ कि, सङ्कल्पित पदार्थं तथा सङ्कल्प शक्तिके द्वारा सभी योनियोंमें जीवोंको शान्ति तथा उन्नति मिल सकती है। वास्तवमें प्रत्येक जन्मकी उन्नति या अवनतिके साथ निजकृत कर्म-सम्बन्धके अतिरिक्त जन्म-जन्मान्तरलब्ध आत्मीय जनोंकी सङ्कल्पशक्ति, आशीर्वाद शक्ति तथा क्रियाशक्तिका भी बहुत कुछ सम्बन्ध विद्यमान है, जिसको सूक्ष्मदर्शी महात्मागण ही जानकर तत्त्वनिर्णय कर सकते हैं। अतः इन सब रहस्यपूर्ण विषयोंमें शंका करना निरर्थक है।

पहिले ही कहा गया है कि, श्राद्धकृत्यमें नित्य नैमित्तिक पितरोंकी तृप्ति-साधनके अतिरिक्त समस्त संसारकी तृप्ति-साधन द्वारा व्यष्टि समष्टि सत्ताके एकीकरणके लिये भी अनेक अनुष्ठान किये जाते हैं। अब उपसंहारमें उन्हीं सब अनुष्ठानोंके प्रमाणभूत कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं। पिण्डदान प्रकरणके अन्तर्गत षोडश पिण्डदान प्रयोगमें जो जो मन्त्र पितरोंके आवाहन तथा सम्बर्धनके लिये कहे जाते हैं, उन सभीमें यह उदारव्यापकभाव भरा हुआ है। इसमें प्रथमत बिछाये हुए कुशाके ऊपर तिलयुक्त जलके द्वारा पितरोंका आवाहन किया जाता है। यथा—

ॐ अस्मत्कुले मृता ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः॥
ॐ मातामहकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः॥
ओं बन्धुवर्गकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः॥

इस प्रकारसे अपने कुल, मातामह कुल और बन्धुवर्गके कुलमें जिनकी सद्गति नहीं हुई है उन पितरोंका आवाहन किया जाता है। तदनन्तर तिल-सहित जलाञ्जलि लेकर नीचेके मन्त्रसे कुशापर देना होता है। यथा—

ओं आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृ-मातामहादयः॥
अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम्।

इन मन्त्रोंमें समस्त विश्व तथा उसमें अवस्थित देव, मानवादि सकल

योनियोंके जीवोंकी तृप्तिके अर्थ प्रार्थना की गई है। इसके बाद विशेषरूपसे समस्त संसारकी तृप्तिके लिये एक-एक करके निम्नलिखित मन्त्रोंको पढ़ते हुए उन्नीस पिण्ड देनेकी विधि है। यथा—

ओं अस्मत्कुले मृता ये च गतिर्येषां न विद्यते।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम्॥

ओं बन्धुवर्गकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम्॥

ओं मातामहकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम्॥

ओं अजातदन्ता ये केचित् ये च गर्भ-प्रपीडिता।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम्॥

ओं अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धास्तथापरे।
विद्युच्चौरहता ये च तेभ्यः पिण्डं ददाम्यहम्॥

ओं दावदाहे मृता ये च सिंहव्याघ्रहताश्च ये।
दंष्ट्रिभिः श्रृङ्गिभिर्वापि तेभ्यः पिण्डं ददाम्यहम्॥

ओं उद्बन्धनमृता ये च विषशस्त्रहताश्च ये।
आत्मोपघातिनो ये च तेभ्यः पिण्डं ददाम्यहम्॥

ओं अरण्ये वर्त्मनि वने क्षुधया तृष्णया हताः।
भूतप्रेतपिशाचाश्च तेभ्यः पिण्डं ददाम्यहम्॥

ओं रौरवे चान्धतामिस्रे कालसूत्रे च ये मृता।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिडं ददाम्यहम्॥

ओं अनेकयातनासंस्थाः प्रेतलोके च ये गताः।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम्॥

ओं अनेकयातनासंस्था ये नीता यमकिङ्करैः।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम्॥

ओं नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम्॥

ओं पशुयोनिगता ये च पक्षिकीटसरीसृपाः ।
अथवा वृक्षयोनिस्थास्तेभ्यः पिण्डं ददाम्यहम् ॥
ओं जात्यन्तरसहस्त्रेषु भ्रमन्तः स्वेन कर्म्मणा ।
मानुष्यं दुर्लभं येषां तेभ्यः पिण्डं ददाम्यहम् ॥
ओं दिव्यन्तरीक्षभूमिष्ठाः पितरो बान्धवादयः ।
मृता असंस्कृता ये च तेभ्यः पिण्डं ददाम्यहम् ॥
ओं ये केचित् प्रेतरूपेण वर्त्तन्ते पितरो मम ।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु पिण्डदानेन सर्वदा ॥
ओं येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः ।
तेषां पिण्डो मया दत्तोऽक्षय्यमुपतिष्ठताम् ॥
ओं पितृवंशे मृता ये च मातृवंशे च ये मृताः ।
गुरुश्वशुरबन्धूनां ये चान्ये बान्धवा मृताः ॥
ये मे कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारविवर्जिताः ।
क्रियालोपगता ये च जात्यन्धाः पङ्गवस्तथा ॥
विरूपा आमगर्भाश्च ज्ञाताज्ञाताः कुले मम ।
तेषां पिण्डो मया दत्तोऽक्षय्यमुपतिष्ठताम् ॥
ओं आब्रह्मणो ये पितृवंशजाता
मातुस्तथा वंशभवा मदीयाः ।
कुलद्वये ये मम दासभूता
भृत्यास्तथैवाश्रितसेवकाश्च ॥
ओं मित्राणि सख्यः पशवश्च कीटा
दृष्टा ह्यदृष्टाश्च कृतोपकाराः ।
जन्मान्तरे ये मम दासभूता-
स्तेभ्यः स्वधा पिण्डमहं ददामि ॥

प्रथम पिण्ड निःसहाय अपने कुलके परलोकगत आत्माओंके उद्धारके लिये है। द्वितोय पिण्ड बन्धुवर्गके कुलके लिये है। तृतीय पिण्ड मातामह कुलके लिये है। चतुर्थ पिण्ड अजातदन्त, गर्भपीड़ित जीवोंके लिये है। पञ्चम पिण्ड अग्निसे जले हुए, न जले हुए और विद्युत्से जले हुए जीवोंके लिये

है। षष्ठं पिण्ड वनाग्नि से मृत और सिंह व्याघ्रादिसे हत जीवोंके लिये है। सप्तम पिण्ड आत्मघाती जीवोंके लिये है। अष्टम पिण्ड क्षुधा तृष्णासे मृत तथा भूत प्रेत पिशाचोंके लिये है। नवम पिण्ड रौरवादि नरकमें स्थित जीवोंके लिये है। दशम पिण्ड दुःखभोगी प्रेतलोकवासी जीवोंके लिये है। ग्यारहवाँ पिण्ड समस्त नरकोंमें यातनाभोगी जीवोंके लिये है। तेरहवाँ पिण्ड वृक्ष कीट अण्डज तथा पशुयोनि प्राप्त जीवोंके लिये है। चौदहवाँ पिण्ड मनुष्ययोनिसे च्युत अन्यान्य अनेक योनियोंमें भ्रमणशील जीवोंके लिये है। पन्द्रहवाँ पिण्ड दिव्यलोक, अन्तरिक्षलोक तथा भूर्लोकस्थित पितर और वन्धु-बान्धवोंके लिये एवं जिनका मृत्युके बाद संस्कार नहीं हुआ है, उनके लिये है। सोलहवाँ पिण्ड प्रेतयोनिप्राप्त पितरोंकी तृप्तिके लिये है। सत्रहवाँ पिण्ड अबान्धव, बान्धव तथा पूर्वजन्मके बान्धवोंके लिये है। अठारहवाँ पिण्ड पितृ-मातृ-गुरु श्वसुर सभी वंशोत्पन्न मृतबान्धव, लुप्तपिण्ड, लुप्तक्रिय, अन्ध पंगु तथा ज्ञाताज्ञात सभीके लिये है और उन्नीसवाँ पिण्ड ऊपर कथित सभी वंशोंमें उत्पन्न तथा जन्मजन्मान्तरमें प्राप्त दास, आश्रित, सेवकोंके लिये है। यही सब श्राद्धकृत्यके अन्तर्गत अति उदारतामय विश्वव्यापी विराट् कृत्यकलाप है, जिनके नियमित अनुष्ठान द्वारा समष्टि सत्ताके साथ एकीभूत होकर मनुष्य सकल कल्याणका अधिकारी हो सकता है। इसके सिवाय पार्वण श्राद्धमें भी ऐसे ऐसे मन्त्र मिलते हैं, जिससे श्राद्धकी उदार उत्कृष्ट महिमा सर्वथा प्रकट होती है। अब नीचे उनमेंसे कुछ मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं।

ओं देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च।
नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव नमोनमः॥

इस मन्त्रके द्वारा समस्त देवता, समस्त पितृ, समस्त महायोगी, पितृ-पत्नी स्वधा और अग्निपत्नी स्वाहाको प्रणाम किया जाता है, जिससे व्यापक दैवीशक्तियोंके साथ एकता और गृहस्थाश्रममें नित्य ऐसे दैवकर्मानुष्ठानके लिये सहायता मिलती है।

ओं मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधुनक्तमुतोषसोः। मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिः। मधुमां अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥

यह भी मन्त्र अनेकबार पढ़ा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि, समस्त ऋतुगण और वायुगण मधुमय हों, नदियां मधुवाहिनी हों, औषधियाँ मधुफल देनेवाली हों, रजनी मधुरूप हो, प्रातःकाल मधुयुक्त हो, पृथिवीकी धूल भी मधुमय हो, आकाश मधुमय हो, पिता मधुयुक्त हों, सूर्य मधुमय हों और गौएँ मधुमती हों। अर्थात् समस्त विश्वब्रह्माण्ड मधुमय बनकर पितरोंकी तृप्तिका साधनभूत बन जांय, यही उदार प्रार्थना इस मन्त्रमें है।

आमावाजस्य प्रसवो जगम्यादिमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे आमा गन्तुं पितरो मातरा युवमा मा सोमोऽमृतत्वाय गम्यात्।

श्राद्धमें प्रदत्त अन्नका फल हमें बार बार प्राप्त हो, ये द्यावापृथिवी विश्वरूप हमें बार बार प्राप्त हों, पिता माता हमें प्राप्त हों और अमृतत्वके लिये सोमदेव हमें प्राप्त हों। इस मन्त्रका भी बड़ा ही उदार भाव है।

पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्य मुखेऽमृतेऽमृतं जुहोमि स्वाहा।

विश्वाधार पृथिवी तुम्हारा पात्र है, आकाश तुम्हारा आच्छादन है, तुम अमृतस्वरूप हो, अमृतस्वरूप ब्राह्मणमुखमें तुम्हारा हवन करता हूँ। इस मन्त्रमें ब्राह्मणमें विराट्रूप देखनेका उच्च भाव सूचित हुआ।

ओं गोत्रन्नो वर्द्धतां, दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां, वेदाः सन्ततिरेव च श्रद्धा च नो माव्यगमद्, बहु देयञ्च नोऽस्तु अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि, याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन, एताः सत्या आशिषः सन्तु।

हमारा गोत्र बढ़े, दाता लोग बढ़ें, वेद, सन्तति और श्रद्धा नष्ट न हो, देय वस्तु और अन्न बहुत हो, हमको अतिथि मिले, हमारे निकट बहुत लोग याचना करें, हम किसीके निकट कुछ न माँगें, ये ही सत्य आशीर्वाद हों। इस मन्त्रमें भी बड़ा ही उदार भाव भरा हुआ है। अन्तमें पितरोंके प्रणामके निमित्त जो मन्त्र बोले जाते हैं, उनमें भी विश्वप्रकृतिके साथ एकीकरणका उदार भाव सूचित होता है। यथा—

ओं नमो वः पितरः शुष्माय, ओं नमो वः पितरस्तपसे, ओं नमो वः पितरो यज्जीवं तस्मै। ओं नमो वः पितरोऽरसाय, ओं नमो वः पितरो घोराय मन्यवे, ओं स्वधायै वः पितरो नमः।

शोषणकारी ग्रीष्मऋतुके सञ्चालक पितरोंको नमस्कार है, तप अर्थात् माघ मास और फाल्गुन मासात्मक शीत ऋतुके संचालक पितरोंको नमस्कार है।

जीव अर्थात् जलरूपी वर्षाऋतुके संचालक पितरोंको नमस्कार है। पुष्पादिमें रससंचारक रसरूप बसंत ऋतुके संचालक पितरोंको नमस्कार है। घोर और क्रुद्ध अर्थात् शैत्यहेतुक दुःखदायी हेमंत ऋतुके संचालक पितरोंको नमस्कार है। स्वधा अर्थात् शरद् ऋतुके संचालक पितरोंको नमस्कार है। इन मंत्रोंमें समस्त ऋतु ऋतुशालिनी विश्वप्रकृति तथा उनके नियमित विकाशकारी पितृपुरुषोंके साथ व्यष्टि समष्टि भावसे एकीकरणका उदार भाव बताया गया है।

अतः आर्यशास्त्रविहित श्राद्धकृत्य एक सर्वाङ्गीण मंगलमय अति पवित्र तथा महान् कृत्य है इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहा। इस कृत्यके द्वारा नियमित रूपसे सम्वर्द्धित होनेपर पितृगण प्रीत होकर गृहस्थोंको क्या क्या देते हैं, इस विषय में मार्कण्डेय पुराणमें लिखा है यथा—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः॥ (३२।३८)

श्राद्धतृप्त पितृगण श्राद्धकर्त्ताको दीर्घायु, सन्तति, धन, विद्या, सुख, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने भी कहा है—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं नृणां प्रीताः पितामहः॥ (२७०)

अतः गृहस्थमात्रको इस प्रकार अभ्युदयनिःश्रेयस सहायक पवित्र कृत्यका नियमित अनुष्ठान करना अवश्य कर्तव्य है। यही आर्यशास्त्रविहित श्राद्धकृत्यका संक्षिप्त रहस्यवर्णन है। अतःपर नीचे तर्पणकी संक्षिप्त विधि बताई जायगी।

'पितृयज्ञस्तु तर्पणम्'

ऐसा कहकर श्रीभगवान् मनुने पितरोंकी तृप्तिके अर्थ मन्त्रसहित जलादि प्रदानको ही तर्पण कहा है। तथापि जिस प्रकार श्राद्धमें भी देवताओंका आवाहन पूजन होता है, उसी प्रकार तर्पणमें भी देवता ऋषि और पितर तीनोंके ही निमित्त तर्पण किये जाते हैं। यथा शातातप—

तर्पणन्तु शुचिः कुर्यात् प्रत्यहं स्नातको द्विजः।
देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथाक्रमम्॥

शुचिताके साथ प्रत्यह स्नातक द्विजको यथाक्रम देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करना चाहिये। योगी याज्ञवल्क्यने भी कहा है—

नास्तिक्यभावाद् यश्चापि न तर्पयति वं सुतः।
पिबन्ति देहनिःस्रावं पितरोऽस्य जलार्थिनः॥

नास्तिकता हेतु जो वंशज पुत्र तर्पण नहीं करता है, उसके जलार्थी पितृगण उसके देहनिःस्रावको पान करते हैं, जिससे उसे घोर पापमें लिप्त होना पड़ता है। विष्णुपुराणमें लिखा है—

शुचिवस्त्रधरः स्नातो देवर्षिपितृतर्पणम्।
तेषामेव हि तीर्थेन कुर्वीत सुसमाहितः॥

स्नानके बाद शुद्धवस्त्र धारण करके सुसमहितचित्त होकर देवता, ऋषि तथा पितरोंका तर्पण उन्होंके तीर्थों द्वारा करना चाहिये। उनके तीर्थं कौन कौन हैं, इस विषयमें महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

कनिष्ठादेशिन्यंगुष्ठमूलान्यग्रं करस्य तु।
प्रजापतिपितृब्राह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात् ॥

कनिष्ठिका, तर्जनी और अंगुष्ठ इनके मूलमें तथा अंगुलियोंके अग्रभागमें यथाक्रम प्रजापतितीर्थं, पितृतीर्थ, ब्रह्मतीर्थ और देवतीर्थ होते हैं। महर्षि हारीतने कहा है—

देवाश्च पितरश्चैव काङ्क्षन्ति सरितां जलम्।
अदत्ते तु निराशास्ते प्रतियान्ति यथागतम्॥

देवतागण तथा पितृगण नदीजलसे तर्पण चाहते हैं। और न करनेपर निराश होकर अपने स्थानको लौट जाते हैं। और भी—

देवताश्च पितृंश्चैव मुनीन् वा यो न तर्पयेत्।
देवादीनामृणो भूत्वा नरकं प्रतिपद्यते॥

देवता, पितृ और ऋषियोंका तर्पण जो नहीं करता है, वह देवादि ऋणोंमें ग्रस्त होकर नरकमें जाता है। योगी याज्ञवल्क्यने भी कहा है—

निस्पीड़यति यो वस्त्रं स्नानवस्त्रमतर्पिते।
निराशाः पितरो यान्ति शापं दत्त्वा सुदारुणम्॥

बिना तर्पण किये जो स्नानवस्त्रको निचोड़ता है, उसके पितृगण निराश होकर शाप देकर चले जाते हैं। इत्यादि अनेक वचन तर्पणकी कर्त्तव्यताके विषयमें प्राप्त होते हैं। महर्षि मरीचिने लिखा है :—

तिथितीर्थविशेषेषु गङ्गायां प्रेतपक्षके।
निषिद्धेऽपि दिने कुर्यात्तर्पणं तिलमिश्रितम् ॥

तिथिविशेष, तीर्थविशेष, गङ्गा तथा प्रेतपक्षमें निषिद्ध दिनमें भी तिलमिश्रित तर्पण करना चाहिये। स्कंदपुराणमें भी लिखा है—

विशेषतस्तु जाह्नव्यां सर्वदा तर्पयेत् पितॄन्।
न कालनियमस्तत्र क्रियते सर्वकर्मसु ॥
तिथितीर्थविशेषे च गयायां पितृपक्षके।
निषिद्धेऽपि दिने कुर्यात्तर्पणं तिलमिश्रितम् ॥

विशेषतः गंगामें सर्वदा पितरोंका तर्पण करना चाहिये। उसमें कालका नियम नहीं है। विशेष तिथिमें, विशेष तीर्थमें, पितृपक्ष आनेपर गयामें निषिद्ध दिनमें भी तिलमिश्रित तर्पण करना चाहिये। अब नीचे संक्षेपसे तर्पणोंकी विधियां बताई जाती हैं।

तर्पण करनेवाला स्नान संन्ध्या आदिसे निवृत्त हो, दो वस्त्र धारणकर, मृत्तिका या भस्म लगा तीन आचमन तथा प्राणायामके अनन्तर कुशा तथा जल लेकर—

अमुकगोत्रोऽमुकशर्माहं वेदबोधितपञ्चमहायज्ञान्तर्गतदेवर्षिपितृतर्पणमहं करिष्ये।

इस प्रकारसे सङ्कल्प करे। फिर पवित्र मोतक हाथमें लेकर हाथ जोड़ नीचे लिखे मंत्रसे देवताओंका आवाहन करे। यथा—

ओं विश्वे देवास आगत शृणुता म इमं हवम्। एदंबर्हिर्निषीदत।

अनन्तर एक तांबेके पात्रमें पूर्वाग्र कुशा धर, पूर्वाभिमुख हो, देवतीर्थसे चावलसहित जलको प्रत्येक मंत्रके अंतमें एक एक अंजलि छोड़ता जाय।

ओं ब्रह्मा तृप्यताम्, ओं विष्णुस्तृप्यताम्, ओं रुद्रस्तृप्यताम्, ओं प्रजापतिस्तृप्यताम्, ओं देवास्तृप्यन्ताम्, ओं छन्दांसि तृप्यन्ताम्, ओं वेदास्तृप्यन्ताम्··ओं पर्वतास्तृप्यन्ताम्,··ओं ओषधयस्तृप्यन्ताम्, ओं भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यताम्।

अनन्तर हाथ जोड़कर उत्तराभिमुख बैठ नीचे लिखे मंत्रसे ऋषियोंका-आवाहन करे।

ओं सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतोलोकमीयु यत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥

फिर यज्ञोपवीतको कण्ठमें कर जलमें यव मिला एक एक ऋषिको दो दो अंजलि अगले मंत्रोंसे उत्तरको मुखकर देवे। यथा—

ओं सनकस्तृप्यताम्, ओं सनन्दनस्तृप्यताम्, ओं सनातनस्तृप्यताम्, ओं कपिलस्तृप्यताम्, ओं आसुरिस्तृप्यताम्, ओं बोढुस्तृप्यताम्, ओं पञ्चशिखस्तृप्यताम्।

फिर अपसव्य हो अर्थात् यज्ञोपवीतको दक्षिण स्कन्धके ऊपर तथा वाम बाहुके नीचे करके दक्षिणाभिमुख हो निम्नलिखित मन्त्रसे पितरोंका आवाहन करे। यथा—

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥

तदनन्तर जलमें तिल मिला पितरोंको तीन तीन अंजलि देवें। यथा—

ओं कव्यवाडनलस्तृप्यताम्, ओं सोमपास्तृप्यन्ताम्, ओं यमस्तृप्यताम्, ओं अर्यमा तृप्यताम्, ओं अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्, ओं सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्, ओं बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्, ओं यमाय नमः, ओं धर्मराजाय नमः, ओं मृत्यवे नमः, ओं अन्तकाय नमः, ओं वैवस्वताय नमः, ओं कालाय नमः, ओं सर्वभूतक्षयाय नमः, ओं औदुम्बराय नमः, ओं दध्नाय नम, ओं नीलाय नमः, ओं परमेष्ठिने नमः, ओं वृकोदराय नमः, ओं चित्राय नमः, ओं चित्रगुप्ताय नमः।

ओं अद्य अमुकगोत्रः अमुकशर्मा पिता तृप्यतामिदं जलं सतिलं तस्मै स्वधा नमः।

ओं अद्य अमुकगोत्रः अमुकशर्मा पितामहस्तृप्यतामिदं जलं सतिलं तस्मै स्वधा नमः।

ओं अद्य अमुकगोत्रः अमुकशर्मा प्रपितामहः तृप्यतामिदं जलं सतिलं तस्मै स्वधा नमः।

अनन्तर ऊपर लिखित रीतिके अनुसार माता, पितामही और प्रपितामहीको तीन तीन अञ्जलि देवे।

अनन्तर तीन तीन अञ्जलि मातामह, प्रमातामह, तथा वृद्ध प्रमातामहको देवे और मातामही, प्रमातामही, वृद्धप्रमातामहीको एक एक अञ्जलि देवे, उसमें मातामह, प्रमातामह, वृद्धप्रमातामहके अञ्जलिदानमें एक बार मन्त्र पढ़े दो बार वाक्यमात्र पढ़े।

इसके अनन्तर और सम्बन्धियोंको जिनको जलदान करना उचित हो, उनका गोत्र और नाम लेकर एक एक अञ्जलि देनी चाहिये। यह सब कृत्य हो जानेपर स्नान वस्त्रको वाम भागमें—

ये के चास्मत् कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीड़नोदकम्॥

इस मन्त्रसे निचोड़ कर, सव्य हो, आचमन करके, चन्दन अक्षत पुष्प जलमें मिलाकर अर्घपात्रमें या अञ्जलिमें ले—

ओं नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे।
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मदायिने॥

इस मन्त्रसे सूर्यनारायणको अर्घ देकर तीन प्रदक्षिणा और नमस्कार करके:—

'ओं देवा गातु विदो गातुं वित्वा गातुमितः'

इस मन्त्रसे विसर्जन करना होता है यही कात्यायनप्रोक्त तर्पण-विधि है।

जिस प्रकार श्राद्धकृत्यके भीतर व्यापक भाव भरा हुआ है, उसी प्रकार तर्पणमें विश्वतृप्तिका अमोघ सम्बन्ध देखनेमें आता है। इस कारण अपने निकटस्थ तथा दूरस्थ आत्मीयोंके तर्पणके अनन्तर निम्नलिखित नामसे भी तर्पण किये जाते हैं। यथा—

देवाः सुरास्तथा यक्षा नागा गन्धर्वराक्षसाः।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धा कुष्माण्डास्तरवः खगाः॥
जलेचरा भूमिलया वायुधाराश्च जन्तवः।
प्रीतिमेते प्रयान्त्याशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः॥

इस मन्त्रके द्वारा पूर्वमुख होकर देवता, यज्ञ, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कुष्माण्ड, तरु, पक्षी तथा जलचर, स्थलचर, व्योमचर सभी जीवोंकी तृप्तिके लिये एक एक अञ्जलि जल देनेकी आज्ञा की गई है। तदनन्तर:—

नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद् दीयते सलिलं मया॥

इस मन्त्रसे दक्षिणाभिमुख होकर नरकस्थ समस्त जीवोंकी तृप्तिके लिये एक एक अञ्जलि जल दिया जाता है। तदनन्तर—

येऽवान्धवा वान्धवा वा येऽन्यजन्मनि वान्धवाः।
ते तृप्तिमखिलां यान्तु यश्चास्मत्तोऽम्बु वाञ्छति॥

इस मन्त्रसे अवान्धव, वान्धव, जन्मान्तरके वान्धव तथा हरेक जल चाहनेवालेकी तृप्तिके लिये एक एक अञ्जलि जल दिया जाता है। तदनन्तर आदित्यपुराणमें अवसानाञ्जलिरूपसे भी दो मन्त्र कहे गये हैं यथा—

यत्र क्वचन संस्थानां क्षुत्तृषोपहतात्मनाम्।
तेषां हि दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम्॥
ये मे कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारविवर्जिताः।
तेषां तु दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम्॥

यह अञ्जलि जहाँ कहीं कोई क्षुधा तृष्णासे पीड़ित जीव हो तथा अपने ही कुलमें लुप्तपिण्ड पुत्रदारवर्जित हो उसकी अक्षय तृप्तिके लिये दी जाता है। अवसानाञ्जलिके अन्तमें पितामह भीष्मदेवके लिये भी तर्पण किया जाता है यथाः—

वैयाघ्रपादगोत्राय सांकृत्यप्रवराय च।
गङ्गापुत्राय भीष्माय प्रदास्येऽहं तिलोदकम्॥
अपुत्राय ददाम्येतज्जलं भीष्माय वर्मणे॥

भीष्मदेवने नैष्ठिक ब्रह्मचारी होनेके कारण प्रजातन्तुका विस्तार नहीं किया था, इस कारण उनके नप्तारूप संसारके सभी जीव उनकी तृप्तिके लिये तर्पण करते हैं, यही सब विस्तारित तर्पणविधि है। जो इसके करनेमें असमर्थ हो, उसके लिये निम्नलिखित मन्त्रोंसे संक्षिप्त तर्पणविधि भी आर्यशास्त्रमें बताई गई है यथा—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः॥
अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम्॥
एकं जलाञ्जलिं दद्यात्कुर्यात् संक्षिप्ततर्पणम्॥

और भी विष्णुपुराणमें—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्तृप्यत्विति ब्रुवन् ।
क्षिपेत्पयोऽञ्जलीं स्त्रींस्तु कुर्यात् संक्षिप्ततर्पणम् ॥

इस मन्त्रसे आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त विश्वके निखिल प्राणियोंकी तृप्तिके लिये एक अञ्जलि या तीन अञ्जलि जल देनेकी आज्ञा की गई है। यही संक्षिप्त तर्पण है। इन सब तर्पणोंका फल क्या है सो भी शास्त्रमें लिखा है यथा—

एवं यः सर्वभूतानि तर्पयेदन्वहं द्विजः ।
स गच्छेत्परमं स्थानं तेजोमूर्त्तिमनामयम् ॥

सकल जीवोंकी तृप्तिके लिये नित्य नियमित रूपसे जो तर्पण करते हैं उनको अनामय, तेजोमय, परमधाम प्राप्त होता है। यही आर्यशास्त्रविहित श्राद्ध तथा तर्पणका रहस्य वर्णन है।

तर्पणकी विशेषता कलियुगमें सर्वोपरि है। क्योंकि कलियुगके जीव प्रायः प्रमादी और असमर्थ होते हैं। तर्पणयज्ञ द्वारा पञ्चमहायज्ञका पूरा काम निकलता है। जलदान और मानसिक सङ्कल्पसे ही पूज्य ऋषियोंका सम्बर्द्धन होकर ब्रह्मयज्ञका कार्य, देवताओंकी तृप्ति होकर देवयज्ञका कार्य, इसी प्रकार नैमित्तिक देवताओं और अन्य प्राणियोंको जल देनेसे भूतयज्ञकार्य नित्य और नैमित्तिक पितरोंको जलदेनेसे पितृयज्ञका कार्य और महापुरुषोंको जलदेनेसे नृयज्ञका कार्य रूपान्तरसे सुसिद्ध होता है। इसका साधन भी सुसाध्य और देशकालपात्रके अनुकूल है। इस कारण इसका साधन सबको करना उचित है।

सप्तमकाण्डकी तृतीय शाखा समाप्त हुई।



पञ्चमहायज्ञ ।

'पितृयज्ञस्तु तर्पणम्' इस मनूक्त वचनके अनुसार पूर्वाध्यायमें तर्पणविधि-वर्णनके द्वारा पितृयज्ञविधिका वर्णन कर दिया गया है। गृहस्थोंके नित्यकृत्यरूप पञ्चमहायज्ञोंमें पितृयज्ञके सिवाय ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ इन चारोंका भी विधान हैं। इन पांचों महायज्ञ द्वारा पञ्चसूना दोषनाश तथा विराट् सत्ताके साथ एकता सम्पादन किस प्रकारसे हो सकता है इसका विस्तृत विज्ञान वर्णन इस ग्रन्थके प्रथम खण्डमें ही किया गया है। अब प्रसङ्गोपात्त इन चारों महायज्ञोंकी भी संक्षिप्त विधि नीचे क्रमशः बताई जाती है।

ब्रह्मयज्ञानुष्ठानमें प्रथमतः आचमन प्राणायाम करके सङ्कल्प करना होता है। 'ओं अद्य—श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं आत्मशुद्ध्यर्थं पञ्चसूनादोषपरिहारार्थं च ब्रह्मयज्ञाऽऽख्यं कर्म करिष्ये' यह सङ्कल्पवाक्य है। पश्चात् दोनों हाथोंमें कुशा लेकर और दक्षिण जानुपर हाथोंको रखकर प्रणव तथा तीन व्याहृतियों सहित गायत्री पढ़ना होता है। तदनन्तर वेद वेदाङ्ग दर्शन आदिके नियमपूर्वक क्रमशः पाठ करनेका विधान है। किन्तु यदि इतना न हो सके तो वेद वेदाङ्ग आदिके प्रथम प्रथम मन्त्र या मुख्य मुख्य वाक्य अवश्य पढ़ने चाहिये यथा—

ओं अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य इत्यादि ऋग्वेदः।
ओं इषेत्वोर्जेत्वा वायवस्थ देवो व. इत्यादि यजुर्वेदः।
ओं अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्य इत्यादि सामवेदः।
ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु इत्यादि अथर्ववेदः।
ओं अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मणम्।
अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि (शिक्षा)
अथातोधिकारः फलयुक्तानि कर्माणि (कल्पसूत्रम्)
अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म (गृह्यसूत्रम्)
गौः ग्मा (निघण्टुः)
समाम्नायः समाम्नातः (निरुक्तम्)

मयरसतजभनलगसंमितम् (छन्दः)
वृद्धिरादैच् (व्याकरणम्)
पञ्चसंवत्सरमयं युगाध्यक्षम् (ज्योतिषम्)
अथातो धर्मजिज्ञासा (कर्ममीमांसा)
अथातो दैवीमीमांसा (दैवीमीमांसा)
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्रह्ममीमांसा)
मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ (स्मृतिः)
नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ (इतिहासः)
जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट इत्यादि (पुराणम्)
तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम् ।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवम् ॥ (आदिकाव्यम्)
ओं स्वस्ति ॥
इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीड़ित ।
वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः ॥
ओं तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ।

मध्यम स्वरसे इन सबका पाठ करनेके अनन्तर हस्तगृहीत कुशोंको पूर्व दिशामें त्याग करना होता है और इसके बाद 'अनेन ब्रह्मयज्ञेन परमात्मा प्रीयताम्' ऐसा कहकर जल छोड़ना होता है। यही नित्यानुष्ठेय ब्रह्मयज्ञकी विधि है। ब्रह्मयज्ञकी तरह देवयज्ञके लिये भी सङ्कल्प करना होता है, यथा—

ओं अद्य—अन्नसंस्कारार्थं आत्मसंस्कारार्थं पञ्चसूनादोषपरिहारार्थं सायंप्रातर्वैश्वदेवयज्ञं करिष्ये ।

तदनन्तर—

ओं जुष्टोदमूना आत्रेयो वसुश्रुतो अग्निस्त्रिष्टुप् अग्न्याह्वाने विनियोगः । ओं जुष्टोदमूना अतिथिर्दुरोण इमन्नो यज्ञमुपयाहि विद्वान् विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयता मा भरा भोजनानि ॥

इस मन्त्रसे अग्निका आवाहन करना होता है। तदनन्तर निम्नलिखित मन्त्रसे कुण्डमें अग्निस्थापन करना होता है यथा—

ओं समस्तव्याहृतीनां परमेष्ठी प्रजापतिः प्रजापतिर्बृहती अग्निष्ठापने विनियोगः।

'ओं भूर्भुवः स्वरोम्' पावकनामानं अग्निं प्रतिष्ठापयामि॥

तदनन्तर कुण्डकी चारों ओर परिसमूहन अर्थात् चारों ओरकी पृथिवीपर सजल हाथ फेरना होता है। तत्पश्चात् पर्य्युक्षण अर्थात् अग्निकी चारों ओर जल छिड़कना होता है। इसके पश्चात् सिद्ध अन्न पात्रमें रखकर उसमें घृत मिलाकर अग्निस्पर्श करके अपने सम्मुख रखना होता है। और तदनन्तर निम्नलिखित मन्त्रोंसे आहुति देनी होती है यथा—

ओं ब्रह्मणे स्वाहा।

ओं प्रजापतये स्वाहा।

ओं गृह्याभ्यः स्वाहा।

ओं कश्यपाय स्वाहा।

ओं अनुमतये स्वाहा।

ओं अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा।

तदनन्तर पूर्वरीतिके अनुसार पुनः अग्निकी चारों ओर परिसमूहन तथा पर्य्युक्षण करना चाहिये। पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रसे अग्निदेवकी प्रार्थना करनी चाहिये। यथा—

ओं अग्निमीळे पुरोहितं इत्यादि।

ओं अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। इत्यादि—

ओं चमे स्वरञ्चमे यज्ञोपचिते नमश्च यत्ते न्यूनं तस्यैत उपयत्तोऽतिरिक्तं तस्मै ते नमः।

इस प्रार्थना मन्त्रपाठके बाद अग्निदेवके विसर्जनकी भावना निम्नलिखित मन्त्रोच्चारण द्वारा करना होता है यथा—

ओं गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ स्वस्थानं परमेश्वर।
यत्र ब्रह्मादयो देवास्तत्र गच्छ हुताशन॥

तदनन्तर—

ओं यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।

न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो बन्दे तमच्युतम् ॥
अनेन वैश्वयज्ञेन यज्ञपुरुषः प्रीयताम् ।

इस मन्त्रसे यज्ञसमाप्ति करनी होतो है। यही नित्यानुष्ठेय देवयज्ञकी विधि है। पितृयज्ञकी विधि पहिले ही बताई जा चुकी है। अब नोचे भूतयज्ञकी विधि बताई जाती है।

देवयज्ञ और भूतयज्ञको वैश्वदेवकृत्य तथा बलिकृत्य भी कहते हैं। इनकी अवश्यकर्तव्यताके विषयमें मन्वादि स्मृतिकारोंने लिखा है—

सायंप्रातर्वैश्वदेवः कर्तव्यो बलिकर्म च ।
अनश्नतापि कर्त्तव्यमन्यथा किल्बिषी भवेत् ॥
भुवि भूतोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः ।
श्वचाण्डालविहङ्गानामन्नं दद्यात्ततो नरः ॥

प्रातः काल तथा सायंकाल वैश्वदेव और बलिकर्म अवश्य करना चाहिये, स्वयं बुभुक्षु रहकर भी बलिवैश्वदेव अवश्य अनुष्ठेय है, अन्यथा पापभागी होना पड़ता है। संसारमें जीवोंके उपकारके लिये ही गृही ज्येष्ठाश्रमी तथा सर्वाश्रमी कहलाते हैं। इसलिये पशुपक्षी आदि सकल भूतोंको अन्न देना चाहिये। इसीको बलिकर्म या भूतयज्ञ कहते हैं, इसकी विधि निम्नलिखित है।

इस यज्ञमें भी अन्यान्य यज्ञोंकी तरह 'ओं अद्य—परमेश्वरप्रीत्यर्थं पञ्चसूना-दोषपरिहारार्थं च भूतयज्ञैर्यक्ष्ये' इस मन्त्रसे सङ्कल्प करना होता है। और सङ्कल्पानन्तर देवयज्ञसे शेष बचे अन्न द्वारा पृथिवीके ऊपर सब प्राणियोंकी सेवारूप यज्ञका अनुष्ठान करना होता है। प्रथमतः पूर्वसे पश्चिमकी ओर जलसिञ्चन-पूर्वक एक रेखा खिंचनी चाहिये। उसके ऊपर 'ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः' इस मन्त्रसे अन्नादि समर्पण करना होता है। और इसी मन्त्रसे उसपर थोड़ासा जल देना होता है। तदनन्तर प्रथम रेखाके उत्तरकी ओर और एक रेखा खींच कर 'ओं सर्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः' इस मन्त्रसे बलि और जल देना होता है। तदनन्तर दक्षिणमुख हो बामजानुपर वैठकर और एक रेखा खींचनी चाहिये और 'ओं पितृभ्यः स्वधा' इस मन्त्रसे पितृतीर्थ द्वारा उसपर पूर्ववत् बलि और जलप्रदान करना चाहिये। उसके बाद उत्तरकी ओर और एक रेखा खींचकर दक्षिणजानुपर बैठे 'ओं यक्षन् नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीः' इस मन्त्र द्वारा बलिप्रदान और 'ओं यक्षणे नमः' इस मन्त्रसे जल प्रदान करना होता है। तदनन्तर यक्षबलिके पश्चिमभागमें

जलद्वारा और एक उत्तराग्र रेखा अङ्कित करके निम्नलिखित मन्त्रोंसे वलि देनी चाहिये :—

ओं देवा मनुष्याः पशवो वयांसि,
सिद्धाः सयक्षोरगदैत्यसङ्घाः ।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता,
ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥
पिपीलिकाकीटपतङ्गकाद्या,
बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः ।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं,
तेभ्यो विसृष्टं सुदिता भवन्तु ॥
येषां न माता न पिता न बन्धु-
र्नैवान्नसिद्धिर्न तथान्नमस्ति ।
तत्तृप्तयेऽन्नं भुवि दत्तमेतत्,
प्रयान्तु तृप्तिं सुखिनो भवन्तु ॥
भूतानि सर्वाणि तथान्नमेतत्,
अहञ्च विष्णुर्न यतोऽन्यदस्ति ।
तस्मादहं भूतनिकायभूत-
मन्नं प्रयच्छामि भवाय तेषाम् ॥
चतुर्दशो भूतगणो य एषः
यत्र स्थिता येऽखिलभूतसङ्घाः ।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया विसृष्टं,
तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥

इस प्रकारसे बलिप्रदानके बाद 'ओं देवादिभ्यो नमः' इस मन्त्रसे उसपर थोड़ा जल देकर भूमिपर भी जलका छींटा देना चाहिये। तदनन्तर 'ओं चाण्डालपतितपापरोगिभ्यो नमः' 'ओं धर्मराजचित्रगुप्ताभ्यां नमः' 'ओं वायसेभ्यो नमः' इन तीन मन्त्रोंसे तीन बार भूमिपर जल देना होता है। इसके बाद—

ऐन्द्रवारुणवायव्याः सौम्या वै नैर्ऋतास्तथा।
वायसाः प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिण्डं मयार्पितम् ॥

इस मन्त्रको पाठ करके 'ओं वायसेभ्यो नमः' कहकर बलि देना चाहिये। तदनन्तर —

श्वानौ द्वौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ।
ताभ्यां पिण्डं प्रयच्छामि स्यातामेतावहिंसकौ॥

इस मन्त्रको पढ़कर 'ओं श्वभ्यां नमः' ऐसा कहते हुए बलि देना होता है। यही नित्यानुष्ठेय भूतयज्ञकी विधि है। इसके अनन्तर अतिथिपूजनरूप नृयज्ञका अनुष्ठान होता है।

अन्यान्य यज्ञोंकी तरह नृयज्ञमें भी 'ओं अद्येत्यादि परमेश्वरप्रीत्यर्थं नृयज्ञेयंक्ष्ये' इस प्रकार सङ्कल्प करना होता है। तदनन्तर अतिथिको ब्रह्मका स्वरूप समझकर प्रेम तथा श्रद्धाके साथ उनकी सेवा करनी चाहिये। यथा शास्त्रमें—

'हिरण्यगर्भबुद्ध्या तं मन्येताभ्यागतं गृही'।

श्रीभगवान् मनुने भी कहा है—

प्रिया वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा।
संप्राप्तो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥

प्रिय, द्वेष्य, मूर्ख, पण्डित जैसा ही हो, वैश्वदेवके बाद अतिथि पानेपर उसकी सेवासे स्वर्गलाभ होता है। इस कारण अतिथिका कुल नाम जाति आदि कुछ भी न पूछकर केवल नारायणका रूप समझकर उनका सत्कार करनेसे ही नृयज्ञ साधन होता है यथा—

देशं नाम कुलं विद्यां पृष्ट्वा योऽन्नं प्रयच्छति।
न स तत्फलमोप्नोति दत्वा स्वर्गं न गच्छति॥

अतिथिका देश, नाम, कुल, विद्या पूछ कर जो अन्न देता है उसको नृयज्ञका स्वर्गप्रद फललाभ नहीं होता है। अतः वैश्वदेवान्तमें नारायण समझकर ही अतिथि-पूजनरूपी नृयज्ञका अनुष्ठान करना उचित है। यही नित्यानुष्ठेय नृयज्ञ है।

इस प्रकार प्रतिदिन आर्यशास्त्रोक्त पञ्चमहायज्ञका यथाविधि अनुष्ठान करनेपर पञ्चसूना दोष क्षालन, समष्टि सत्ताके साथ एकीकरण तथा स्वतः ही आध्यात्मिक उन्नति लाभ होता है। यही आर्यशास्त्रानुमोदित नित्यकर्मरूप पञ्चमहायज्ञका संक्षिप्त विधान और दिग्दर्शन है।

सप्तम काण्डकी चतुर्थ शाखा समाप्त हुई।

सन्ध्या--गायत्री

पञ्चमहायज्ञकी तरह सन्ध्या भी नित्यकर्म है। अर्थात् इसके अनुष्ठानसे दैनन्दिन पापनिवृत्ति होती है और ब्राह्मी, वैष्णवी तथा रौद्री इन तीनों ब्रह्मशक्तियोंके साथ सन्ध्योपासनके द्वारा नित्य सम्बन्ध स्थापन होनेसे स्वतः ही सन्ध्योपासकको आयु, शक्ति तथा आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त होती है। इसी कारण श्रीभगवान् मनुने सन्ध्योपासनके फलरूपसे लिखा है—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिञ्च ब्रह्मवर्चसमेव च॥

दीर्घकाल तक सन्ध्या करके ऋषिगण दीर्घायुः प्रज्ञा, यश, कीर्त्ति और ब्रह्मतेज लाभ करते हैं। और भी पुराणमें—

नत्वा तु पुण्डरीकांक्ष उपात्ताघप्रशान्तये।
ब्रह्मवर्चसकामार्थं प्रातः सन्ध्यामुपास्महे॥

अर्थात् अर्जित पापकी निवृत्ति तथा ब्रह्मतेजलाभके लिये प्रातरादि सन्ध्याओंकी उपासना होती है। योगियाज्ञवल्क्यने लिखा है—

अतः परं प्रवक्ष्यामि सन्ध्योपासननिर्णयम्॥
अहोरात्रकृतैः पापैर्यामुपास्य प्रमुच्यते॥
निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत्॥
त्रिकालसन्ध्याकरणात्तत् सर्वं विप्रणश्यति॥
सर्वावस्थोऽपि यो विप्रः सन्ध्योपासनतत्परः।
ब्राह्मण्यात् स न हीयेत अन्यजन्मगतोऽपि सन्॥
सन्ध्या तूपासिता येन तेन विष्णुरुपासितः।
दीर्घमायुः स विन्देत सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

सन्ध्योपासनाके द्वारा अहोरात्रकृत पापसे द्विज मुक्त हो सकता है। रात्रि या दिनमें अज्ञानकृत जो कुछ पाप होता है, त्रिकाल सन्ध्या करनेसे वह सब नष्ट हो जाता है। सकल अवस्थामें भी जो विप्र सन्ध्यापासनपरायण रहते हैं उनकी अन्य जन्ममें भी ब्राह्मणत्वसे च्युति नहीं होती है। जिसने

सन्ध्योपासना की उसने विष्णुकी ही उपासना की ऐसा समझना चाहिये। उससे पापनाश तथा दीर्घायुलाभ होता है। महर्षि यमने भी कहा है—

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम्॥

सदा सावहित चित्त होकर जो सन्ध्योपासना करते हैं, वे पापशून्य होकर सनातन ब्रह्मलोकको जाते हैं। योगियाज्ञवल्क्यने और भी लिखा है:—

सायं प्रातस्तु यः सन्ध्यां सऋक्षां पर्युपासते।
जप्त्वैव पावनीं देवीं सावित्रीं लोकमातरम्॥
स तया पावितो देव्या ब्राह्मणो धूतकल्मषः।
न सीदेत् प्रतिगृह्णानः पृथिवीं च ससागराम्॥

प्रातःकाल तथा सायंकाल सन्ध्योपासना और गायत्रीजप जो ब्राह्मण करता है उसका सकल पाप नष्ट हो जाता है और ससागरा पृथिवीका प्रतिग्रह करनेपर भी उसे दोष नहीं स्पर्श करता है। और भी शास्त्रमें—

या सन्ध्या सा तु गायत्री द्विधा भूत्वा प्रतिष्ठिता।
सन्ध्या उपासिता येन विष्णुस्तेन उपासितः॥
स च सूर्यसमो विप्रस्तेजसा तपसा सदा।
तत्पादपद्मरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा॥
जीवन्मुक्तः स तेजस्वी सन्ध्यापूतो हि यो द्विजः॥

जो सन्ध्या है वही गायत्री है, एक ही द्विधा होकर प्रतिष्ठित है। सन्ध्याकी उपासना करनेपर विष्णुकी ही उपासना होती है। ऐसे उपासक तेज तथा तपोबलसे सूर्यतुल्य होते हैं। उनके पादरजस्पर्शसे पृथिवी पवित्र होती है और उनको जीवन्मुक्त पदवीपर प्रतिष्ठा मिलती है। महर्षि यमने और भी कहा है—

यदह्ना कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
आसीनः पश्चिमां सन्ध्यां प्राणायामैस्तु हन्ति तत्॥
यद्रात्र्या कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
पूर्वां सन्ध्यां समासीनः प्राणायामैर्व्यपोहति॥

कर्म, मन, वाणीके द्वारा दिवाकृत पाप सायंसन्ध्यामें प्राणायामके द्वारा नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार रात्रिकृत पाप प्रातःसन्ध्यामें प्राणायामके द्वारा नाश प्राप्त

होता है। सन्ध्यामें आसुरभावनाशकारिणी कैसी अपूर्व शक्ति भरी हुई है, इस विषयमें एक पौराणिक आख्यायिका भी मिलती है यथा—

त्रिंशत्कोट्यो महावीर्या मन्देहा नाम राक्षसाः।
कृष्णातिदारुणा घोराः सूर्यमिच्छन्ति खादितुम्॥
ततो देवगणाः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः।
उपासतेऽत्र ये सन्ध्यां प्रक्षिपन्त्युदकाञ्जलिम्॥
दह्यन्ते तेन ते दैत्या वज्रीभूतेन वारिणा।
एतस्मात् कारणाद् विप्राः सन्ध्यां नित्यमुपासते॥

किसी समय तीस करोड़ महाबलशाली कृष्णवर्ण घोर मन्देह नामक राक्षसोंने एकत्रित होकर सूर्यदेवके संहार करनेकी इच्छा की थी। उस समय देवता तथा तपोधन ऋषियोंने सन्ध्योपासनापूर्वक उसी उपासनाकृत वज्रीभूत जलप्रक्षेपके द्वारा उन दैत्योंका नाश कर दिया था। इसी कारण आसुर तथा राक्षसभाव दूरीकरणार्थं द्विजगण नित्य सन्धोपासना करते हैं। इसके अकरणमें प्रत्यवाय क्या है इस विषयमें महर्षिदक्षने कहा है—

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्चिनित्यमनर्हः सर्वकर्मसु।
यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत्॥

सन्ध्याहीन अशुचि पुरुषका किसी भी कर्ममें अधिकार नहीं होता है। उसके किसी भी कर्मका फललाभ नहीं होता है। महर्षि गोभिलने भी कहा है—

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता।
जीवमानो भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते॥

जिसको सन्ध्याका परिज्ञान या उपासन नहीं है वह जीता ही शूद्रवत् है और मरकर श्वयोनि प्राप्त करता है। और भी विष्णुपुराणमें—

उपतिष्ठन्ति ये सन्ध्यां न पूर्वां न च पश्चिमाम्।
व्रजन्ति ते दुरात्मानस्तामिस्रं नरकं नृप॥

जो दुरात्मा जन प्रातः सायं कोई भी सन्ध्या नहीं करता है, उसको मरणान्तर तामिस्र नरक प्राप्ति होती है।

इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें सन्ध्योपासन तथा गायत्रीजपकी महिमा और इसके अकरणमें प्रत्यवाय बताया गया है। अब नीचे प्रथमतः सन्ध्यो-

पासनाके विषयमें और भी बताकर पश्चात् गायत्रीके विषयमें बताया जायगा। सन्ध्या किसको कहते हैं इस विषयमें महर्षि दक्षने कहा है—

अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्य्यंनक्षत्रवर्जितः।
सा च सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

सूर्य तथा नक्षत्रसे वर्जित, दिवारात्रिके सन्धिकालको सन्ध्या कहते हैं। इस कारण सन्धिकालके विचारसे तात्कालीन उपासनाको भी सन्ध्या कहा गया है, यथा–

उपास्ते सन्धिवेला यां निशाया दिवसस्य च।
तामेव सन्ध्यां तस्मात्तु प्रवदन्ति मनीषिणः॥

(महर्षि व्यास)

दिवारात्रिके सन्धिसमयमें जो उपासना की जाती है, उसको भी इसलिये मनीषियोंने सन्ध्या कहा है। योगियाज्ञवल्क्यने भी कहा है—

त्रयाणाञ्चैव देवानां ब्रह्मादीनां समागमे।
सन्धिः सर्वासुराणान्तु तेन सन्ध्या प्रकीर्तिता॥

सन्ध्यात्रयमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीन देवताओंका समागम होता है और समस्त असुरोंका भी समागम होता है। इस कारण अधोगतिप्रद असुरभावसे सुरक्षित रहनेके लिये ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री शक्तिके साथ सम्मेलनार्थ अनुष्ठित त्रिकालीन उपासनाको भी सन्ध्या कहा गया है।

यह सन्ध्योपासना कब और कहांपर होना प्रशस्त है, इस विषयमें भी आर्य-शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं, यथा—

गृहे त्वेकगुणा सन्ध्या गोष्ठे दशगुणा स्मृता।
शतसाहस्रिका नद्यामनन्ता विष्णुसन्निधौ॥
बहिः सन्ध्या दशगुणा गर्त्तप्रस्रवणेषु च।
खाते तीर्थे शतगुणा ह्यनन्ता जाह्नवीजले॥

(महर्षि व्यास)

घरमें सन्ध्या करनेसे एक गुण फल, गोष्ठमें करनेसे दशगुण फल, नदीमें करनेसे शतसहस्रगुण फल और भगवान् विष्णुके पास करनेसे अनन्त फल होता है। इसी प्रकार झरने आदिके बाद वहिः सन्ध्या करनेसे दस गुण फल, खोदे हुए तीर्थ जलके पास करनेसे शतगुण फल और जाह्नवी जलमें करनेसे अनन्त फल प्राप्त होता है। समयके विषयमें विष्णुपुराणमें लिखा है :—

दण्डैकं रात्रिशेषस्तु, प्रथमं दिवसस्य च।
एवं दण्डद्वयं सन्ध्या पुण्यात् पुण्यतरं स्मृतम्॥
पूर्वापरे तथा सन्ध्ये सनक्षत्रे प्रकीर्त्तिते।
समसूर्येऽपि मध्याह्ने मुहूर्ते सप्तमोपरि॥

रात्रिका शेष एक दण्ड और दिनका प्रथम एक दण्ड ये दो दण्ड प्रातः-सन्ध्याके मुख्य काल हैं। इसी प्रकार दिनका अन्तिम एक दण्ड और रात्रिका प्रथम दण्ड ये दो दण्ड सायं सन्ध्याके मुख्य काल हैं। सप्तम मुहूर्त्तके अनन्तर जब समसूर्य होता है अर्थात् छाया समान होती है, उस समय मध्याह्न सन्ध्या करनी चाहिये। धर्मसारमें भी लिखा है—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
अधमा सूर्यसहिता प्रातः संन्ध्या त्रिधा मता॥
उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्ततारका।
कनिष्ठा तारकोपेता सायं सन्ध्या त्रिधा मता॥

प्रातः सन्ध्यामें नक्षत्रसहित उत्तम है, नक्षत्रवर्जित मध्यम है और सूर्य-सहित अधम है। इसी प्रकार सायं सन्ध्यामें सूर्य्यरहित उत्तम है, नक्षत्रवर्जित मध्यम है और नक्षत्रयुक्त अधम है। इसके सिवाय सन्ध्याके गौणकालके विषयमें गोभिल महर्षिने कहा है—

उदयास्तमयादूर्ध्वं यावत् स्याद् घटिकात्रयम्।
तावत् सन्ध्यामुपासीत प्रायश्चित्तं ततः परम्॥

सूर्योदय तथा सूर्यास्तके बाद तीन घटिका तक सन्ध्योपासनाका काल है। इसके बीत जानेपर प्रायश्चित्त करना होता है। वह प्रायश्चित्त क्या है, इस विषयमें कर्मप्रदीपमें लिखा है—

प्रातः सन्ध्यां सनक्षत्रां नोपास्ते यः प्रमादतः।
गायत्र्यष्टशतं तस्य प्रायश्चित्तं विशुद्धये॥

प्रमादवश यथासमय सन्ध्योपासना न होनेपर प्रायश्चित्तरूपसे १०८ वार गायत्री जप करना होता है। महर्षि जमदग्निने भी कहा है—

सन्ध्याकाले त्वतिक्रान्ते स्नात्वाऽऽचम्य यथाविधि।
जपेदष्टशतं देवीं ततः सन्ध्यां समाचरेत्॥

सन्ध्या समय अतिक्रान्त हो जाय, तो यथाविधि स्नान आचमन करके १०८ वार गायत्री जप करनेके बाद सन्ध्या करनी चाहिये।

सन्ध्योपासना ब्रह्मोपासना है। इसी कारण इसमें जल, सूर्य आदि सगुण ब्रह्मकी विभूति तथा सशक्ति ब्रह्मा-विष्णु-रुद्ररूपी साक्षात् ब्रह्मविभूतिकी उपासना, उपस्थान आदि करनेकी विधियाँ वर्णित हैं। विधिपूर्वक सन्ध्योपासना करनेसे नित्यकृत दुरित निवृत्ति तो होती ही है, अधिकन्तु ऊपर कथित विभूतियोंके अवलम्बनसे व्यापक ब्रह्मके साथ जीवका यह त्रिकालीन नित्यमिलन नित्यानन्द लाभ, चिरअमरतालाभ, अनन्तशक्तिलाभ तथा नि:श्रेयसलाभका कारण बन जाता है। इसी कारण आर्यशास्त्रमें त्रिकालीन सन्ध्योपासनाके ऊपर पूज्यचरण महर्षियोंने इतना जोर दिया है।

प्रातः सन्ध्या, मध्याह्न सन्ध्या और सायं सन्ध्या इन तीनों सन्ध्याओंके मन्त्र प्रायः एकसे ही होते हैं और इनके अनुष्ठान भी कुछ विशेष विभिन्न प्रकारके नहीं होते हैं। इनके सिवाय ऋक, यजुः साम इन वेदत्रयोक्त सन्ध्यावन्दनविधि भी ठीक एकरूप न होनेपर भी मूलकः एक ही रूप है। यजुर्वेद और सामवेदकी सन्ध्यामें बहुत ही थोड़ा भेद है। ऋग्वेदकी सन्ध्यासे उक्त दोनों सन्ध्याओंमें कुछ अधिक भेद है। ऋग्वेदकी सन्ध्यामें ऋचाओंकी संख्या अधिक है और सामवेद तथा यजुर्वेदको सन्ध्याओंमें, विशेषतः सामवेदकी सन्ध्यामें उन्हीं स्थानोंपर 'नमोऽस्तु' मन्त्र पढ़ दिया जाता है। अतः त्रैकालिक सन्ध्या तथा त्रिवेदीय सन्ध्या सभीके यथाविधि अनुष्ठान द्वारा सन्ध्याके दो उद्देश्य—

उपात्त पापनिवृत्ति और ब्रह्मतेजलाभ अवश्य ही सिद्ध होंगे, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

अब नीचे सन्ध्याके अन्तर्गत दशविध क्रियाओंका संक्षेप वर्णन किया जाता है।

१—सन्ध्योपासनाके अन्तर्गत प्रथम क्रियाका नाम मार्जन है। इसमें "ओं शन्न आपो' इत्यादि मन्त्रोंका उच्चारण करते-करते कुशा अथवा इसके अभावमें कनिष्ठा, अनामिका और अंगुष्ठ द्वारा मस्तक, भूमि और ऊपरकी ओर जलसिञ्चनकी विधि है।

यह एक प्रकारका मन्त्रस्नान है जिससे वहिः शुद्धि तथा अन्तःशुद्धि दोनों ही होती है। शुद्धिके बिना उपासना नहीं होती है, इसलिये सन्ध्योपासनाका

प्रथम अङ्ग यह शुद्धि है। इस मार्जनके मन्त्रमें परमपावन ब्रह्मविभूतिस्वरूप जलके समीप बाह्यमल तथा अन्तर्मल दूर करनेके लिये प्रार्थना की जाती है। सृष्टिकार्यमें जल ही प्रथम वस्तु है, वह परम शिवतम रसका प्रतिरूप है, इसलिये जलमें शारीरिक मल दूर करनेकी शक्ति है तथा परम कल्याणमय सब रसोंके मूलरूप ब्रह्ममें संयुक्त करदेनेकी शक्ति है। इसलिये मार्जनमें जलके निकट इस प्रकारसे प्रार्थना है जिससे सन्ध्योपासकको अवश्य ही अन्तर्बहिः शुद्धि तथा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होती है।

२—सन्ध्योपासनाकी द्वितीय प्रक्रियाका नाम प्राणायाम है। इसमें पूरक द्वारा वायु आकर्षण, कुम्भक द्वारा वायुधारण और रेचक द्वारा वायुरेचन किया जाता है।

इन प्रक्रियाओंके क्रमानुसार नाभिदेशमें सृष्टिकर्ता ब्रह्माका ध्यान, हृदयमें पालनकर्ता विष्णुका ध्यान और ललाटमें संहारकर्ता रुद्रका ध्यान किया जाता है और साथ ही साथ ऐसी भी धारणा की जाती है कि, मैं सूर्यमण्डलान्तर्गत तेजःस्वरूप परब्रह्मका चिन्तन करता हूँ, जो संसारदुःखनाशन तथा हमारी बुद्धिवृत्तिके प्रेरक हैं। समस्त विश्व उसीके तेजसे प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकारसे प्राणायाम क्रिया द्वारा व्यापक सत्तासे सम्बन्ध स्थापित होकर ब्रह्मतेज प्राप्ति तथा पापनाश होता है। इस-लिये मनुसंहितामें लिखा है—

यथा पर्वतधातूनां दोषान् दहति पावकः।
एवमन्तर्गतं चैनः प्राणायामेन दह्यते॥

जिस प्रकार अग्निके द्वारा पार्वत्य धातुओंका मल दूर होता है, उसी प्रकार प्राणायामके द्वारा हृदयस्थित पापका नाश होता है।

३—सन्ध्योपासनाकी तीसरी प्रक्रियाका नाम आचमन है। इसमें हाथमें जललेकर उसके कुछ अंशको कण्ठके नीचे उतारकर अवशिष्ट अंशको मस्तक पर छिड़क देना होता है। तदनन्तर पूर्वकृत सन्ध्योपासना समयसे लेकर वर्तमान सन्ध्योपासनाके समयपर्य्यन्त शरीर और मनके द्वारा यदि कोई पापकार्य हुआ हो, तो उसके सम्पूर्ण विनाशके लिये मन्त्र द्वारा तीव्र इच्छा प्रकट की जाती है। इसमें प्रातःकाल बाह्यजगत्के सूर्यरूपी हृदयस्थित अन्तर्ज्योतिमें, मध्याह्नके समय देह तथा देहीके अतिघनिष्ठ सम्बन्धकी धारणा करके जलमें और सायंकालके समय परमात्माके सत्त्वज्योतिःस्वरूप अग्निमें पापकी आहुति देनी होती है। इस प्रकारसे आचमन क्रिया द्वारा अहोरात्रकृत पापोंको दग्धकर के

सूर्यास्तमें जीवात्माके शुद्धिसम्पादन द्वारा ज्ञानशक्ति तथा ब्रह्मतेजका लाभ किया जाता है।

४—सन्ध्योपासनके अन्तर्गत चतुर्थ क्रियाका नाम पुनर्मार्जन है। यह क्रिया पूर्वकथित मार्जनक्रियाके अनुरूप ही है। केवल ऋष्यादि स्मरणपूर्वक देह तथा जीवात्माको और भी विशेषरूपसे पवित्र करना ही इसका मुख्य उद्देश्य है।

५—सन्ध्योपासनाकी पञ्चम क्रियाका नाम अघमर्षण है। अघमर्षणशब्दका अर्थ पापनाशन है। इसमें नासिका रन्ध्रके निकट एक गण्डूष जल रखकर मन्त्रोच्चारण करते करते ऐसी चिन्ता करनी होती है कि, देहस्थित पापराशि कृष्णवर्ण पापपुरुषके रूपमें इस जलमें मिल गया है और इसलिये यह जल कृष्ण हो गया है। इस प्रकार चिन्ता करनेके बाद उस जलको दक्षिण हस्तसे वाम पार्श्वमें बलपूर्वक फेंक देना चाहिये और चिन्ता करनी चाहिये कि, वह पापपुरुष विनष्ट हो गया। यही अघमर्षण क्रिया है।

६—सन्ध्योपासनाकी षष्ठ क्रियाका नाम सूर्योपस्थान है। इसमें परमात्माके साक्षात् विभूतिरूप सूर्यदेवके उपस्थान द्वारा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति तथा ज्ञान उन्मेष होता है। सन्ध्यामें सूर्यके उपस्थानकी जो ऋचाएँ हैं उनमेंसे पहला मन्त्र उदय होनेवाले सूर्यके दर्शनसे जीवजगत्में आनन्दोच्छ्वासका अपूर्व प्रकाश है। यथा— "विश्वप्रकाशके लिये रश्मिगण सूर्यको वहन किये लिये आती हैं। सूर्यदेव अन्तरीक्ष और पृथिवीके नेत्रस्वरूप तथा चराचरजगत्के आत्मास्वरूप हैं। सूर्योपस्थानके समय जिस प्रकारकी मुद्राका प्रयोग किया जाता है उससे जान पड़ता है कि उपासक सूर्यके साथ मिलनेके लिये प्रस्तुत है।

इससे उपासकको तेजोलाभ, ज्ञानलाभ तथा पवित्रतालाभ होता है। इसके उपरान्त सूर्यमण्डलके मध्यमें प्रातःकाल गायत्री, मध्याह्नकाल सावित्री और सायंकाल सरस्वती नामसे एक ही महादेवीके त्रिविध रूपोंका जो ध्यान बताया गया है उससे भी ब्रह्मतेजप्राप्ति तथा तत्त्वज्ञानका उन्मेष होता है। इस प्रकार पूर्व पूर्व क्रियाओंके द्वारा पापनाशके बाद सूर्योपस्थान क्रियाके द्वारा ब्रह्मतेजप्राप्ति तथा ज्ञानका विकाश होता है।

७—सन्ध्याकी सप्तम क्रियामें गायत्रीका आवाहन, ध्यान और जपकी विधि है। त्रिकालके भेदसे गायत्रीकी अधिष्ठात्री देवता भी तीन हैं, यथा— ब्राह्मी, वैष्णवी और माहेश्वरी देवी। इनके पृथक् पृथक् रूप तथा भावके

अनुसार ध्यान भी पृथक् पृथक् हैं। उनको अक्षरत्रयमयी, ब्रह्मवादिनी, सनातनी वेदमातृरूपसे आवाहन करके उनकी उपासना तथा उनसे शक्ति मांगी जाती है, जिससे सन्ध्योपासकको शक्तिलाभ, ब्रह्मतेजलाभ, तथा ज्ञानलाभ होता है। यही सन्ध्यान्तर्गत सप्तम प्रक्रिया है।

८-९-१०-सन्ध्याकी अष्टम क्रियामें आत्मरक्षा, नवम क्रियामें रुद्रोपस्थान और दशम क्रियामें सूर्यार्घ्यका विधान किया गया है। आत्मरक्षा द्वारा आत्माकी उन्नत स्थितिका लाभ, रुद्रोपस्थान द्वारा तेजोलाभ और सूर्यार्घ्य द्वारा सूर्यदेवताका अन्तिम अभिनन्दन होता है। इस प्रकारसे सन्ध्योपासनारूपी नित्यकर्मके त्रिकालानुष्ठान द्वारा नित्यकृत पापनाश तथा ब्रह्मतेजका क्रमविकाश होता है। यही सन्ध्योपासनाका शास्त्रनिर्णीत संक्षिप्त रहस्य है।

सन्ध्या करनेके समय मौन रहना होता है। यदि उस समय अकस्मात् छींक आजाय, थूकना पड़े, जिम्हाई लेना पड़े, तन्द्रा आजाय या भूलसे मौनभङ्ग हो जाय तो विष्णुस्मरणपूर्वक-दक्षिणकर्ण स्पर्श करना चाहिये। सन्ध्योपासनमें कुछ निषिद्ध दिन भी शास्त्रमें बताये गये हैं। यथा-जननाशौचके दिन सन्ध्या निषिद्ध है। अमावस्या, पूर्णिमा, द्वादशी, संक्रान्ति और श्राद्धदिनोंमें सायं-सन्ध्या निषिद्ध है। किन्तु निषिद्ध दिनोंमें भी गायत्री जप किया जा सकता है। प्रातःसन्ध्या पूर्वमुख होकर, मध्याह्नसन्ध्या पूर्व या उत्तरमुख होकर और सायं सन्ध्या नैऋतकोणकी ओर मुख करके करनी चाहिये। सन्ध्योपासनामें विहित मन्त्रोंके लिये तत्तद् वैदिक ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य है। यहांपर बाहुल्य भयसे उन मन्त्रोंका उद्धरण नहीं किया गया। अतः यहां पर गायत्रीके विषयमें कुछ वर्णन किया जाता है।

पहले ही कहा गया है कि,-'या सन्ध्या सा तु गायत्री द्विधाभूता प्रतिष्ठिता' अर्थात् जिस प्रकार सन्ध्योपासना ब्रह्मोपासना है, उसी प्रकार गायत्री-उपासना भी ब्रह्मोपासना है, क्योंकि दोनों ही उपासनाओंमें ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री-रूपिणी-त्रिधाविभक्त ब्रह्मशक्तिकी उपासना होती है। त्रिसन्ध्याओंमें ये तीन शक्तियां पृथक् पृथक् उपस्थित होती हैं और गायत्रीदेवीमें ये तीन शक्तियां एकाधारमें संन्निविष्ट हैं। प्रलयानन्तर सृष्टिके समय परमात्मामें प्रथमतः इच्छा शक्तिका विकाश होता है और तदनन्तर क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्तिके विकाशके साथ ही साथ उनके देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश, उनकी ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री नाम्नी तीन शक्तियां, तीनोंकी समन्वयरूपिणी त्रिपदा गायत्री, त्रिदेव समन्वयरूप

ओंकार, ज्ञानाधार त्रिवेद तथा कार्यब्रह्मके अन्तर्गत भूर्भुवः स्वः रूप व्याहृतित्रयका विकाश हो जाता है। प्रथम तीन शक्तियोंका विकाश होकर पश्चात् वेदोंका आविर्भाव होता है, इस कारण त्रिशक्तिसमन्वयरूपिणी गायत्रीदेवीको वेदजननी कहा गया है। समस्त क्रियोन्मेषके मूलमें सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा है, इस कारण ब्रह्माके द्वारा ही इन सभींका उद्धार बताया गया है यथा मनुसंहिताके द्वितीयाध्यायमें—

अकारञ्चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवःस्वरितीति च ॥
त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥

प्रणवके अङ्गस्वरूप अकार, उकार, मकारको तथा भूः भुवः स्वः नामक तीन व्याहृतियोंको प्रजापति ब्रह्माने यथाक्रम तीन वेदसे प्रकट किया है। उसी प्रकार 'तदित्यादि' गायत्रीके तीन पादोंको भी उन्होंने तीन वेदसे प्रकट है। गायत्रीके वेदजननी होनेके विषयमें शंखसंहितामें लिखा है :—

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ॥

गायत्री वेदमाता हैं, गायत्री पापनाशकारिणी है, गायत्री जैसी पवित्र वस्तु, मर्त्यलोक या द्युलोकमें कहीं भी नहीं है। अब नीचे नाना शास्त्रोंसे गायत्रीके भावार्थ, रहस्य तथा महिमाके विषयमें वर्णन किये जाते हैं। गायत्रीका पूरा मन्त्र यह है—

'ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'

इसी मन्त्रका जप चिन्तन करना चाहिये। यथा कूर्मपुराणमें:—

ओंकारमादितः कृत्वा व्याहृतीस्तदनन्तरम् ।
ततोऽधीयीत सावित्रीमेकाग्रः श्रद्धयान्वित ॥

एकाग्रचित्तसे श्रद्धायुक्त होकर प्रथम ओंकार तदनन्तर भूर्भुवःस्वः नामक व्याहृतित्रय और तत्पश्चात् गायत्रीका उच्चारण करना चाहिये। महर्षि व्यासने भी कहा है—

प्रणवव्याहृतियुतां गायत्रीञ्च जपेत्ततः।
समाहितमनास्तूष्णीं मनसा वापि चिन्तयेत् ॥

एकाग्रचित्त तथा मौन होकर प्रणव और व्याहृतिसे युक्त गायत्रीका जप अथवा मनमें चिन्तन करना चाहिये। समग्र मन्त्रका अन्वय तथा अर्थ निम्नलिखितरूप है–

ओं भूःर्भुवःस्वः तस्य सवितुर्देवस्य (तं) वरेण्यं भर्गः धीमहि, यः (भर्गः) नः धियः प्रचोदयात्।

सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती दीप्तिमान् परमात्मा निमित्तकारणरूपसे भूः भुवः स्वः नामक महाव्याहृतित्रयको (तथा उपलक्षरूपसे सप्तलोकरूपी सप्तव्याहृतियोंको) उत्पन्न तथा प्रकाशित करके उपादान कारणरूपसे तद्रूप बना हुआ है, उसके उस वरणीय तेजका मैं चिन्तन करता हूँ, जो तेज हमारी बुद्धिको धर्मार्थकाममोक्षमें नियोजित करता है। अब नीचे इस अर्थानुकूल प्रत्येक मन्त्रशब्दका पृथक् पृथक् विवेचन किया जाता है।

'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः'

ओंकार समस्त मन्त्रोंका सेतु अर्थात् यथास्थान पहुँचानेवाला है, इस सिद्धान्तके अनुसार गायत्रीके प्रथम तथा अन्तमें प्रणवोच्चारण करना आवश्यकीय है। श्रीभगवान् मनुजीने भी कहा है:—

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
क्षरत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्य्यते ॥

मन्त्रके आदि तथा अन्तमें प्रणवका उच्चारण करना चाहिये। अन्यथा आदि अन्त दोनों ही ओर प्रत्यवाय होता है। यही कारण है कि गायत्रीके आदिमें 'ओं' कहा जाता है। तदनन्तर 'भूः भुवः स्वः' रूपी व्याहृतित्रयका उच्चारण किया जाता है। व्याहृति किसको कहते हैं इस विषयमें योगियाज्ञवल्क्यने कहा है––

भूराद्याश्चैव सत्यान्ताः सप्तव्याहृतयस्तु याः।
लोकास्त एव सप्तैते उपर्य्युपरि संस्थिताः ॥
सप्त व्याहृतयः प्रोक्ताः पुराकल्पे स्वयम्भुवा।
ता एव सप्त छन्दांसि लोकाः सप्त प्रकीर्त्तिताः ॥

भूर्लोकसे सत्यलोक पर्यन्त ऊपर ऊपर सन्निविष्ट सात लोक सप्तव्याहृति कहलाते हैं। पूर्वकल्पमें ब्रह्माने इन्हें सप्त व्याहृति कही है और ये ही सप्त छन्द भी कहलाते हैं। इनमेंसे सत्त्वरजस्तमोमय तथा ब्रह्मा विष्णु महेश्वरमय प्रथम तीन महाव्याहृति कहे जाते हैं यथा कूर्मपुराणमें —

पुराकल्पे समुत्पन्ना भूर्भुवः स्वः सनातनाः।
महाव्याहृतयस्तिस्रः सर्वासुरनिबर्हणाः।
प्रधानं पुरुषः कालो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
सत्त्वं रजस्तमस्तिस्रः क्रमाद् व्याहृतयः स्मृताः॥

पूर्वकल्पमें भूः भुवः स्वः ये तीन दिव्यतेजपूर्ण महाव्याहृतियां उत्पन्न हुई थीं, जो सत्त्वरजस्तमात्मक तथा ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मक हैं। यही कारण है कि ये तीन महाव्याहृति कहलाते है और विश्वरूप परमात्मा भी इनके रूप तथा इनके उत्पादक और प्रकाशक हैं। इस प्रकारसे प्रणव और व्याहृतिका उच्चारण करके पश्चात् गायत्रीका उच्चारण किया जाता है। उसमें प्रथम 'तत् सवितुः' यह वाक्य आता है। 'तत्' का 'तस्य' अर्थ है। 'सवितुः' का सर्वभूतानां प्रसवितुः' या 'सर्वभावानां प्रसवितुः' यह तात्पर्य है। योगियाज्ञवल्क्यने लिखा है।—

सविता सर्वभूतानां सर्वभावान् प्रसूयते।
सवनात् पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते॥

सकल भूतोंके उत्पादक तथा पावनकर्त्ता होनेसे परमात्मा सविता कहलाते हैं, 'सविता' शब्दका अर्थ सूर्य भी है और गायत्रीमें तेजकी उपासना होती है, इस कारण 'सविता' शब्दसे सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती परम-पुरुष परमात्मा जानना चाहिये। अतः 'तत्सवितुः' या 'तस्य सवितुः' का यह तात्पर्य निकला कि,—जिस परमात्माने तीन महाव्याहृतियोंको उत्पन्न किया है, जो इन्हें प्रकाशित करते हैं और स्वयं इनके रूप हैं, उनका वह सविता कैसे हैं? इसके उत्तरमें उनको 'देवस्य' कहा गया है। योगियाज्ञवल्क्यने लिखा है—

दीव्यते क्रीडते यस्मादुच्यते द्योतते दिवि।
तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतः॥

परमात्मा मायाके आश्रयसे लीला करते हैं और दीप्तिमान् हैं, इस कारण 'देव' कहलाते हैं। ऐसे दीप्तिमान् सविताके तेजका चिन्तन किया जाता है। मन्त्रमें 'तं वरेण्यं भर्गः' कहकर जो 'तं' पदका अध्याहार किया गया है उसके विषयमें योगियाज्ञवल्क्यने कहा है—

तच्छब्देन तु यच्छब्दो बोद्धव्यः सततं बुधैः।
उदाहृते तु यच्छब्दे तच्छब्दः स्यादुदाहृतः॥

मन्त्रमें 'यः भर्गः' अर्थात् 'जो भर्ग' कहकर जब भर्गका निर्देश किया है, तो उस भर्गका चिन्तन करता हूँ ऐसा बतानेके लिये 'उस' अर्थमें 'तं' पदका अध्याहार करना पड़ा है। वह भर्ग कैसा है ? इसके उत्तरमें 'वरेण्यं' शब्दका प्रयोग हुआ है। योगियाज्ञवल्क्यने कहा है—

वरेण्यं वरणीयञ्च जन्मसंसारभीरुभिः।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वै मुमुक्षुभिः॥
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च।
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्यः सूर्यमण्डले॥

जन्म तथा संसारभयसे भीत मुमुक्षु जनोंके लिये सूर्यमण्डलस्थ परम-पुरुष परमात्मा वरेण्य अर्थात् वरणीय होते हैं। जनन-मरणनिवारण तथा त्रिताप निवारणार्थं ध्यानयोगसे ये ही पुरुष द्रष्टव्य हैं। अब 'भर्ग' शब्दका अर्थ बताया जाता है। सवितृमण्डलमें जो परमात्माका दिव्य तेज है, सूर्यका प्रकाश जिस दिव्य तेजका आधिभौतिक विकाशमात्र है, उसी दिव्य तेजको भर्ग कहते हैं। यथा योगियाज्ञवल्क्यमें—

भृजिः पाके भवेद्धातुर्यस्मात् पाचयते ह्यसौ।
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगच्चान्ते हरत्यपि॥
कालाग्निरूपमास्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः।
भ्राजते तत् स्वरूपेण तस्माद् भर्गः स उच्यते॥
भेति भाजयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजाः।
गइत्यागच्छतेऽजस्रं भारगो भर्ग उच्यते॥
आदित्यान्तगतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्।
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति॥

हृद्व्योम्नि तपति ह्येष बाह्ये सूर्यः स चान्तरे ।
अग्नौ वा धूमके ह्येष ज्योतिश्चित्रङ्कुरं यतः ॥
हृद्याकाशे च यो जीवः साधकैरुपवर्ण्यते ।
स एवादित्यरूपेण बहिर्नभसि राजते ॥

परमात्माका दिव्य तेज स्वयं प्रकाशमान् होकर समस्त विश्वजीवको प्रकाशित करता है, परिपाक करता है, सप्तरश्मि सूर्यरूप धारण करके अन्तमें विश्वका लय भी करता है इसलिये इसका नाम भर्ग है । 'भर्ग' में भ, र और ग ये तीन अक्षर हैं । भ के द्वारा सप्त लोकोंका विभाग करना, र के द्वारा प्रजाओंका रञ्जन करना और ग के द्वारा प्रचुर प्रकाशमान होना, इस तरहसे भी भरग अर्थात् भर्ग कहला सकता है । जो परम ज्योति सूर्यरूपमें बाहर प्रकाशित है, अग्निरूपमें दीप्तिमान् है, वही आत्मतेजरूपमें जीवमात्रके हृदयमें विद्यमान है । उसी दिव्यतेजको भर्ग कहते हैं । गायत्री उपासनामें उसी दिव्यतेजका चिन्तन तथा ध्यान होता है, जो तेज जीवोंकी बुद्धिको धर्म अर्थ काम मोक्षके भिन्न भिन्न मार्गमें प्रेरित करता है । यथा योगियाज्ञवल्क्यमें—

चिन्तयामो वयं भर्गं धियो यो नः प्रचोदयात् ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धिवृत्तीः पुनः पुनः ॥

हम उसी भर्गका चिन्तन करते हैं, जो धर्मार्थकाममोक्षमें हमारी बुद्धिवृत्तिको पुनः पुनः प्रेरित करता है । यही आर्य शास्त्रके सिद्धान्तानुसार गायत्रीके प्रत्येक शब्दका तथा समग्र गायत्रीका अर्थ है ।

समस्त विश्व शक्तिका ही विवर्त्तमात्र होनेके कारण महाशक्तिस्वरूपिणी गायत्रीके प्रत्येक अक्षरके साथ अधिभूत तथा अधिदेव जगत्का विशेष सम्बन्ध आर्यशास्त्रमें निरूपित किया गया है । यथा योगियाज्ञवल्क्यमें—

कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि च ।
पञ्चपञ्चेन्द्रियार्थाश्च भूतानाञ्चैव पञ्चकम् ॥
मनो बुद्धिस्तथात्मा च अव्यक्तञ्च यदुत्तमम् ।
चतुर्विंशत्यथैतानि गायत्र्या अक्षराणि तु ॥
प्रणवं पुरुषं विद्धि सर्वगं पञ्चविंशकम् ॥

पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच तन्मात्रा, पांच भूत, मन, बुद्धि, महदात्मा और अव्यक्त—गायत्रीके ये २४ अक्षर हैं । सर्वव्यापी प्रणवरूपी पुरुषको पञ्चविंश

अक्षर समझना चाहिये। यही प्रकृति तथा उसके परिणामजात वस्तुओंके साथ गायत्रीका सम्बन्ध है। इसी प्रकार देवजगत्के साथ भी गायत्रीका अपूर्व अलौकिक सम्बन्ध शास्त्रमें बताया गया है। यथा योगियाज्ञवल्क्यमें—

अक्षराणान्तु दैवत्यं संप्रवक्ष्याम्यतः परम्।
आग्नेयं प्रथमं ज्ञेयं वायव्यञ्च द्वितीयकम्॥
तृतीयं सूर्यदैवत्यं चतुर्थं वैद्युतं तथा।
पञ्चमं यमदैवत्यं वारुणं षष्ठमुच्यते॥
बार्हस्पत्यं सप्तमञ्च पार्जन्यं चाष्टमं विदुः।
ऐन्द्रन्तु नवमं ज्ञेयं गान्धर्वं दशमन्तथा॥
पौष्ण्यमेकादशं प्रोक्तं मैत्रावरुणन्तु द्वादशम्।
त्वाष्ट्रं त्रयोदशं ज्ञेयं वासवञ्च चतुर्दशम्॥
मारुतं पञ्चदशमं सौम्यं षोडशकं स्मृतम्।
सप्तदशं त्वाङ्गिरसं वैश्वदेवमतः परम्॥
आश्विनञ्चैकोनविंशं प्राजापत्यन्तु विंशकम्।
सर्वदेवमयं प्रोक्तमेकविंशमतः परम्॥
रौद्रं द्वाविंशकं प्रोक्तं त्रयोविंशन्तु ब्राह्मकम्।
वैष्णवन्तु चतुर्विंशमेताश्चाक्षरदेवताः॥
जप्यकालेषु संचिन्त्य तासु सायुज्यतां जपेत्॥

गायत्रीके चौबीस अक्षरोंमेंसे प्रथम अक्षरकी देवता अग्नि है, द्वितीय अक्षरकी देवता वायु है, तृतीयका सूर्य, चतुर्थका विद्युत् पञ्चमका यम, षष्ठका वरुण, सप्तमका बृहस्पति, अष्टमका पर्जन्य, नवमका इन्द्र, दशमका इन्द्र, दशमका गन्धर्व, एकादशका पुष्णि, द्वादशका मित्रावरुण, त्रयोदशका त्वष्टा, चतुर्दशका वसु, पञ्चदशका मरुत्, षोडशका सोम, सप्तदशका अङ्गिरस, अष्टादशका विश्वेदेवा, उनविंशका अश्विनी-कुमार, विंशका प्रजापति, एकविंशका सर्वदेव, द्वाविंशका रुद्र, त्रयोविंशका ब्रह्मा और चतुर्विंशका विष्णु हैं। गायत्री जपके समय इन देवताओंको स्मरण करके इनकी सायुज्यताके साथ जप करना चाहिये।

ऊपर लिखित समस्त प्रमाणोंसे गायत्रीकी असीम अलौकिक शक्तिका पता लगता है। इसी कारण आर्यशास्त्रमें गायत्री देवीकी इतनी महिमा,

गायत्री जपकी इतनी प्रशंसा और गायत्री उपासनाकी इतनी प्रतिष्ठा बतायी गयी है। कुर्मपुराणमें लिखा है—

गायत्रीञ्चैव वेदांश्च तुलया समतोलयन्।
वेदा एकत्र साङ्गास्तु गायत्रीञ्चैकतः स्मृताः॥

गायत्री और वेदोंको तौलमें तौलनेपर एक ओर षडङ्गसहित वेद हुआ और एक ओर अकेली गायत्री रही। मनुसंहिताके द्वितीयाध्यायमें लिखा है—

एतदक्षरमेताञ्च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥
सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥
ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः स्वमूर्त्तिमान्॥
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते॥

जो वेदज्ञ विप्र दोनों सन्ध्याओंमें प्रणव तथा व्याहृतिसहित गायत्रीका जप करते हैं उनको समग्र वेदपुण्य लाभ होता है। इस प्रकार सन्ध्यातिरिक्त अन्य समयमें प्रतिदिन गायत्रीका सहस्र जप एक महीने तक करनेपर, कञ्चुकमुक्त सर्पकी तरह द्विज महान् पापसे मुक्त हो सकता है। प्रणवपूर्विका तीन महा-व्याहृति और त्रिपदा गायत्री ब्रह्मप्राप्तिकी द्वारस्वरूपा तथा वेदकी मुखरूपा है। अनलस होकर तीन वर्षतक प्रतिदिन प्रणवव्याहृति सहित गायत्री जप करनेसे परब्रह्म लाभ, वायुकी तरह यथेच्छ गति तथा आकाशकी तरह निर्लिप्तता प्राप्त हो जाती है। एकाक्षर प्रणव ही परमब्रह्म और प्राणायाम ही परमतप है, गायत्रीसे उत्तम कोई मन्त्र नहीं है और मौनसे सत्य ही विशिष्टतर है। महर्षि व्यासदेवने कहा है—

दशकृत्वः प्रजप्ता सा त्र्यहाद् यच्च कृतं लघु।
तत्पापं नाशयत्याशु नात्र कार्या विचारणा॥

शतजप्ता तु सा देवी पापौघशमनी स्मृता।
सहस्रजप्ता सा देवी उपपातकनाशिनी ॥
लक्षजप्येन च तथा महापातकनाशिनी।
कोटिजप्येन राजेन्द्र यदिच्छति तदाप्नुयात् ॥

दस बार गायत्री जपनेसे तीन दिनके लघुपाप सब नष्ट हो जाते हैं। सो बार जपनेसे अनेक पाप नष्ट होते हैं, सहस्र जपसे उपपातक नाश, लक्ष जपसे महापातक नाश और कोटि जपसे जो चाहे सो प्राप्त हो जाता है। महर्षि यमने कहा है—

गायत्र्या न परं जाप्यं गायत्र्या न परं तपः।
गायत्र्या न परं ध्यानं गायत्र्या न परं हुतम् ॥

गायत्रीजपसे उत्कृष्ट कोई जप नहीं है, तप नहीं है, ध्यान नहीं है और हवन नहीं है। महर्षि गौतमने कहा है—

अनेन विधिना नित्यं जपं कुर्यात् प्रयत्नतः।
प्रसन्नो विपुलान् भोगान् भुक्त्वा मुक्तिं च विन्दति ॥

विधिपूर्वक यत्नके साथ नित्य गायत्री जप करनेसे प्रसन्नतालाभ, विपुल-भोगलाभ और अन्तमें निःश्रेयसलाभ होता है। अग्निपुराणमें लिखा है—

सह साहस्रजप्येन निष्कामः पुरुषो यदि।
विधिनापि च तं ध्यायेत् प्राप्नोति परमं पदम् ॥

पुरुष यदि निष्काम हो और सहस्र गायत्री जपके साथ परमात्माका ध्यान करे तो परमपद अवश्य लाभ होता है। विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है—

कामकामो लभेत् कामं गतिकामस्तु सद्गतिम्।
अकामस्तदवाप्नोति यद् विष्णोः परमं पदम् ॥

गायत्री जपसे कामनापरायण जनको कामनाकी सिद्धि, सद्गति चाहने वाले जनको सद्गतिकी प्राप्ति और निष्काम जनको परमपद ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यही सब गायत्री जपकी महिमा है।

किस देशकालमें गायत्री जपका किस प्रकार फल है इस विषयमें योगि-याज्ञवल्क्यने लिखा है—

अग्न्यागारे जलान्ते वा जपेद्देवालयेऽपि वा।
पुण्यतीर्थे गवां गोष्ठे द्विजक्षेत्रेऽथवा गृहे ॥

अग्निके पास, जलके पास, देवालयमें, पुण्यतीर्थमें, गौओंके गोष्ठमें, ब्राह्मणके स्थान या गृहमें गायत्री जप करना प्रशस्त है। महर्षि शङ्खने भी लिखा है—

गृहे त्वेकगुणं जप्यं नद्यां तु द्विगुणं स्मृतम्।
गवां गोष्ठे दशगुणमग्न्यागारे शताधिकम्॥
सिद्धतीर्थेषु क्षेत्रेषु देवतायाश्च सन्निधौ।
सहस्रं शतकोटीनामनन्तं विष्णुसन्निधौ॥

गृहमें गायत्री जपका एकगुण फल, नदीतीरमें दोगुण फल, गौ गोष्ठमें दसगुण फल, अग्निगृहमें शताधिकगुण फल, सिद्ध तीर्थ, सिद्ध क्षेत्र या देवतासमीपमें शतकोटिके सहस्रगुण फल, और विष्णुसन्निधानमें गायत्री जपका अनन्त फल होता है।

इसी प्रकार जपमालाके विषयमें भी शास्त्रमें विचार किया गया है। यथा योगियाज्ञवल्क्यमें—

स्फटिकेन्द्राक्षैः रुद्राक्षैः पुत्रञ्जीवसमुद्भवैः।
अक्षमाला तु कर्तव्या प्रशस्ता ह्युत्तरोत्तरा॥
अभावे चाक्षमालानां कुशग्रन्थ्याथ पाणिना॥

स्फटिक, इन्द्राक्ष, रुद्राक्ष, पुत्रञ्जीवक इनमेंसे किसीके द्वारा जपमाला बनानी चाहिये। इनके अभावमें कुशग्रन्थिके द्वारा या केवल हाथमें भी जप हो सकता है। इनके पृथक् पृथक् फल क्या हैं इस विषयमें महर्षि व्यासदेवने कहा है—

हिरण्यगर्भमणिभिर्जप्तं शतगुणं भवेत्।
सहस्रगुणमिन्द्राक्षैः रुद्राक्षैर्नियुतं भवेत्॥
नियुतं प्रयुतं वा स्यात् पद्माक्षैस्तु न संशयः।
पुत्रञ्जीवकजप्यस्य परिसंख्या न विद्यते॥

हिरण्यगर्भमणिके द्वारा गायत्री जप करनेसे शतगुण फल होता है। इन्द्राक्षके द्वारा सहस्रगुण फल, रुद्राक्षके द्वारा नियुतगुण फल, पद्माक्षके द्वारा नियुत या प्रयुतगुण फल और पुत्रञ्जीवकके द्वारा जपसे असंख्य फल लाभ होता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न देशकाल तथा जपमाला—भेदसे गायत्री जपके फलतारतम्य बताये गये हैं। साधक इन सब शास्त्रीय आदेशोंपर ध्यान रखकर गायत्री जप करेंगे तो विशेष लाभवान् अवश्य हो सकेंगे।

यही आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार सन्ध्या तथा गायत्रीका निगूढ़विज्ञानपूर्ण अलौकिक रहस्य है।

सप्तम काण्डकी पञ्चमशाखा समाप्त हुई।

ओंकार-महिमा ।

सब मन्त्रोंके सेतुरूप ओंकारका विकाश ब्रह्माण्ड प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन-रूपसे कैसे होता है तथा आदिबीज ओंकारसे निखिलबीज और निखिल-वर्णमालाओंकी उत्पत्ति किस प्रकारसे होती है, इसका विस्तारित वर्णन 'मन्त्रयोग' नामक अध्यायमें पहले ही किया गया है। अतः ऊपर कथित विज्ञानोंकी द्विरुक्ति न करके केवल ओंकारकी महिमाके विषयमें इस अध्यायमें कुछ कहा जायगा।

वेदमें संक्षेपसे ब्रह्मपद वर्णन करते समय 'ओं' रूपसे ही उस पदका वर्णन किया गया है, यथा उपनिषद्में—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि॥
ओं इत्येतत्।

सकल वेद तथा सकल तपस्यामें लक्ष्यरूपसे जिस पदका वर्णन है और जिस पदकी इच्छा करके मुमुक्षुगण ब्रह्मचर्य अवलम्बन करते हैं उस पदका संक्षिप्त नाम 'ॐ' है। इसी प्रकार गीतामें भी वर्णन है—

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

एकाक्षर ब्रह्मरूप 'ॐ'का उच्चारण तथा परमात्मा चिन्तन करता हुआ, जो शरीरत्याग करता है उसे परमगति प्राप्त होती है। ओंकारके इस प्रकार ब्रह्मरूप होनेके कारण ही जैसा कि ब्रह्ममें भावत्रयके अनुभव होते हैं वैसे प्रणवमें भी अधिभूत, अधिदैव तथा अध्यात्मरूपी त्रिभावोंके समन्वय देखे जाते हैं। अब नीचे प्रथमतः इन तीन भावोंका वर्णन करके पश्चात् प्रणवमहिमा बतायी जायगी।

पूज्यपाद योगिराज महर्षि याज्ञवल्क्यजीने प्रणवकी महिमा कहते हुए यह आज्ञा की है—

आद्यं यत्राक्षरं ब्रह्म त्रयी यत्र प्रतिष्ठिताः।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद् वेदो यो वेदैनं स वेदवित्॥

एक एव तु विज्ञेयः प्रणवो योगसाधनम्।
गृहीतः सर्वसिद्धैस्तैरितरैर्ब्रह्मवादिभिः॥

यथाऽमृतेन तृप्तस्य पयसा किम्प्रयोजनम्।
तथोङ्कारविधिज्ञस्य ज्ञानतृप्तिर्न विद्यते॥

सर्वमंत्रप्रयोगेषु ओमित्यादौ प्रयुज्यते।
तेन संपरिपूर्णानि यथोक्तानि भवंति हि॥

यन्न्यूनमतिविद्धञ्च यच्छिद्रं यदयज्ञियम्।
यदमेध्यमशुद्धञ्च यातयामञ्च यद्भवेत्।
तदोङ्कारप्रयुक्तेन मन्त्रेणाविकलं भवेत्॥

अर्थात् वेदोंका आदि अक्षररूपी प्रणव साक्षाद् ब्रह्मरूप है, जिसमें ब्रह्मा विष्णु और शिवरूपी त्रिगुणात्मक तीन देवताओंका अधिष्ठान है। फलतः त्रिदेवात्मक वेद अतिगुह्य है, इस लोकमें जो प्रणवको जानते हैं, वे ही सर्ववेत्ता हैं। सब प्रकारके योगसाधनोंके साररूपी प्रणवके विषयमें सबको विदित होना उचित है, इस विषयको सब ब्रह्मवादियोंने एकवाक्य होकर स्वीकार किया है। जिस प्रकार अमृतसे तृप्त हुए जीवके अर्थ जलका प्रयोजन नहीं हुआ करता, उसी प्रकार जो ओंकारके स्वरूपको भलीभाँति जानते हैं, उनके लिये और अन्य प्रकार ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती। जहाँ कोई मन्त्रपाठ हो वहीं आदिमें प्रणवकी आवश्कता है, मंत्रसमूह ओंकारसे युक्त होकर पूर्ण फलको प्राप्त हुआ करते हैं। किसी यज्ञादि कर्ममें यदि कोई कर्म न्यून अथवा कोई वेदबाह्यताको प्राप्त हो अथवा मन्त्र तन्त्र आदिका फेर पड़ जाय, अपिच अन्य किसी प्रकारसे कोई कर्म यदि यज्ञनियमविहीन अपवित्र, क्रमरहित अथवा स्वरूपच्युत हो जाय, तौभी उस कर्मके मन्त्रके साथ यदि प्रणयका संयोग रहे, तो सब प्रकारके दोषोंको शान्ति हो जाया करती है। इस प्रकारकी महिमा कीर्तन द्वारा पूज्यपाद महर्षिजीने सक्षेपरूपसे ओंकारके तीनों भावोंका वर्णन कर ही दिया है तथापि विस्तारपूर्वक इस आदि अक्षरकी व्याख्या की जा रही है। तन्त्रोमें वर्णन है कि—

अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः।
मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः ॥

अर्थात् अकार विष्णुका वाचक, उकार महेश्वरका वाचक और मकार ब्रह्माका वाचक है। फलतः त्रि अक्षरमय ओंकार साक्षात् परमात्मा ब्रह्मका वाचक है। यह विश्व संसार त्रिगुणका ही विकाश है, इस संसारकी सृष्टि स्थिति लयात्मक क्रिया श्रीभगवान्के तीन गुणमें ही स्थित है, इसी कारण सगुण ब्रह्मरूपेण परमात्मा जगदीश्वरको मानना पड़ता है। तीन गुणोंके अनुसार पुनः उनके ही तीन भाव हैं, अर्थात् रजोगुणसे ब्रह्मारूपको धारण करके वे जगत्की सृष्टि करते हैं, सत्त्वगुणसे विष्णुरूपको धारण करके ब्रह्माण्डका पालन करते हैं और तमोगुणमें स्थित रहकर शिवरूपको धारण करते हुए विश्वका लय किया करते हैं। वास्तवमें वे एक अद्वितीय, विकाररहित, जगदीश्वर परमात्मा अपनी ही शक्तिरूपिणी महामायाके द्वारा तीन स्वतन्त्र भावको धारण करते हुए कार्य-ब्रह्मरूपी विराट स्वरूपमें स्थित हैं। जिस प्रकार रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण ये स्वतन्त्र स्वतन्त्र गुण ही आध्यात्मिक रूपसे श्रीभगवान्के ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपोंके प्रकाशक हैं उसी प्रकार शब्दराज्यमें अकार, उकार और मकार ये तीनों शब्दमय अक्षर विष्णु महेश्वर और ब्रह्माजीके तीन आधिभौतिक स्वरूप हैं। अपिच जिस प्रकार त्रिगुणात्मक शक्तियोंके सम्मेलनसे ही त्रिगुणमय लीलाधारी जगदीश्वरके आध्यात्मिक सगुणस्वरूपका निर्णय होता है, उसी प्रकार त्रि अक्षरमय ओंकारके द्वारा श्रीभगवान्के शब्दब्रह्मस्वरूपका प्रकाश हुआ करता है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें आज्ञा की है कि "तज्जपस्तदर्थभावनम्" अर्थात् श्रीभगवान्में और प्रणवमें तादात्म्य सम्बन्ध रहनेके कारण प्रणवका जप और उसके अर्थका विचार करते करते साधक मुक्तिपदको प्राप्त कर सकता है। पूज्यपाद महर्षिगणने वेदाङ्गरूपी शिक्षाशास्त्र द्वारा यह भलीभाँति सिद्ध कर दिया है कि प्रणवमें तीनों गुणोंकी तीनों शक्तियाँ भरी हुई हैं, इसी कारण प्रणव ह्रस्व आदि तीनों स्वरोंकी सहायता बिना उच्चारण नहीं किया जा सकता। पुनः गान्धर्व उपवेद सम्बन्धी शिक्षाओंमें भलीभाँति वर्णित हैं कि षड्ज आदि सातों स्वर एकमात्र ओंकारके ही अन्तर्विभाग हैं। जिस प्रकार बहिः सृष्टिमें सात दिन, सात रङ्ग, सात धातु आदि सप्त विभाग पाये जाते हैं और जिस प्रकार अन्तराज्यमें सप्त ज्ञान-भूमिका आदि सप्त विभागोंका प्रमाण मिलता है; उसी शैलीके

अनुसार एकमात्र अद्वितीय शब्दब्रह्मरूपी ओंकार षड्ज आदि सप्तस्वर विभाग-में विभक्त होकर नाना शब्दराज्यकी सृष्टि किया करते हैं। इसी कारण शब्दब्रह्मरूपी ओंकार सब मन्त्रोंका चालक है। तन्त्रोंमें लेख है कि "मन्त्राणां प्रणवः सेतुः" अर्थात् सब मन्त्रोंका एकमात्र प्रणव ही सेतु है; जिस प्रकार बिना सेतु (पुल) के पथ अविरोधी नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना ओंकार-की सहायता लिये न तो मन्त्र-समूह-पूर्ण बलको प्राप्त होते हैं और न वे लक्ष्यके अनुसार यथावत् काम करनेमें उपयोगी हो सकते हैं। फलतः एकमात्र प्रणव ही शब्दमय साक्षात् शब्दब्रह्म है, इसमें सन्देह नहीं। मुखसे उच्चारण होने योग्य प्रणव यदिच अलौकिक प्रणवनादका प्रतिशब्द है तथापि वह केवल लौकिकसम्बन्धसे आविष्कृत नहीं हुआ है। तन्त्रोंमें यह निश्चय कर दिया गया है कि मुखसे उच्चारण होने योग्य ओंकारध्वनि भी अपूर्व रीतिसे आधार पद्मसे उठकर सहस्रदलस्थित पुरुषमें लय हुआ करती है। यह अधिभूत अर्थ है।

संहिताओंमें लेख है कि,—

"कार्य्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पंदेन सव्यापकम्, स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्व्वदा। सृष्टिश्चैव तथादिमाकृति-विशेषत्वादभूत् स्पन्दिनी, शब्दश्चोदभवत्तदा प्रणव इत्योङ्काररूपः शिवः॥"

अर्थात् जहां कुछ कार्य है वहां अवश्य कम्पन होना सम्भव है; जहां कम्पन है वहां अवश्य शब्द होना भी सम्भव है; फलतः सृष्टिरूपी कार्य्यमें साम्यावस्था प्रकृतिके सबसे प्रथम हिल्लोलकी ध्वनिका नाम शिवरूपी ओंकार है।

साम्यावस्था प्रकृतिका नाम विद्यारूपिणी महामाया और वैषम्यावस्था प्रकृतिका नाम अनन्तरूपधारिणी अविद्या है। जीवके साथ अविद्याका सम्बन्ध रहनेके कारण जीव अल्पज्ञानी है और विद्यारूपिणी महामाया सदा जगदीश्वरकी शक्तिरूपसे स्थित हैं, इस कारण वे सर्वशक्तिमान् और पूर्ण ज्ञानमय हैं। इस विश्व ब्रह्माण्डकी सकल क्रिया और सकल ज्ञानके वे आधार हैं, परन्तु वे पूर्ण ज्ञानमय होनेके कारण सब क्रिया और ज्ञानके केन्द्ररूप होने-पर भी सबसे अतीत हैं; अर्थात् वे किसी कर्म के भी अधीन नहीं हैं; तथापि यह सृष्टिक्रिया उन्हींसे उत्पन्न हुई है और उन्हींमें स्थित है। फलतः विद्या-रूपिणी महामायाके जिस समतायुक्त भावसे सृष्टिके आदि कारणका सम्बन्ध

है उसी नित्यलीलारूपी श्रीभगवान्‌के सगुण पदसे प्रणवरूपी वाचक शब्दका तादात्म्य सम्बन्ध है, इस कारण यह विज्ञान सिद्ध है कि यदिच स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावके अनुसार विराट् पुरुष, ईश्वर, ब्रह्ममयी महामाया, तटस्थ ब्रह्म, ओंकार आदि सब भाव स्वतन्त्र हैं, परन्तु तादात्म्य सम्बन्धसे ये सब पद एक घनिष्ट सम्बन्धमें स्थित हैं। उदाहरणस्थलपर समझ सकते हैं कि जिस प्रकार चेतन और क्रिया इन दोनों स्वतन्त्र भावके अनुसार एक अद्वितीय ब्रह्मके ईश्वर और महामाया नामसे दो स्वतन्त्र भाव समझे जा सकते हैं, उसी नियमके अनुसार क्रिया और ध्वनिके विचारसे विश्वस्रष्टा जगदीश्वर और प्रणवका तादात्म्य सम्बन्ध स्थिर निश्चय ही है। परन्तु वास्तवमें यह प्रणव जो तीन वर्णोंसे सयुक्त होकर बनता है, सो ईश्वरवाचक आदि ओंकार ध्वनिका प्रतिशब्द मात्र ही है।

"तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघंटानिनादवत्।"

अर्थात् यह प्रणव तैलधाराके समान अविच्छिन्न और दीर्घघण्टाके शब्दकी नाईं श्रुतिमधुर है एवं उसका कोई भी अङ्ग मुखसे उच्चारण नहीं किया जाता। वास्तवमें ईश्वरवाचक आदि शब्द ओंकार योगिगणको तभी सुनायी दे सकता है कि जब वे योगयुक्त होकर साम्यावस्था प्रकृतिमें मन स्थिर कर सकें। वह ओंकारध्वनि वाच्यवाचक सम्बन्धसे अनादि और अनन्त है एवं प्रणव जो अक्षरोंसे लिखनेमें अथवा मुख द्वारा उच्चारण करनेमें आता है वह उसका प्रतिशब्द है, जिसको पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगणने अपनी योगयुक्त समाधिबुद्धि द्वारा वेदके आविर्भाव करनेके आदिमें संसारमें प्रकट किया है। यही ओंकारके विज्ञानका आधिदैविक रहस्य है।

वेदमें आज्ञा है कि,—

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत"।

"प्रणवान्तर्गतं परं ब्रह्म"

अर्थात् ओंरूपी अक्षरकी उपासना की जाय, परमात्मा प्रणवमें स्थित हैं। इस मंत्रमें इति शब्द और उद्गीथ शब्द नानाभावप्रकाशक हैं। पुनः श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌में आज्ञा है कि,—

"ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥"

अर्थात् ओंतत्सत् ये तीन शब्द परमात्मा ब्रह्मके निर्देशक हैं इन तीनोंके द्वारा ब्राह्मण, वेद, और यज्ञ पुराकालमें विहित हुए हैं। यहाँ यह वैज्ञानिक रहस्य है कि ओं, तत् और सत् ये तीनों मन्त्र ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावयुक्त होकर एकमात्र परमात्मा ब्रह्मके वाचक रूपसे नियत हुए हैं। और वह वाच्य वाचक सम्बन्ध कुछ काल्पनिक अथवा लौकिक नहीं है। यह सम्बन्ध अनादि है और उसी अनादि भावसे इन्हीं तीनोंके रहस्योंके साथ ब्राह्मण, वेद और यज्ञका सम्बन्ध आदि सृष्टिमें हुआ था। पुनः वर्णन है कि—

"तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥"

अर्थात् ओंकार रूपी मन्त्रके द्वारा ब्रह्मवादी गणका यज्ञ, दान और तप क्रिया सर्वदा प्रवर्तित हुआ करती है। मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषगण फलकी इच्छात्याग पूर्वक तत् इस शब्दके उच्चारण करते हुए यज्ञ, तपस्या और दान क्रिया करते हैं। हे पार्थ! सद्भावमें और साधुभावमें सत् शब्द व्यवहृत होता है और मांगलिक कर्ममें भी सत् शब्दका प्रयोग हुआ करता है। यज्ञ, तपस्या और दान रूपी धर्मकार्यमें अवस्थान करनेको भी सत् कहते हैं। तत्सम्बन्धीय कर्म भी सत् ही कहा जाता है। इन श्लोक समूहोंका विज्ञान अतिगूढ़ है एवं इनके द्वारा प्रणव मन्त्रका आध्यात्मिक रहस्य अति विस्तृतरूपसे प्रकाशित किया गया है। जिस प्रकार ब्रह्मभाव, ईश्वरभाव और विराट्पुरुष भावके द्वारा ईश्वरका अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत रूप प्रकाशित होता है उसी अलौकिक क्रमके अनुसार ओं, तत् और सत् इन तीनों मन्त्रों द्वारा स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूपसे श्रीभगवान्के तीन भावका वाचकत्व प्रमाणित होता है। फलतः यह गीताका श्रेष्ठ विज्ञान ही प्रवणके आध्यात्मिक रहस्यका प्रकाशक है। इसी प्रकारसे आर्यशास्त्रमें प्रवणके गूढ़रहस्यमय तीन भाव बताये गये हैं।

वेदमें प्रणवको 'उद्गीथ' कहा गया है, यथा छान्दोग्यमें—'ओं इत्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्।' इसके भाष्यमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है—

'ओं इत्यारभ्य हि यस्माद् उद्गायति अतः उद्गीथ ओंकार इत्यर्थः,' प्रणवमन्त्रसे आरम्भ करके उद्गीथ गान होता है, इसलिये प्रणवको उद्गीथ कहा गया है। प्रणवगान ही भगवान्का गान है, प्रणव नाम ही भगवान्का नाम है। इसी कारण योगदर्शनमें 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस सूत्रके द्वारा ओंकारको श्रीभगवान्का वाचक अर्थात् नाम कहा गया है। श्रीभगवान् भाष्यकारने लिखा है—'तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति, प्रियनामग्रहण इव लोकः' जिस प्रकार प्रियनाम धरकर पुकारनेसे मनुष्य प्रसन्न होकर उत्तर देता है, उसी प्रकार 'ओं' नाम धरकर पुकारनेसे श्रीभगवान् प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं। जहाँ प्रकृतिकी लयावस्था है वहाँ ओंकार ब्रह्ममें विलीन है, जहाँ निर्गुण सत्तामें सङ्कल्पानुसार सगुण ईश्वरभावकी सूचना है वहीं अव्यक्तसे व्यक्तावस्थाभिमुखीन प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन रूपसे ओंकारका आविर्भाव है, अतः ईश्वरभाव, ईश्वरका सङ्कल्प, अव्यक्त प्रकृतिकी व्यक्ताभिमुखिनी प्रवृत्ति और प्रणव विकास ये सब समसामयिक हैं। इसी कारण वाच्य वाचक या अभिधान अभिधेय रूपसे ओंकारके साथ ईश्वरभावका विशेष सम्बन्ध है। यही कारण कि, आर्यशास्त्रमें ओंकारको ईश्वरका वाचक तथा वाच्य-वाचककी एकताके विचारसे दोनोंमें एकता बताई गई है। इसी विज्ञानको माण्डूक्योपनिषद्में और भी विस्तारके साथ वर्णित किया गया है, जिसमें चतुष्पाद ब्रह्मके साथ चार मात्रासे युक्त ओंकारकी एकता सिद्ध की गई है। सो कैसे है नीचे वर्णित किया जाता है। यथा—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं,
भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव।
यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥
सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

अभिधेय वस्तु जो कुछ है तथा भूत भविष्यत् वर्त्तमान कालावच्छिन्न और उससे अतिरिक्त भी जो कुछ है सो सभी ओंकार है। इस प्रकार सर्वात्मक ओंकार ब्रह्म है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय भेदसे ब्रह्मके चार पाद

हैं। इन चार पादोंके साथ ओंकारकी मात्राओंका किस प्रकार सम्बन्ध है सो भी माण्डूकोपनिषद्में बताया गया है यथा—

'सोऽयमात्माध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति।'

'जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद।'

'स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञान-सन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं भवति।'

'सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनाति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद।'

'अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद।'

अभिधेयरूपसे जिस चतुष्पाद आत्माका वर्णन किया गया वह अभिधान रूपसे ओंकारके तीन मात्राओंके साथ भी अभिन्न है। अर्थात् आत्माके जो पाद हैं ओंकारके अकार, उकार, मकाररूपी ये ही तीन मात्राएँ हैं। उनका जाग्रत पाद जो वैश्वानर कहलता है उसके साथ प्रथम मात्रा अकारकी अभिन्नता है। क्योंकि जिस प्रकार वैश्वानर आदि तथा जगद्व्यापक है ऐसा ही 'अकार' आदिवाक् तथा 'अकारो वै सर्वा वाक्' इस श्रुतिप्रमाणानुसार सकल वाक्योंमें व्याप्त है। इस प्रकारसे अभिधान अभिधेयकी एकता सिद्ध होती है। जो इस एकताके रहस्यको समझता है उसकी सकल कामना सिद्धि होती है और वह महतोंका अग्रगण्य हो जाता है। उनका स्वप्नपाद जो तैजस कहलाता है उसके साथ द्वितीय मात्रा उकारकी अभिन्नता है। जैसा तैजस विश्वसे उत्कृष्ट है ऐसा ही उकार भी अकारसे उत्कृष्ट है, जैसा विश्व और प्राज्ञक बीचमें तैजस है ऐसा ही अकार और मकारके बीचमें उकार है। इस प्रकारसे द्वितीय पाद और द्वितीय मात्राकी अभिन्नता है। जो इस अभिन्नताके रहस्यको समझता है उसकी ज्ञानवृद्धि होती है, शत्रु मित्र दोनोंके लिये वह प्रिय बना रहता है और उसके कुलमें अब्रह्मवित् कोई नहीं जनमता है। उनका सुषुप्तपात जो प्राज्ञ कहलाता है उसके साथ तृतीय मात्रा मकारकी अभिन्नता है। जिस प्रकार प्रलय तथा उत्पत्ति द्वारा प्राज्ञमें विश्व तैजसकी मिति अर्थात् मान होता है, उसी

प्रकार प्रवेश निर्गम द्वारा मकारमें अकार उकारका समझना चाहिये। इसके सिवाय अपीति, अप्यथ अर्थात् एकीभावका सम्बध है। अर्थात् जिस प्रकार ओंकारके उच्चारणमें अन्तिम अक्षर मकारमें अकार उकारका एकीभाव होता है उसी प्रकार सुषुप्ति दशामें प्राज्ञमें विश्व और तैजसका एकीभाव है। यही तृतीय पाद और तृतीया मात्राकी अभिन्नताका लक्षण है। जो इस एकताके रहस्यको जानता है उसको जगत्के सकल पदार्थोंका याथात्म्यभाव परिज्ञात हो जाता है और वह अपीति अर्थात् जगत्-कारणात्मा भी बन सकता है। चतुर्थ भावमें ओंकार मात्राहीन है उसके साथ अभिधान अभिधेय सम्बन्ध-विहीन तुरीयपदस्थित प्रपञ्चपरपारस्थित शिवरूप अद्वैतरूप आत्माकी एकता है। जो इस एकताके तत्त्वको समझता है, वह पुनरावृत्तिहीन ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है। यही ब्रह्मके चार पादके साथ मात्राविशिष्ट तथा मात्राहीन ओंकारका अभिन्नभाव सम्बन्ध है।

प्रश्नोपनिषद्में ओंकारकी इन मात्राओंके ज्ञान तथा इनकी उपासनाके विशेष फल बताये गये हैं यथा—

एतद् वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥

ओंकार परब्रह्म तथा अपरब्रह्म उभयस्थानीय है। इसी कारण ओंकारके ही अवलम्बनसे परब्रह्म या अपरब्रह्मकी उपासना होती है।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमान-मनुभवति।

ऋग्वेदरूपा ओंकारकी प्रथममात्राका जो ध्यान करता है वह उससे सम्बोधित होकर शीघ्र मनुष्यलोकको प्राप्त हो जाता है और वहाँ उत्तम ब्राह्मणकुलमें जन्म लाभ करके तपस्या, ब्रह्मचर्य यथा श्रद्धाके द्वारा सम्पन्न होकर विभूतिको अनुभव करता है। यही ओंकारकी प्रथममात्राके ध्यानका फल है।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते॥

यजुर्वेदरूपी द्वितीयमात्राके ध्यानसे सोमलोक प्राप्त होता है। और

वहाँपर विभूतिके अनुभव होनेके अनन्तर मृत्युलोकमें पुनरावृत्ति होती है। यही ओंकारके द्वितीय मात्राध्यानका फल है।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ॥

जो त्रिमात्रासे युक्त 'ओं' इस अक्षरके द्वारा सूर्यमण्डलमध्यवर्त्ती परमपुरुषका ध्यान करता है वह सूर्यरूपी तृतीयमात्राके द्वारा सूर्यमें ही सम्पन्न हो जाता है। और जिस प्रकार सर्प कञ्चुकसे मुक्त होकर नवीन शरीर धारण करता है उसी प्रकार तृतीयमात्राका उपासक भी सकल पापसे मुक्त होकर सामवेदरूपी तृतीयमात्राके प्रभावसे पुनरावृत्तिहीन हिरण्यगर्भलोक अर्थात् ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है। लिङ्गात्मारूप हिरण्यगर्भमें समस्त जीव ग्रथित रहनेके कारण वे जीवघन कहलाते हैं, वह उस जीवघनकी कृपासे सकलशरीरविहारी परात्पर परमपुरुष ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है। यही ओंकारके मात्रात्रयध्यानका वेदवर्णित अलौकिक फल है। इसी प्रकार शिवाथर्वशीर्षोपनिषद्में भी लिखा है—

या सा प्रथमा मात्रा ब्रह्मदैवत्या रक्ता वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद् ब्रह्मपदम्। या सा द्वितीया मात्रा विष्णुदैवत्या कृष्णा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद् वैष्णवं पदम्। या सा तृतीया मात्रा ईशानदैवत्या कपिला वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेदैशानं पदम्। या साऽर्धं चतुर्थी मात्रा सर्वदेवत्याऽव्यक्तीभूता खं विचरति शुद्धा स्फटिकसन्निभा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेत्पदमनामयम्।

ओंकारकी जो प्रथमा मात्रा है उसका वर्ण लाल है, देवता ब्रह्मा है, जो उसका ध्यान करता है उसको ब्रह्माका पद प्राप्त होता है। द्वितीय मात्राका वर्ण कृष्ण है देवता विष्णु है, उसके ध्यानसे विष्णुका पद प्राप्त होता है। तृतीय मात्रा का वर्ण कपिल है, देवता रुद्र है, उसके ध्यानसे रुद्रका पद प्राप्त होता है। ओंकारकी तुरीया आधी मात्रा अव्यक्तरूपिणी स्फटिकतुल्य निर्मल है। ब्रह्मा विष्णु आदि सभी उसके देवता हैं, उसके ध्यानसे अनामय शाश्वत परब्रह्म पद प्राप्त होता है।

ओंकारमें इतनी शक्ति निहित रहनेसे ही वेदादि समस्त शास्त्रोंमें ओंकारकी इतनी महिमा गाई गई है यथा—

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रसः ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः। स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्यः आत्मा यदुद्गीथः।

तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृणान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् सन्तृणा ओंकार एवेदं सर्वम्। (छान्दोग्योपनिषत्)

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ (कठोपनिषत्)
ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ॥ (स्मृति)
ओंकारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा।
पितरौ यो न जानाति स विप्रस्त्वन्यरेतजः॥ (देवीभागवत्)
आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥
प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (श्रुति)

सकल भूतोंका सार पृथिवी है, पृथ्वीका सार जल है, जलका सार ओषधि है, ओषधिका सार पुरुष है, पुरुषका सार वाक् है, वाक्का सार ऋक् है, ऋक्का सार साम है, सामका सार ओं है। वह सारोंका सार, परमवस्तु तथा परम मूल्यवान् है।

जिस प्रकार डन्टीमें सब पत्र लगे रहते हैं, ऐसे ही प्रणवमें समस्त वाक् सम्बद्ध हैं, प्रणव ही सब कुछ है।

प्रणव ही अक्षर ब्रह्म है, प्रणव ही अक्षर परमात्मा है, इसी अक्षरके ज्ञानसे सकल अभिलाषा पूर्ण हो सकती है। यही श्रेष्ठ अवलम्बन है, यही परम अवलम्बन है, इसी अवलम्बनको जानकर साधक ब्रह्मलोकमें पूजित हो सकता है।

पुराकालमें ओंकार और अथ शब्द ये दो ब्रह्माका कण्ठ भेद करके निकले थे, इस कारण वे मङ्गलार्थक हैं।

जो ब्राह्मण ओंकारको पितृरूपसे और गायत्रीको मातृरूपसे नहीं जानता है उसका हीनजन्म समझना चाहिये।

देही आत्माको पूर्वारणि और प्रणवको उत्तरारणि करके ध्यानरूप मथनीके अभ्याससे गूढ़ पुरुष परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। प्रणव धनु है, जीवात्मा शर है, परमात्मा लक्ष्य है, शरकी तरह तन्मय होकर अप्रमत्तचित्तसे लक्ष्यभेद करना चाहिये।

इस प्रकारसे ओंकारकी अलौकिक महिमा होनेके कारण प्रणव, अनन्त, तार आदि विशेष संज्ञा ओंकारको दी जाती है यथा शिवाथर्वशीर्षोपनिषद्में—

अथ कस्मादुच्यते ओंकारः यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामयति तस्मादुच्यते ओंकारः।

अथ कस्मादुच्यते प्रणवः यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसं ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणमयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः।

अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापी यस्मादुच्चार्यमाण एव यथा स्नेहेन पललपिण्डमिव शांतरूपमोतप्रोतमनुप्राप्तो व्यतिषक्तश्च तस्मादुच्यते सर्वव्यापी।

अथ कस्मादुच्यतेऽनन्तः यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽनन्तः।

अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मव्याधिजरामरणसंसारमहाभयात्तारयति त्रायते च तस्मादुच्यते तारम्।

अथ कस्मादुच्यते शुक्लं यस्मादुच्चार्यमाण एव क्लन्दते क्लामयति च तस्मादुच्यते शुक्लम्।

अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधितिष्ठति सर्वाणि चाङ्गान्यभिमृश्यति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम्।

अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं यस्मादुच्चार्यमाण एव व्यक्ते महति तमसि द्योतयति तस्मादुच्यते वैद्युतम्।

अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मात् परमपरं परायणं च बृहद् बृहत्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म।

ओंकार क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही प्राणोंको ऊपरकी ओर आकर्षण करता है इसलिये ओंकार कहते हैं।

प्रणव क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही ऋग्यजुरादि वेद ब्राह्मणोंसे प्रणाम तथा स्वीकारको प्राप्त होता है इसलिये प्रणव कहते हैं।

सर्वव्यापी क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही तिलचूर्णमें तेलकी तरह शान्तरूप होकर जगत्में ओतप्रोत्र तथा परिव्याप्त हो जाता है इसलिये सर्वव्यापी कहते हैं।

अनन्त क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही ऊर्द्ध्व अध आस पास कहीं अन्त नहीं मिलता है इसलिये अनन्त कहते हैं।

तार क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही गर्भ जन्म, व्याधि, जरा, मृत्यु आदि संसार सागरके महाभयसे तारता है इसलिये तार कहते हैं।

शुक्ल क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही हृदयको आर्द्र करके संसारके प्रति ग्लानि उत्पन्न करता है और शुद्ध पवित्र निर्विकार स्वरूप बना देता है इसलिये शुक्ल कहते हैं।

सूक्ष्म क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही सूक्ष्मरूप होकर शरीरोंमें स्थित हो जाता है और सकल अङ्गोंका स्पर्श करता है इसलिये सूक्ष्म कहते हैं।

वैद्युत क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे ही व्यक्त महान् अन्धकारमें बिजलीके समान प्रकाश करता है इसलिये वैद्युत कहते हैं।

परब्रह्म क्यों कहते हैं? उच्चारणमात्रसे अपनी महत्ताके द्वारा पर अपर ब्रह्मभावको परिपुष्ट कर देता है इसलिये परब्रह्म कहते हैं।

इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें महान् ओंकारके विविध नामोंकी अति गूढ़ रहस्यमय आलौकिक सार्थकता बताई गई है, जिसपर विचार तथा मनन करनेसे और उपासना द्वारा जिसका अनुभव करनेसे साधक निःसन्देह संसारसिन्धु सन्तरण कर सकता है।

अब अन्तमें शिवरूप प्रणवकी सर्वव्यापकता तथा सकलकल्याणकारिता सूचक श्रीभगवान् शंकराचार्यकृत एक मधुर गम्भीर स्तोत्र देकर इस प्रबन्धको समाप्त किया जाता है।

ओंकारे आदिरूपे सुकृतिबहुविधे श्वेतपीते च कृष्णे,
नीले रक्ते कपोते तदुपरि रहिते सर्ववर्णे विवर्णे।
प्राणापाने समाने विपरितकरणे व्यानउद्यानपीठे,
एको व्यापी शिवोऽयमिति वदति हरिर्नास्ति देवो द्वितीयः॥

पाताले चान्तरिक्षे दशदिशि गगने सप्तशैले समुद्रे,
भूतौ काष्ठे च लोष्ठे क्षितिजलपवने स्थावरे जङ्गमे वा।
बीजं सर्वौषधीनामसुरसुरपतौ पुष्पपत्रे तृणाग्रे,
एको व्यापी शिवोऽयमिति वदति हरिर्नास्ति देवो द्वितीयः ॥

शब्दे स्वादे च नादे रविशशिभुवने तारके भादिरूपे,
कामे क्रोधे विरोधे विदितहितजने हास्यक्रीडाविनोदे।
जाग्रत्स्वप्ने सुषुप्तौ सत्त्वरजतमसे सर्वधर्मे तुरीये,
एको व्यापी शिवोऽयमिति वदति हरिर्नास्ति देवो द्वितीयः ॥

शीते चोष्णे च सौम्ये भयभ्रमगहने पुण्यपापे विकारे,
द्वेषे रागे विरागे विकृतबहुगुणे कालरूपे विकाले।
सौख्ये दुःखे त्वमेको स्फुरति मनमये सर्वशुद्धे विशुद्धे,
एको व्यापी शिवोऽयमिति वदति हरिर्नास्ति देवो द्वितीयः ॥

देवे दैत्ये मुनीन्द्रे ग्रहणविषये सिद्धगन्धर्वयज्ञे,
योगे भोगे वियोगे प्रगुणितगुणिते बालवृद्धे च यूनि ॥

वेदे शास्त्रे पुराणे बुधजनजठरे न्यायतर्के मिमांसे,
एको व्यापी शिवोऽयमिति वदति हरिर्नास्ति देवो द्वितीयः ॥

स्थूले सूक्ष्मे समाने चलितदृटमते योगयुक्ते प्रसिद्धे,
मन्त्रे तन्त्रे प्रकारे षडुरतिरचने सन्धिभेदेऽभिचारे।
धूर्ते शान्ते विचारे प्रहसितविमने भूतके वीतरागे,
एको व्यापी शिवोऽयमिति वदति हरिर्नास्ति देवो द्वितीयः ॥

वृत्ते तीर्थे सुयज्ञे जपतपनियमे स्नानदाने विधाने,
कर्माकर्मे कृतान्ते बहुमतविमते ज्योतिरूपे कपाले।
कर्मे कीटे पतङ्गे पशुजनमशके ह्यन्तरात्मे निरात्मे,
एको व्यापी शिवोऽयमिति वदति हरिर्नास्ति देवो द्वितीयः ॥

ज्ञाने ध्याने प्रवीणे प्रभवितपरमे नास्तिरूपे चकारे,
ब्रह्मे विष्णो च रुद्रे अकुलकुलमये विश्वरूपे अतीते।

मन्त्रे मन्त्रे उड्डीशेसुहृदहितजने सर्वविद्यागिरीये,
एको व्यापी शिवोऽयमिति वदति हरिर्नास्ति देवो द्वितीयः ॥

यत्ने यज्ञे सुरक्षे मृदुमयकठिने वज्रसारे असारे,
धूम्रे दीप्ते च ज्वाले असितद्युतिमये कौस्तुभे पारिजाते ।
युद्धे बोधेषु शास्त्रे अहितहितजये उग्रतेजो विशाले,
एको व्यापी शिवोऽयमिति वदति हरिर्नास्ति देवो द्वितीयः॥

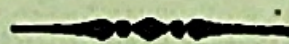
ध्यानाध्याने विधाने जयविजयकरे भावाभावे विभावे,
रामारामे अमृतविषमये लुब्धचेदि अलुब्धे ।
स्वर्गे नर्के असितजनभये चेतचेते अचेते,
एको व्यापी शिवोऽयमिति वदति हरिर्नास्ति देवो द्वितीयः ॥

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

सप्तमकाण्डकी षष्ठ शाखा समाप्त हुई ।

श्रीधर्मकल्पद्रुमका नित्यनैमित्तिकाचार वणन नामक
सप्तम काण्ड समाप्त हुआ ।

श्रीधर्मकल्पद्रुमका सप्त खण्ड समाप्त हुआ ।



मुद्रक—आनन्दकानन प्रेस, सी-के० ३६/२० ढुण्ढिराज, वाराणसी–२२१००१